लक्ष्मीनारायण मिश्र
रचनावली
सं० डॉ० विश्वनाथ प्रसाद
R
0-81
115

पं. लक्ष्मीनारायण मिश्र

पं. लक्ष्मीनारायण मिश्र ने सबसे पहले 'अन्तर्जगत्' लिख कर अपने को एक कवि के रूप में प्रतिष्ठित किया। फिर प्रबन्धात्मक कृति 'कालजयी' लिख कर एक श्रेष्ठ प्रबन्धकार के रूप में अपनी पहचान बनाई। 'अन्तर्जगत्' में छायावादी व्यक्ति चेतना, अन्तर्मुखता, भावुकता, अलौकिक प्रेम, वेदना और दार्शनिकता है तो 'कालजयी' में कर्ण के चरित्र की पुनर्प्रतिष्ठा, महाभारत की घटनाओं और चरित्रों में नये धरातल पर जीवन मूल्यों की खोज, नाटकीयता, अप्रस्तुतों का जीवन्त विधान, संवादों की सजीवता, पौरुष और विवेक की प्रतिष्ठा है। मिश्र जी का प्रबन्धात्मक शिल्प संस्कृत के महाकवियों के समानान्तर विकसित हुआ है।

मिश्र जी हिन्दी में समस्या नाटकों के जन्मदाता हैं। किन्तु न तो उनका बुद्धिवाद पाश्चात्य ढंग का है और न उनका शिल्प विधान। वे एक सनातन बुद्धिजीवी हैं। आधुनिक समस्याओं के बीच प्रेम, त्याग, स्त्री-पुरुष सम्बन्ध आदि के प्रति उनका भारतीय दृष्टिकोण है। सामाजिक समस्याओं को उभारने के लिए उन्होंने समस्या नाटकों में यथार्थ चरित्रों की उद्भावना की है। उनका लक्ष्य किसी के पाप-पुण्य का विवेचन नहीं है। वे समस्या को सामने रखकर थोड़ा सा संकेत मात्र कर देते हैं।

मिश्र जी के ऐतिहासिक और सांस्कृतिक नाटकों का आधार संवेदना, परम्परा का आग्रह और सांस्कृतिक मूल्य है। विभिन्न भावों के अनुभव को ही वे जीव धर्म कहते हैं। उनके नाटकों में 'जातीय अहं' का उदात्त रूप है। मिश्र जी के नाटकों में आधुनिक जीवन और भारत के अतीत का महान गौरव है। इनके एकांकी घटना की त्वरा अथवा चरित्र की दीप्ति से अधिक संवेदना के तनाव, मूल्यों की कौंध और संवादों की सजीवता के कारण आकर्षक हैं। पं. लक्ष्मीनारायण मिश्र छायावादोत्तर काल के गिने चुने कवियों तथा नाटककारों में हैं। उन्होंने हिन्दी साहित्य में बुद्धिवाद का सूत्रपात किया है।

—विश्वनाथ प्रसाद

लक्ष्मीनारायण मिश्र रचनावली

(काव्य)

खण्ड : १

सम्पादक

डॉ. विश्वनाथ प्रसाद

संजय बुक सेन्टर, गोलघर, वाराणसी

पावन स्मरण

साहित्य रचना हो या विज्ञान की खोज हो – यह सब कुछ सरस्वती की साधना है जो समूचे राष्ट्र और समाज के लिए होती है। जिस राष्ट्र के पास अपना साहित्य और अपना ज्ञान–भण्डार न हो, वह विश्व में अस्तित्व विहीन है या कि मृत है। साहित्य और ज्ञान व्यक्ति का नहीं, समष्टि का होता है। आज जब मेरे पूज्य पिता पुण्य श्लोक पण्डित लक्ष्मीनारायण मिश्र की सम्पूर्ण रचनावली का प्रकाशन हिन्दी–जगत के सामने प्रस्तुत हो रहा है, तब उसके प्रसन्नता की अनुभूतियाँ हिन्दी भाषा और साहित्य के प्रेमियों को होगी ही, इस विषय में तो कुछ कहना ही नहीं है। हाँ, उस प्रसन्नता का एक कण पुत्र होने के नाते मुझे भी गर्व से आन्दोलित कर रहा है। मेरी यह प्रसन्नता भी हिन्दी–जगत को अर्पित है।

पिता जी ने हिन्दी नाटक और काव्य रचना के क्षेत्र में जो योगदान किया है, आलोचकों की दृष्टि में १९३० से अब तक के हिन्दी साहित्य के इतिहास में उस योगदान का अपना अलग अध्याय है। उनकी रचनाओं ने हिन्दी साहित्य को वाल्मीकि, व्यास, कालिदास तथा श्रीहर्ष आदि की परम्परा से अनुस्यूत कर रखा है।

पिता जी की रचनावली के ये छः खण्ड हैं। इनमें उनकी समस्त रचनाओं तथा स्फुट लेखों एवं व्याख्यानों का भी संग्रह हो गया है। उनका महनीय प्रबन्ध काव्य 'कालजयी' (सेनापति कर्ण) समग्र रूप से पहली बार रचनावली के प्रथम खण्ड में प्रकाशित हुआ है। दुःख है कि उसके अन्तिम सर्ग की रचना पूर्ण न हो सकी।

पं. लक्ष्मीनारायण मिश्र और उनकी विशिष्ट नाट्य एवं काव्य रचनायें हिन्दी साहित्य का युगान्तर बन चुकी हैं जो प्रेरणा और प्रयास में परवर्ती रचनाकारों में समाहित है। कम से कम आज के हिन्दी नाटक का रूप और शिल्प सब प्रकार से मिश्र जी का गढ़ा हुआ है। हिन्दी भाषा और भारतीय साहित्य के प्रति जिनकी निष्ठा है, वर्तमान पीढ़ी के रचनाकार और आलोचक मिश्र जी की रचनावली को एकत्र अध्ययन के लिए सुलभ पाकर लाभान्वित होंगे। वे हिन्दी के विगत अर्द्धशती के इतिहास को पलटेंगे तो पता चलेगा कि किस प्रकार विदेशी साहित्य के मोह के झंझावात में भी अडिग रह कर मिश्र जी ने हिमालय और विन्ध्याचल, गंगा तथा कावेरी की भूमि का साहित्य लिखा है और इनके साहित्य में आदिकाल से लेकर गाँधी जी की हत्या ('नारद की वीणा' और 'मृत्युंजय') तक समाहित है। नाटक के जन्मदाता एवं महाकवि के अतिरिक्त मिश्र जी अप्रतिम स्वतंत्रता संग्राम सेनानी थे। १९४३ में भारतीय रक्षा अधिनियम के अन्तर्गत राजबन्दी होकर इन्होंने कठोर जेल यातना भोगी। स्वतंत्रता पश्चात् शासन के आग्रह के बाद भी इन्होंने राजनीति पेंशन यह कह कर अस्वीकार कर दिया कि 'माँ की सेवा के लिए पेंशन कैसी ?' स्वतंत्रता संग्राम में पूरे हिन्दी जगत से राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त एवं मिश्र जी ही राष्ट्रयज्ञ के होता बने, अन्य कोई लेखक कवि नहीं।

रचनावली के सम्पादक मूर्धन्य लेखक एवं कवि डॉ. विश्वनाथ प्रसाद जी के प्रति आभार व्यक्त कर मैं उनके ऋण से उऋण नहीं होना चाहता जिनके अथक परिश्रम, समर्पण एवं लगन से रचनावली हिन्दी प्रेमियों को उपलब्ध हो सकी है। साथ ही संजय बुक सेन्टर के स्वामी श्री विजय कुमार अग्रवाल तथा श्री संजय कुमार अग्रवाल को मैं धन्यवाद देता हूँ जिन्होंने बड़ी रुचि एवं निष्ठा से इसका प्रकाशन किया है। उन सज्जनों के प्रति मैं विनयावनत हूँ जिन लोगों ने बिना किसी विधिक अधिकार के इस शुभ संकल्प में विघ्न–बाधायें उपस्थित कीं।

रचनावली के ये खण्ड हिन्दी भाषा के प्रेमी पाठकों को अर्पित हैं जो देश से विदेश तक छाये हुये हैं।

– विश्वम्भरनाथ मिश्र

शारदापीठ
गुरुधाम, वाराणसी
भाद्र शुक्ल १३ श्रीसम्वत् २०५०
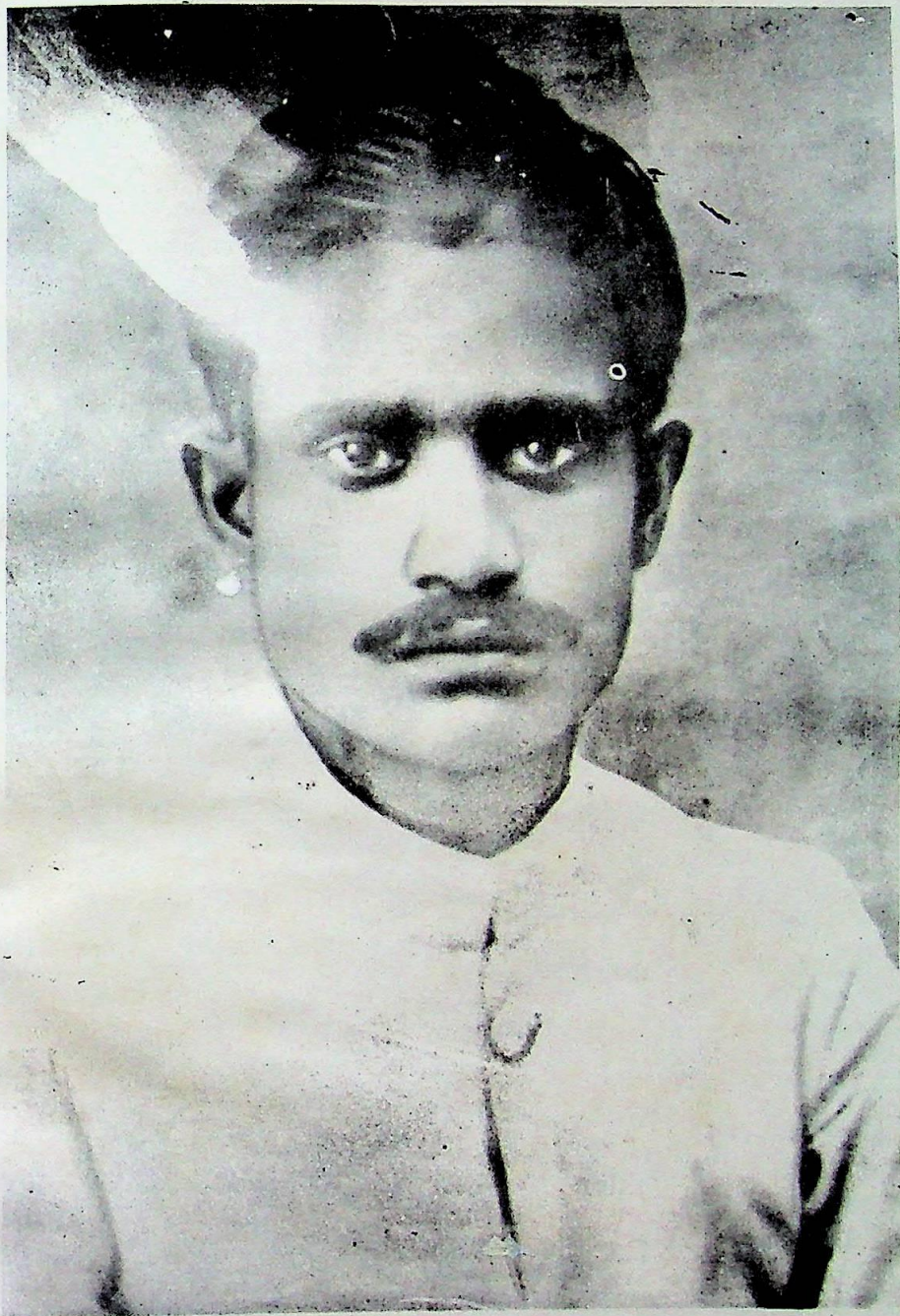
पं. लक्ष्मीनारायण मिश्र

पं. लक्ष्मीनारायण मिश्र : युवा अवस्था में

'मिश्रजी' के एकमात्र अनुज स्वर्गीय पं० गिरजाशंकर मिश्र जिनकी निर्मम हत्या २०-२१ अगस्त १९३५ में हुई।
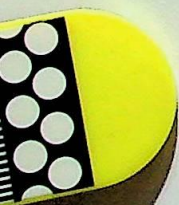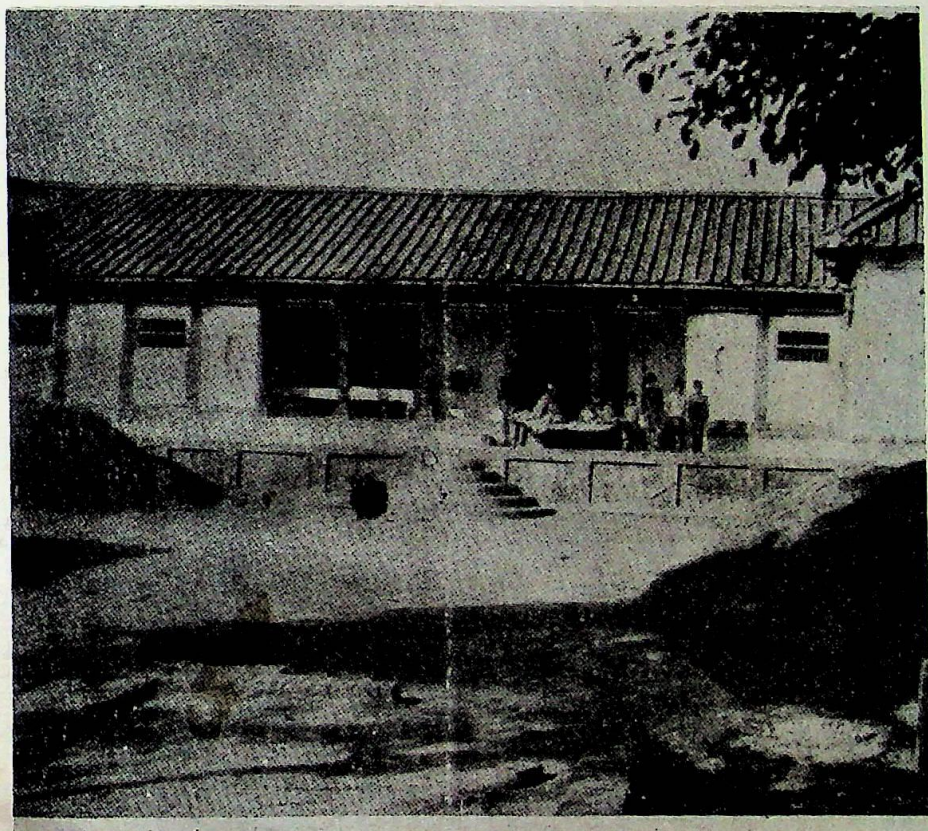
मिश्र जी का पैतृक गृह जिसमें उन्होंने जन्म लिया।

१९४३ में भारत सुरक्षा कानून १२९ के अन्तर्गत वे यहीं राजबन्दी बनाये गये।

पं० लक्ष्मीनारायण मिश्र का काव्य

कद पाँच फिट से कुछ अधिक। पतला-दुबला शरीर लेकिन स्फूर्ति ऐसी कि थामे नहीं थमती। घर की प्रत्येक वस्तु से लेकर साहित्य तक की व्यवस्था उनके मन में थी। उसे अपनी जगह से जरा सा भी हटा हुआ पाया कि बरस पड़े। ढली हुई उम्र में भी वाराणसी से आजमगढ़ अपने गाँव में जाते तो घर के लोग थर-थर काँपते थे। न जाने कौन सी बात उन्हें उद्विग्न कर देगी। यही हाल साहित्य में भी था। वे निरन्तर कहते रहे कि उनके काव्य 'अन्तर्जगत्' से छायावाद का प्रवर्तन हुआ। छात्र जीवन में 'अन्तर्जगत्' के छन्दों को उन्होंने लिख लिया था। उसी को प्रसाद जी ने देखकर 'आँसू' के छन्दों की रचना की। लेकिन समीक्षक उनकी बात टाल जाते थे। बाद में स्वयं मिश्र जी ने छायावाद की अतीन्द्रियता, काल्पनिकता, वेदनानुभूति और सूक्ष्मता को अस्वीकार कर दिया। 'कालजयी' जैसी प्रबन्धात्मक कृति लिखकर संस्कृत के महाकाव्यों की शैली की पुनरस्थापना करने का प्रयास किया। उनके अन्तश्चेतन में 'कामायनी' की मिथकीय परिकल्पना, व्यक्ति के मनोजगत के क्रमिक उत्थान और आज के सांस्कृतिक संक्रमण के लिए प्रसाद द्वारा प्रस्तुत किये गये समाधान के समानान्तर 'कालजयी' को प्रतिष्ठित करने का संकल्प था। प्रसाद ने एक मिथक की पुनर्रचना की तो मिश्र जी ने कर्ण जैसे चरित्र की पुनर्सृष्टि की। प्रसाद ने मानव की क्रमिक अन्तर्यात्रा का उद्घाटन किया तो मिश्र जी ने पुरुष के जीवन मूल्य, लौकि एषणा, आवेग, पौरुष और विवेक को अपने प्रबन्ध के विभिन्न प्रसंगो में समायोजित करते हुये धर्म-अर्थ-काम और मोक्ष को प्रासंगिक बनाने का प्रयास किया। प्रसाद ने बौद्धिकता से अधिक मूल्यवान भावना को बनाना चाहा तो मिश्र जी ने व्यक्ति के पौरुष और पराक्रम को ही सर्वश्रेष्ठ माना। प्रसाद की वायवीय और अमूर्त कल्पनाओं के समानान्तर मिश्र जी ने प्रस्तुत का भरपूर मूर्तन करते हुये मूर्त अप्रस्तुतों की लड़ी लगा दी है। 'कामायनी' में आये संवादों से होड़ लेते हुये मिश्र जी ने 'कालजयी' को नाट्य तत्वों से भर दिया है। मिश्र जी के मन में 'आँसू' के समानान्तर 'अन्तर्जगत्' और 'कामायनी' के समानान्तर 'कालजयी' को हिन्दी काव्य में प्रतिष्ठित करने की कामना कहीं-न-कहीं थी। इसीलिए वे प्रसाद के 'आँसू' और 'कामायनी' पर भी अपने भाषणों में भरपूर प्रहार करते थे। आजमगढ़ और काशी के लोग तो मिश्र जी को बार-बार सुनकर जानते रहते थे कि मिश्रजी अपने व्याख्यान में कहीं न कहीं प्रसाद जी पर प्रहार करेंगे।

मिश्र जी ने मन में 'अस्वीकार' बहुत गहरे पैठा हुआ था। शायद यह उनके जीवन-संघर्षों से उपजा था। वे अपने किसी समकालीन को जल्दी स्वीकार नहीं कर पाते थे। गाँधी के अलावा अपने समय के अन्य नेताओं को स्वीकार नहीं किया। अपने समय के किसी भी पुरानी या नयी प्रवृत्ति के रचनाकार को वे नहीं स्वीकार कर पाते थे। नयी विचारधारायें उनसे टकराकर नया रूप लेने लगती

थीं। मिश्र जी के इस 'अस्वीकार' ने ही उन्हें एक बड़ा रचनाकार बना दिया। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने कहा कि मिश्र जी ने बर्नार्ड शॉ और इब्शन से प्रभावित होकर समस्या मूलक नाटक लिखे हैं तो मिश्र जी बाद में ऐतिहासिक और सांस्कृतिक नाटक लिखने लगे। पाश्चात्य नाटककारों में सर्वश्रेष्ठ शेक्शपियर के नाटकों में प्रदर्शित हत्याओं का सीधा प्रभाव जयशंकर प्रसाद के नाटकों में प्रदर्शित हत्याओं पर दिखाने लगे। वे इस अति तक पहुँच गये कि शेक्शपियर को पढ़ाने का ही कुपरिणाम महात्मा गाँधी की हत्या मानने लगे। छायावाद का आरम्भकर्ता अपने को मानते हुए भी छायावादी प्रवृत्ति के विपरीत 'कालजयी' की रचना इसी अस्वीकार की फलश्रुति है। अपनी इसी प्रवृत्ति के कारण 'छायावाद के उत्कर्ष काल सन् १९२९ में 'संन्यासी' की भूमिका में मिश्रजी ने लिखा कि साहित्य को राजनीति से अलग नहीं किया जा सकता है।

मिश्रजी बुद्धिवादी थे, लेकिन वह बुद्धिवाद पाश्चात्य ढंग का नहीं था कि तर्क और विश्लेषण से किसी निष्कर्ष पर पहुँचा जाय। मिश्रजी के अनुसार बुद्धिवाद स्वतः अनन्त विश्वास है। उनके अनुसार बुद्धिवादी भ्रम और मिथ्या को तोड़ता है। बुद्धिवाद को अनन्त विश्वास मानने के कारण मिश्रजी पाश्चात्य परम्परा के बुद्धिवादी हो ही नहीं सकते थे। वे अपने 'अनन्त विश्वास' को सिद्ध करने के लिए तर्क करते थे। उनका 'अनन्त विश्वास' परम्परा के अनुसार प्रवृत्त होता था। वे इस युग में भी 'धर्मार्थकाममोक्ष' जैसे पुरुषार्थ चतुष्ठय की बात करते थे। केवल धर्म और मोक्ष को ही नहीं अर्थ और काम को भी वे देही का भोग मानते थे। इसीलिए उनका बुद्धिवाद वैज्ञानिक यथार्थ की ओर प्रवृत्त नहीं हुआ। वे अन्तरात्मा और ईश्वर में विश्वास करते हुए भी आडम्बर और कर्मकाण्ड से दूर थे। उन्होंने जीवन में 'काम' या 'रति' को भी महत्वपूर्ण माना है। आत्मा की सच्चाई और मस्तिष्क के तर्कों पर आधारित होने के कारण उनका बुद्धिवाद आर्थिक द्वन्द्व की बात नहीं करता है। वे काम-अर्थ तथा धर्म-मोक्ष के बीच के द्वन्द्व का समाधान खोजते हैं। इसीलिए वे कोरे बुद्धिवादी नहीं बल्कि एक सनातनी बुद्धिवादी हैं- ऐसा बुद्धिवादी जो सनातन धर्म के अनुसार जीवन की व्याख्या करता हुआ भी कुछ अपनी ओर से भी मिला देता है। उनकी यह सबसे बड़े उपलब्धि है कि वे छायावादी प्रवृत्ति के उन्नायकों में होते हुए भी वे हिन्दी में पाश्चात्य ढंग से बुद्धिवाद को प्रतिष्ठित करने वाले प्रथम पुरुष हैं।

अन्तर्जगत्

लक्ष्मीनारायण मिश्र के साथ एक सबसे बड़ा अन्याय यह हुआ है कि किसी भी समीक्षक और साहित्येतिहासकार ने मजे में उनके कवि रूप की चर्चा नहीं की है। उन पर लिखे गये शोध-प्रबन्धों में भी उनका काव्य विश्लेषित नहीं हो पाया है। उन्होंने 'अन्तर्जगत्' की कविताओं के द्वारा हिन्दी में प्रवेश किया। 'अन्तर्जगत्' का प्रथम संस्करण विद्यापति प्रेस, लहेरिया सराय से संवत् १९८१ वि० (सन् १९२४) में हुआ था। दूसरा संस्करण पुस्तक भंडार लहेरिया सराय, बिहार से

संवत् १९९५ वि० (सन् १९३८) में हुआ। उस समय लक्ष्मीनारायण मिश्र के साथ 'श्याम' उपनाम भी लिखा जाता था। मिश्रजी कहा करते थे कि सन् १९२४ से पूर्व ही 'अन्तर्जगत्' लिख लिया गया था। उसके छन्द किसी तरह से प्रसाद जी तक पहुँच गये और उसकी अन्तर्मुखता का प्रभाव 'आँसू' पर पड़ा। मिश्रजी अपने जीवन-काल में यह बार-बार कहते रहे लेकिन यह दावा किसी समीक्षक ने स्वीकार नहीं किया। लेकिन दो बातें तो प्रमाणित हैं- एक यह कि 'अन्तर्जगत्' ने छायावादी व्यक्ति चेतना, अन्तर्मुखता, भावुकता, अलौकिक प्रेम, वेदना, दार्शनिकता आदि को प्रतिष्ठित किया। दूसरी बात यह कि मिश्रजी ने अपने 'श्याम' उपनाम के साथ छायावादी प्रवृत्ति का त्याग चार-पाँच वर्ष पश्चात् १९२९ में 'संन्यासी' के प्रकाशन के साथ ही कर दिया।

'अन्तर्जगत्' में पहले कुल १०० छन्द थे। बाद में दूसरे संस्करण के अन्त में स्वयं मिश्रजी ने अपनी हस्तलिपि में लिखकर एक छन्द और बढ़ा दिया। इसलिए यहाँ 'अन्तर्जगत्' में १०१ छन्द हैं। इस छन्द में कवि ने परमात्म सत्ता से अपनी अन्तरात्मा के मिलन की कामना की है। कवि अपने मिलन को 'उत्सर्ग' की संज्ञा देता है। इस तरह से मिश्रजी ने इस काव्य का पर्यवसान रहस्यवाद में कर दिया है। 'अन्तर्जगत्' के १००वें छन्द में कवि ने कहा है कि उसके मानस में विश्व वेदना है। वह अपने दुख को विश्व वेदना के समकक्ष बताता है। पहले 'अन्तर्जगत्' की समाप्ति 'विश्ववेदना' और 'अनादि रुदन' में हुई थी और बाद में वह अपने मिलन की कामना करता है। इसे वह 'उत्सर्ग' कहता है। उसके मन में 'जीवन की ममता' भी है। इस काव्य को मिश्रजी ने विश्व विधायक को समर्पित किया था और पहले छन्द में अपने नाथ का अन्तर्जीवन में अनुभव किया था। उसने शोक सागर के तट पर लहरों का अनुभव किया था। इस तरह से समर्पण और प्रथम छन्द दोनों में कवि की स्वानुभूत विरह वेदना व्यक्त होती है। जयशंकर प्रसाद का 'आँसू' प्रथम संस्करण में केवल विरह का काव्य था। वेदना को एक शाश्वत चेतना और दर्शन के रूप में उन्होंने 'आँसू' के द्वितीय संस्करण में प्रतिष्ठित किया। द्वितीय संस्करण में ही 'आँसू' का सार्वभौमिक स्वरूप प्रगट हुआ था। 'आँसू' के आरम्भिक छन्दों में पहले भाव का गहरा आरोप है। फिर वेदना का दर्शन और उसका सार्वभौमिक स्वरूप निखरता है। 'आँसू' में अलम्बन का मानवीय रूप भी है और वह अव्यक्त भी है। 'अन्तर्जगत्' का आलम्बन आरम्भ से ही अव्यक्त और सार्वभौमिक है। 'आँसू' के उत्तरार्ध में कवि की स्वानुभूति व्यापकता की ओर अग्रसर होती हुई उच्च अवस्था को प्राप्त होती है, किन्तु 'अन्तर्जगत्' के कवि की स्वानुभूति आरम्भ से ही व्यापक तथा सार्वभौमिक है। वह दूसरे छन्द में भी व्यक्त आश्रय तथा अव्यक्त आलम्बन के बीच की विषमता को समाप्त कर देने के लिए व्यग्र है। कवि की वेदना प्रथम छन्द में ही प्रगट हुई है, लेकिन चौथे छन्द में कवि मानव की करुणा के मार्ग पर चलना चाहता है। कवि की वेदना मानव की करुणा और नियति के संगति से एकाकार है। 'अन्तर्जगत्' की आरम्भिक पंक्तियों से ही कवि ने वेदना का

उदात्तीकरण कर दिया है। वह उसके अन्तर्जगत् की वेदना नहीं है बल्कि वह एक अनुभव है जो 'आसक्ति रहित' है, लेकिन वह 'नियति ज्योति' को घेरे हुये है। कवि का मधुर प्रेम 'अतिविक्षुब्ध' और असीम है। दु:ख में करुणा के समान है। विस्मृति में प्रेमी के चुम्बन के समान मधुर है। उसमें नित्य मधुरिमा शोभा पाती है। (छं० सं० १८)। प्रसाद ने 'आँसू' में वेदना को दार्शनिक रूप दिया है और लक्ष्मीनारायण मिश्र ने उसे भावात्मक बनाया है।

प्रसाद ऐन्द्रियता से अतीन्द्रियता की ओर अग्रसर हुये हैं और लक्ष्मीनारायण मिश्र आरम्भ से ही भावावेग से भरे हुये अतीन्द्रिय प्रेम की बात करते हैं। इसीलिए 'आँसू' के उत्तरार्ध में प्रस्तुत और अप्रस्तुत के माध्यम से मूर्तन की जो प्रवृत्ति है, वह लक्ष्मीनारायण मिश्र में बहुत विरल है। लक्ष्मीनारायण मिश्र ने जहाँ वस्तुयोजना की है, वहाँ उनका प्रस्तुत अथवा अप्रस्तुत विराट रूप धारण करके उभरता है। चौदहवें छन्द में नियति विराट रूप में मूर्तित होती है। जीवन और सागर की एकरूपता स्थापित करते हुये कवि ने पचीसवें छन्द में एक विराट सकारात्म बिम्ब की योजना की है। छत्तीसवें छन्द में पुन: जीवन सागर, अड़तीसवें में असीम तम के मन्दिर, चालीसवें में आनंदसागर, छियालीसवें में सर्वनाश के निविड़ तिमिर, पचासवें में अनुरक्ति तंत्रि, बहत्तरवें में प्रेम सिन्धु, पचहत्तरवें में अमर वेदना, अठहत्तरवें में विरोध सिन्धु, चौरासीवें में प्रेम के घन और सौवें छन्द में विश्ववेदना का विराट बिम्ब कवि ने उभारा है। लक्ष्मीनारायण मिश्र के अप्रसुत विधान में प्रसाद के समान बैबिध्य नहीं है। अप्रस्तुत के रूप में सागर बार-बार प्रयुक्त हुआ है। कहीं-कहीं अत्यन्त परिचित किन्तु अछूते अप्रस्तुत विधान अर्थ को व्यंजित करने में बहुत सहायक हैं- 'मेरे कोमल मन को तुमने, क्रीड़ा कन्दुक अपना बना दिया मेरी आशा को प्रबल पतन का सपना।' (छं० ७४)। एक स्थल पर प्रसाद का वस्तु-चयन स्मरण हो जाता है- 'वारिद के चपला, मानस में सुन्दर प्रतिमा जैसे; शब्दों में संगीत, मृत्यु में सुख व्यापक है वैसे।' मिश्र जी ने अपने बिम्बों को दुहराया है। अप्रस्तुत के रूप में सागर बार-बार आया है। 'आँसू' के पूर्वार्द्ध के बिम्ब ऐन्द्रिय अनुभवों को बड़े भावात्मक ढंग से सम्प्रेषित करते हुये अर्थ की भी गहरी व्यंजना करते हैं। 'अन्तर्जगत्' में वेदना-करुणा, जीवन-मृत्यु, नियति-स्वानुभूति, अव्यक्त प्रिय और जगत की बात कई बार कवि ने की है। किन्तु 'आँसू' के समान वेदना को सुचिन्तित दार्शनिक आधार 'अन्तर्जगत्' में नहीं मिल पाया है। लक्ष्मीनारायण मिश्र अपनी वेदना को विराट बनाने का प्रयास करते हैं, किन्तु प्रसाद के समान उनकी वेदना सार्वभौमिक नहीं बन पाती है। मिश्रजी की वेदना विश्व की करुणा से एकाकार होना चाहती है, उसमें एक सीमा तक प्रसार भी है, फिर भी वह प्रसाद के समान सम्प्रेषित नहीं हो पाती है। प्रसाद का 'आँसू' रवीन्द्र या किसी अन्य के प्रभाव से मुक्त है, किन्तु, 'अन्तर्जगत्' में ऐसे स्थल खोजे जा सकते हैं। लेकिन यह सत्य है कि 'अन्तर्जगत्' का वास्तविक मूल्यांकन नहीं हुआ। अलौकिक प्रेम में वेदना की प्राप्ति, वेदना को अमर और सुखात्मक भाव के रूप में मानना, करुणा के व्यापक प्रसार में असीमता का अनुभव करना,

दुख के अनुभव में भी जन्म-जन्म की मादकता का बोध, बाह्य जगत से परांगमुख होकर अन्तर्जगत् की ओर उन्मुख होना, अतीत का बन्धन, कल्पना की प्रधानता, अनन्त की ओर प्रस्थान, स्वप्न लोक में विचरण, अन्तर में उठते हुये अनादि संगीत के आनन्द और दुख से प्रेरित होकर अनन्त के समक्ष आत्म-समर्पण आदि स्थितियाँ ऐसी हैं जो 'अन्तर्जगत्' को छायावादी प्रवृत्ति के उन्नायक के रूप में प्रतिष्ठित करती हैं।

कालजयी

'कालजयी' वीर रस प्रधान काव्य है। लक्ष्मीनारायण मिश्र इसे महाकाव्य कहते थे। वैसे महाकाव्य जैसी जीवन के अनुभवों की व्यापकता, अनुभूति की सघनता, प्रभावशालिनी अप्रस्तुत योजना, महाभारत कालीन जीवन मूल्यों की व्याख्या तथा शिल्प का उत्कर्ष 'कालजयी' में है। नाटकीय विधान सर्वत्र है। कमी केवल इतनी है कि यह प्रबन्ध-काव्य अधूरा रह गया। इसीलिए महाकाव्योचित जीवन का व्यापक फलक इस कृति में नहीं उभर पाया है। मिश्रजी अपने जीवन के अन्तिम दिनों में बहुत दुखी रहते थे कि 'कालजयी' अधूरा रह गया। वे कविता को ईश्वरीय देन मानते थे। उनका दृढ़ विश्वास था कि ईश्वरीय प्रेरणा के अभाव में काव्य की रचना नहीं हो सकती है। इसलिए वे मान लेते थे कि ईश्वर की इच्छा नहीं है कि यह काव्य पूरा हो सके।

मिश्र जी ने सन् १९३३ में अपने छोटे भाई के आग्रह पर 'सेनापति कर्ण' को लिखना आरम्भ किया था। १९३५ तक इसके डेढ़-दो सर्ग लिखे गये, तभी मिश्रजी के उस छोटे भाई की हत्या हो गई। इस भयंकर घटना से मिश्र जी मर्माहत हुये। 'सेनापति कर्ण' रुक गया। मिश्र जी भी अस्वस्थ हो गये। फिर १९३९ में इस काव्य को आरम्भ किया। पारिवारिक दुर्घटना से यह काव्य फिर रुक गया। स्वतंत्रता आन्दोलन के समय १९४३ में इन्हें शत्रुचर मानकर इन पर डी० आई० आर० लगा कर बन्दी बना लिया गया। उस समय 'सेनापति कर्ण' की पाण्डुलिपि इनके साथ थी। मिश्र जी के मन में यह बैठ गया कि इस प्रबन्ध-काव्य में जब भी हाथ लगाया जायेगा, कोई न कोई पारिवारिक दुर्घटना घट जायेगी। अन्त में महात्मा गाँधी की हत्या हुई। मिश्रजी ने सोचा कि शेक्सपियर आदि विदेशी साहित्यकारों के साहित्य में हत्या तथा इसी प्रकार के अन्य क्रूर कर्म हैं। उन्हीं को पढ़ने से भारतवर्ष की युवा पीढ़ी ऐसा रक्तपात कर रही है। वे इतने मर्माहत हुये कि अपने वीर काव्य में भी उनका मन प्रवृत्त न हो सका। १९५८ में 'सेनापति कर्ण' नाम से इस के पाँच सर्ग किताब महल, इलाहाबाद से प्रकाशित हुये। पाँचों सर्गों का नामकरण कवि ने किया था- मंत्रणा, चिन्ता, सृष्टि धर्म, विषाद तथा अर्घ्यदान। सन् १९७६ में साहित्य भवन प्रा० लि०, इलाहाबाद से इस प्रबन्ध काव्य के आगे का अंश 'वीरगति' नाम से प्रकाशित हुआ। इस प्रकाशक से मिश्रजी का अनुबन्ध भी हुआ कि इस काव्य को वे नियमित रूप से लेखन करके पूरा कर देंगे, बदले में उनको प्रत्येक मास धन भी दिया जायेगा। लेकिन

इस अनुबन्ध में बँधने के बाद भी काव्य पूरा न हो सका। मिश्र जी ने 'सेनापति कर्ण' के प्रकाशन के बाद निश्चय किया कि इस प्रबन्ध काव्य का नाम 'कालजयी' रहेगा। इसके कुल आठ सर्ग तो पूरे हैं। नवाँ सर्ग अधूरा है।

इस काव्य में वीररस की उद्भावना, पात्रों के चरित्र का विश्लेषण और नाटकीयता विशेष रूप से उल्लेखनीय है। काव्य में विचारों को भी स्थान-स्थान पर प्रगट किया गया है। राजनीति, कूटनीति, न्याय, दुर्नीति, वीरता, कर्म, नियति, काल आदि पर कवि ने अपने विचार प्रगट किये हैं। इसकी वस्तु-योजना में कुछ ऐसे प्रसंगों में कवि अधिक रमा है जो अभी तक हिन्दी काव्य में अचर्चित थे। घटोत्कच और हिडिम्बा का प्रसंग कवि की मौलिक उद्भावना है। इसी तरह से भीम और कृतवर्मा का युद्ध, भीम और दुश्शासन का युद्ध तथा दुश्शासन बध प्रसंग को कवि ने अपनी प्रतिभा से आकर्षक बनाया है। भीम के रुदन के अतिरिक्त अन्य प्रसंग वीर रस के हैं। भीम का रुदन करुणा का प्रसंग है। दुश्शासन तथा वासन्ती का दाम्पत्य प्रेम श्रृंगार रस का प्रसंग है। यह भी हिन्दी काव्य के लिए एकदम नवीन प्रसंग है। रसों का स्फुरण जिन प्रसंगों में हुआ है, वहाँ मानव मन के सन्दर्भ खुलते हैं। मिश्र जी आवेग के कवि हैं। क्रोध, भय और वीरता के प्रसंगों में वे अधिक रमे हैं। वैसे वीरता उनका प्रिय विषय है। वीरता का अनुबन्धन क्रोध और भय दोनों के साथ है। क्रोध वीरता को प्रेरित करता है। कायर भयभीत होते हैं। इस वीरता का परिणाम जुगुप्सा भी होती है। युद्ध के बाद युद्ध का क्षेत्र जुगुप्सित हो जाता है। युद्ध का परिणाम करुणा भी है। इस तरह से वीर रस से जुड़ी हुई अन्य मनोदशाओं के सन्दर्भ में भी कवि ने व्यक्ति और समाज को देखना चाहा है।

रस योजना के अतिरिक्त वस्तुओं का सजीव-वर्णन भी इस काव्य की विशेषता है। सेनाओं के वर्णन, युद्ध का वर्णन, परस्पर घात-प्रतिघात, क्षत-विक्षत शव, चीत्कार, वीरों का दर्प, तुमुल नाद, वीरों की चेष्टाओं, युद्ध के गज-वाजि की चेष्टाओं, रथ की गति आदि का चित्रविधान भी इस काव्य का वैशिष्ट्य है। इतना सजीव चित्रण हिन्दी के किसी अन्य वीर रस प्रधान प्रबन्ध-काव्य में नहीं हुआ है। नाटकीय विधान, चित्रात्मकता, रस-योजना और अप्रस्तुत विधान के बीच कथा का प्रवाह दब जाता है। कहीं-कहीं कथानक में अन्तराल मालूम होने लगता है। प्रत्येक सर्ग के आरम्भ में कवि का कुछ कथन है। इससे भी कथानक की गति ठहर सी जाती है। कवि के ये कथन या तो काव्य के सम्बन्ध में हैं या प्राकृतिक पृष्ठभूमि अंकित की गई है अथवा कोई जीवन मूल्य कहा गया है।

'कालजयी' के प्रथम सर्ग का आरम्भ व्यास की वन्दना से होता है। कवि वाल्मीकि, कालिदास, माघ और भारवि का स्मरण करता है। वह सरस्वती से प्रार्थना करता है। द्वितीय सर्ग के आरम्भ में शुक्ल पक्ष की त्रयोदशी की रात्रि का भावात्मक चित्रविधान है। कवि श्रीकृष्ण और राम दोनों का सन्दर्भ निकाल कर स्मरण करता है। फिर कल्पना को सम्बोधित करता है। भारवि, भवभूति और कालिदास फिर याद आते हैं। माघ ने रैवतक पर्वत पर श्रीकृष्ण का जो रूप देखा था, कवि उसका स्मरण करता है। लगातार दो सर्गों में संस्कृत के इन महाकवियों का स्मरण करने का कारण है कि लक्ष्मीनारायण मिश्र छायावादियों की वायवीयता के विरोधी थे। फिर भी वे कल्पना को ही कवि धर्म की उद्भाविका

मानते हैं- 'कल्पने री, कौन कवि होगा जीव लोक में, दिखला सके जो यह दृश्य।' (द्वितीय सर्ग) मिश्रजी अपने युग के अमूर्तन के विरोधी थे। इसलिए उनके काव्य में चित्र-विधान बहुत अधिक है। वे प्रेम को जीव-धर्म मानते हैं, लेकिन वह सन्तानोत्पत्ति का साधन है। स्वच्छन्दतावादी प्रेम को वे नहीं स्वीकार करते थे जो आध्यात्मिकता के नाम पर स्त्रैण सा लगे। मिश्रजी कवि की जीवन-साधना की फलश्रुति ओज मानते हैं-

ओजस हो कवि के मन में न डोली जो
निष्फल सदैव वह होगी कवि साधना, (द्वितीय सर्ग)

तीसरे सर्ग के आरम्भ में कामिनी निशा के रूप का श्रृंगारिक चित्रण है। मिश्रजी कहते हैं कि इस रस में भाववाले कवि ही डूबते हैं। मानस विहारिणी सरस्वती यहाँ वीणा बजाती है। उस वीणा के नाम से मानव का मानस-सरोरुह खिलता है। लोकरंजिनी धारा उसी से चल पड़ती है। वे इसे कविता की सुधा कहते हैं। इसे पान कर मर्त्य मानव मृत्युंजय बन जाता है। कवि पुनः कालिदास का स्मरण करता है।

कवि देवलोक की कल्पना करता है। रति और कामदेव का भी प्रसंग लाकर नाटकीय विधान किया गया है। लेकिन यह प्रसंग बहुत दूर तक खिंच जाता है। प्रबन्ध की कथा अपने मार्ग से भटक जाती है। लक्ष्मीनारायण मिश्र छायावादियों की कल्पनातिशयता के विरोधी थे। छायावादी कवि अमूर्त छाया चित्रों की उद्भावना करते थे। किन्तु स्वयं मिश्र जी देव-लोक की कल्पना करने लगते हैं। यह देवलोक मूर्त तो है किन्तु कोरी कल्पना पर टिका हुआ है। द्विवेदी युग से ही हरिऔध और मैथिलीशरण गुप्त पौराणिक कथाओं की अलौकिकता को हटा कर उसे लोक के अनुरूप कल्पित करके विश्वसनीय बना रहे थे और छायावाद काल में मिश्रजी छायावादियों का विरोध करते हुए मूर्त किन्तु एक ऐसे अविश्वसनीय परलोक की कल्पना करते हैं जो केवल अध्यात्म का विषय है।

चौथे सर्ग का आरम्भ भी प्रकृति वर्णन से होता है। चन्द्रमा आकाश में हँस रहा है। मयंक के अंक में अपयश की रेखा नहीं दिखाई पड़ रही है। लगता है चन्द्रमा कुरुभूमि के यश की धारा में धुल गया है। 'कल्पना के, स्वप्न के' पंख खुले हैं। नारी के रूप का कवि श्रृंगारिक वर्णन करता है-

उभरे उरोज, तने वक्ष, तनी ग्रीवा है
अधरों में लालिमा चली है किसलय की।

फिर कवि जगत की स्वप्न सिद्धि को काव्य के बन्धन में समेटना चाहता है। लेकिन असमर्थ हो रहा है। इसलिए वीणापाणि का स्मरण करता है। उन्हीं के प्रसाद से वाल्मीकि, तुलसी, कालिदास, माघ और भारवि की आँखों को ज्योति मिली थी। कवि भुक्ति और मुक्ति दोनों चाहता है। यहाँ मिश्र जी ने संस्कृत के कवियों का ही स्मरण किया है। केवल तुलसीदास अकेले हिन्दी से आ गये

हैं। इस तरह बार-बार मिश्रजी यह बताना चाहते हैं कि संस्कृत के कवि उनके आदर्श हैं। जिस प्रकार से लोक और परलोक की कामना भुक्ति और मुक्ति के रूप में संस्कृत के काव्य में है, उसी प्रकार यह कवि भी दोनों को प्राप्त करना चाहता है। लेकिन 'कालजयी' का फलक लोक-जीवन पर ही आधारित है। मुक्ति की कामना तो उसपर आरोपित कर दी गई है। यहाँ कल्पना के सम्बन्ध में कवि का दृष्टिकोण भी विचारणीय है। अगर कल्पना स्वप्न की अवस्था है तो मिश्रजी का दृष्टिकोण स्वच्छन्दतावादियों से भिन्न नहीं है। अन्तर केवल इतना है कि छायावादी कवि अमूर्तन के लिए कल्पना का उपयोग करते थे और मिश्र जी ने उससे रूप-रचना की है। पाँचवें सर्ग में फिर प्रकृति, सरस्वती और कल्पना है। शोक में निशाकर डूब रहा है। उषा का आगमन हो रहा है। हर्ष और विषाद एक साथ हैं- चन्द्रमा का डूबना और सूर्य का उदय होना। कवि को चिन्ता है कि वह सरस्वती के भावलोक में कल्पना के पंख कैसे पाये? चित्रण में जो छूटा है भावना की आँखों से उसे खोलकर कैसे देखे?

छठवें सर्ग के आरम्भ में दिनेश प्राची दिशा में ऊपर चढ़ रहा है। धरती आगतपतिका के समान सज रही है। मिश्रजी कहते हैं कि रूप की रस-धारा में और रूप की साधना में भव-बन्धन को बोर कर कवि भव-रूप बन जाता है। व्यक्ति मिट जाता है- भव रूप पा जाता है। भव की भक्ति से जो काव्य और कला का मानदण्ड लेकर चले, वही कवि-पथ का पथिक है। ऐसे लोग अपनी रचना में अमर होते हैं। सातवें सर्ग का आरम्भ दिनकर की दीप्ति से होता है। कवि उनकी आलोचना करता है जो लोक द्वन्द्व से विरत होकर संघर्ष मिटाने का दम्भ दिखलाते हैं। इस सर्ग में कवि ने छायावादियों की पलायनवादी प्रवृत्ति की आलोचना की है। कर्म से विरत होने पर कुछ नहीं किया जा सकता है। राग और रंग दोनों में समरस होने से जीवन बनता है। आठवें सर्ग के आरम्भ की पंक्तियों में सविता आकाश में है। कर्म-शर से ही उसका बन्ध कट सकता है। कर्म-लोक का ही अर्थ, लय, छन्द और भाव धरातल में किरणों से छूट कर आता है। कवि के अनुसार कर्म से ही सब कुछ होता है। यहाँ कवि ने कर्म को तपस्या से अधिक महत्वपूर्ण माना है। नवम् सर्ग में कवि कहता है कि काल की गति दुर्निपार है। सूर्य भी डूबने से बच नहीं सका। अनिल बह रहा है। पक्षी उड़ रहे हैं। लेकिन धरती वियोगिनी की तरह रो रही है। इन्दीवर के नेत्र झुके जा रहे हैं। सान्ध्य के लाल बस्त्रों में वासन्ती सती सजी है। इस तरह से सभी सर्गों का आरम्भ प्रकृति-वर्णन से हुआ है। छः सर्गों तक प्रकृति का सौन्दर्य श्रृंगारिक है। इसके बाद के सर्गों में सूर्य का वर्णन है। सातवें और आठवें सर्गों में सूर्य का प्रकाश से दीप्त रूप है। नौवें सर्ग में सूर्य डूब रहा है। प्रकृति के ये चित्र कवि की सौन्दर्यानुभूति और कल्पना से जुड़े हुये हैं। कवि ने आधार-आधेय सम्बन्ध से अधिक प्रकृति के रमणीय और प्रेरक रूप पर ध्यान दिया है। आरम्भ के सर्गों में प्रकृति एक रमणीय नारी के रूप में आती है। बाद के सर्गों में कर्ण के कर्म का प्रसंग आता है तो सूर्य केन्द्र में आ जाता है। अन्तिम सर्ग में सुयोधन के बध का प्रसंग

है तो धरती वियोगिनी की तरह रो रही है। वासन्ती सती होने को है तो सन्ध्या की लालिमा सती वासन्ती के लाल वस्त्रों के समान दिखाई पड़ती है।

'प्रिय-प्रवास' के सभी सर्गों के आरम्भ में प्रकृति का चित्र-विधान है। संस्कृत के काव्यों में भी प्रकृति का चित्रण दिखाई पड़ता है। हिन्दी में इस प्रकार की परिपाटी को बहुत समर्थन नहीं मिला। ऐसे प्रकृति चित्रणों से प्रबन्ध काव्य का कथानक शिथिल हो जाता है। 'कालजयी' में वस्तुओं का रूप-चित्रण भाव प्रेरित है, फिर भी अंकों के आरम्भ में बहुत दूर तक ऐसा प्रसंग चलता है। इसलिए किसी-किसी अंक में यह बोझिल हो गया है। पाँच सर्गों तक कवि ने कल्पना का स्मरण बहुत अधिक किया है। उसके अनुसार ईश्वरीय प्रेरणा और कल्पना काव्य के हेतु हैं। ईश्वरीय प्रेरणा और कल्पना के समन्वित रूप को प्रतिभा के समकक्ष रखा जा सकता है। प्रतिभा नव-नव उन्मेष कराती है और कल्पना भी यही कार्य करती है। छठवें सर्ग में व्यक्तित्व का प्रश्न कवि ने उठाया है। मिश्रजी पश्चिम के व्यक्तित्ववाद के विरोधी थे। वे भारतीय लोकदृष्टि (भव रूप) को जीवन के लिए उत्तम मानते थे। सातवें सर्ग में छायावादियों की पलायनवादी प्रवृत्ति का विरोध और आठवें में कर्मवाद का समर्थन है। मिश्रजी छायावाद को पलायनवादी मानते थे। वैसे छायावाद पलायन का काव्य नहीं है। निराला और प्रसाद तो कर्म और संघर्ष के कवि हैं। सुमित्रानन्दन पन्त को भी पलायनवादी नहीं कहा जा सकता है। मिश्र जी का छायावादियों से विरोध था। इसलिए उन्होंने छायावादियों को कर्म से विरत पलायनवादी कहा है। कुल मिलाकर प्रत्येक सर्ग के आरम्भ में आने वाले ये प्रकृति चित्र स्वतंत्र कविता बन गये हैं। इनसे कवि की कल्पनाशीलता, चित्र-विधान की क्षमता तथा श्रृंगारी प्रवृत्ति प्रगट होती है।

प्रथम सर्ग की शुरुआत सुयोधन के परिताप से होती है। द्रोणाचार्य के बध से वह दुखी है। सुयोध के कथन में अतीत की कुछ घटनाओं का संकेत भी है। कृतवर्मा सुयोधन को समझाता है। कुछ बीती हुई घटनाओं की वह भी सूचना देता है। सम्वादों के बीच में कुछ घटनाओं, स्थितियों और व्यक्तियों का परिचय देकर मिश्र जी एक ओर कथा के सूत्र को जोड़ते हैं और दूसरी ओर नाटकीय विधान भी करते हैं। दुर्योधन के परिताप और कतवर्मा की उत्तेजना के बीच बलदेव का आगमन भी नाटकीय है। इन दोनों के संवाद से सारी स्थितियाँ स्पष्ट हो जाती हैं। फिर कवि ने वसुसेन के रूप का चित्रण किया है। यह काव्य कर्ण के जीवन पर आधारित है और कर्ण का समूचा पराक्रम सुयोध को समर्पित है। इसलिए सुयोधन की चिन्ता की पृष्ठभूमि में पौरुषवान कर्ण का अश्वत्थामा के साथ आगमन कवि के कौशल को प्रगट करता है। कर्ण के रूप-चित्रण में उसका समूचा व्यक्तित्व प्रतिभाषित होता है। कर्ण का सूर्य के तेज से मण्डित किरीट हैं; दिव्य देह, रक्तिम नेत्र, कंठ में शोभित श्वेतमाला और चपल नेत्र हैं। उसके अवसाद में कादम्बरी का योग है। कर्ण के भी मन में प्रतिशोध की ज्वाला है। द्रौपदी ने स्वयंवर के समय उसे सूत-पुत्र कहा था। कर्ण के रोष से सर्ग का अन्त होता है। मिश्र जी ने इस प्रबन्ध में भारतीय नाट्यशास्त्र के अनुसार पहले ही

सर्ग में अर्थ प्रकृति के बीज और कार्य व्यापार के आरम्भ की स्थापना की है।

कवि की पूरी सहानुभूति कुरु-पक्ष के साथ है। लेकिन पाण्डवों के साथ वे कोई ऐसी बात नहीं करते हैं, जिसे अन्याय कहा जा सके। द्रोणाचार्य का जिस प्रकार से बध किया गया, वह पाण्डवों का पाप कर्म था। मिश्रजी को अपनी ओर से कुछ भी कहने की आवश्यकता नहीं है। दूसरे सर्ग के आरम्भ में वे भीम के प्रचण्ड व्यक्तित्व का प्रभावशाली चित्रण करते हैं। भीम, धर्मराज, सात्यकी और धृष्टद्युम्न चिन्तित हैं। कर्ण ने अर्जुन के बध का उपक्रम किया। भीम का क्रोध,गदा को फेंकना, भीषण ध्वनि होना और द्रौपदी के द्वारा हिडिम्ब वध की कथा का स्मरण करना, नाटकीय विधान है। इसके पूर्व विराट नगरी, वृहन्नला और कीचक की कथा संवाद में आ चुकी है। द्रौपदी के चीरहरण की भी कथा आती है। इससे महाभारत का अधिकांश फलक खुलने लगता है। लेकिन उसी बीच कवि की अपनी टिप्पणी अतिरिक्त है कि 'कवि की जो साधना लोगों के मन में ओजस होकर न डोली, वह निष्फल है, फिर अश्वत्थामा के चरित्र की रक्षा में यह कहना और अधिक अप्रासंगिक लगता है कि उसने द्रौपदी के पाँच पुत्रों को रात्रि में नहीं मारा था। यह कलंक निराधार है। व्यास भी भारत-कथा में इस पर मौन हैं। कवि थोड़ा और बढ़ जाता है। कवि अपने समय के कर्मयोगी राजनेताओं का भी सन्दर्भ ला देता है-

आज फिर सिन्धु कर्मयोग का
लहरा रहा है, मातृभूमि के पुजारी ये
पुण्य भूमि भारत वसुंधरा के वीर ये
निर्भय विरागी और रागी एक संग हैं
कूद रहे जिसमें! ये मृत्यंजय मृत्य को
करने पराजित चले हैं।

कुछ देर के बाद भीम भावुक होकर हिडिम्बा का स्मरण करते हैं। अर्जुन और भीम की वार्ता के बीच हिडिम्बा का श्रृंगारिक रूप उभरता है। लेकिन इसके पूर्व बहुत सी बातें ला दी गई हैं। इसलिए अन्तराल दिखाई पड़ता है। वैसे सर्ग के आरम्भ में भीम का जितना प्रभावशाली व्यक्तित्व उभरता है, सर्ग के बीच में उतना ही आकर्षक रूप हिडिम्बा का अंकित किया गया है। इस सर्ग में वस्तुयोजना के साथ भाव की मार्मिकता भी है। वन प्रान्तर में हिडिम्बा और घटोत्कच का वात्सल्य और नारी का श्रृंगारी और वात्सल्य से भरा हुआ रूप एक साथ प्रस्तुत होता है। घटोत्कच की चेष्टाओं में उसका पराक्रम है। माँ के दुख को देखकर घटोत्कच का छलने वाले के प्रति क्रोध, फिर हिडिम्बा का घटोत्कच पर पिता का अपमान करने के कारण आक्रोश, वन्य होकर भी आर्यों जैसी हिडिम्बा की मर्यादा, उसके चरित्र में मनोवैज्ञानिक द्वन्द्व, फिर घटोत्कच का रोष कि राजपुत्र होकर भी वह वन में भटके- सब कुछ मनौवैज्ञानिक होने के कारण बहुत प्रभावशाली है। वार्ता के बीच में आई हुई यह कथा सजीव और नाटकीय है। भीम और

हिडिम्ब के युद्ध तथा हिडिम्ब के समर्पण का चित्र भी इस सर्ग का आकर्षण है। हिडिम्बा और घटोत्कच की ऐसी प्रस्तुति मिश्रजी की मौलिक उद्भावना है। इस सर्ग के अन्त में घटोत्कच अपनी माता की आज्ञा से उपस्थित होता है। वह पितृ ऋण को चुकाना चाहता है। यह भी कवि की नयी उद्भावना है। इस कथा के द्वारा अर्थप्रकृति का विन्दु और कार्य व्यापार का आरम्भ दूसरे सर्ग के अन्त तक उपस्थित हो जाता है। पहले सर्ग में रौद्र रस की योजना हुई है। तो दूसरे सर्ग में श्रृंगार, वात्सल्य, वीर और भयानक रसों की योजना की गई है।

तीसरे सर्ग में कवि ने बहुत दूर तक कथानक से हटकर कामिनी निशा और सुरलोक की कल्पना की है। तीसरे अंक में कथानक और संवेगों का जो आन्तरिक तनाव उभरा था, वह शिथिल होने लगता है। काफी देर के बाद युद्ध के दृश्य से मूल कथा की शुरुआत होती है। रक्त की नदी का एक सांग रूपक उपस्थित करके बीभत्स दृश्य उपस्थित किया गया है। लेकिन बीभत्स और भयानक रस जीवन के साध्य नहीं हैं। इनके बीच में शर-शैय्या पर पड़े भीष्मपितामह हैं। शर-शैय्या पर पड़े भीष्म को कवि कालभूमि में पड़ा देहधारी शान्त रस कहता है। एक बीभत्स और भयानक पृष्ठभूमि में शरों से बिंधे हुये भीम का शान्त स्वरूप, केवल एक विरोधी बिम्ब ही नहीं है, जीवन की अन्तर्विरोधिनी दशाओं का संगठन है। मिश्र जी छायावादियों के समान पात्रों की अन्तर्यात्रा के सहयात्री नहीं होते हैं, किन्तु विडम्बना पूर्ण स्थिति में भी जीवन को जीने की मनोदशा को वे अवश्य उपस्थित करते हैं। सुयोधन वंचनाओं के बीच भी विजय के लिए युद्ध कर रहा है। कर्ण अपमानों के बीच भी अपने पुरुषार्थ के बल पर तन कर खड़ा है। हिडिम्बा का परित्याग भीम ने किया, फिर भी वह पति-भक्ति में अविचल है। बीभत्स नरसंहार के बीच शरों से बिंधे हुये भीष्म पितामह निर्विकल्प समाधि में डूबे हुये हैं।

तीसरे सर्ग के अन्त में कवि ने एक ऐसे संयोग की संघटना की है, जिससे कर्ण की कथा अधिक प्रभावशालिनी बन गई है। 'महाभारत' में कुन्ती युद्ध के अन्त में धर्मराज को संकेत मात्र करती है कि कर्ण उसका पुत्र है। यहाँ कुन्ती अपने कुल के पितामह भीष्म को कर्ण के जन्म की कथा सुनाकर युद्ध को रोकने की प्रार्थना करती है। इस कल्पना से कुन्ती की निश्छलता और मातृत्व दोनों उभरता है। मानवीय दुर्बलता ही उसकी शक्ति बनने लगती है। भीष्म कुन्ती से प्रश्न करते हैं कि भानुमती और शुभद्रा को भी पुत्र शोक है। कृष्ण और कृष्णा ने रण में कालानल जलाया तो क्यों नहीं रोका? यहाँ लक्ष्मीनारायण मिश्र का स्पष्ट पक्षपात कौरवों के साथ है। ये दुर्योधन को सुयोधन कहते हैं और उसे या उसके किसी साथी को युद्ध का कारण नहीं मानते हैं। इस प्रसंग का दो उपयोग और भी हुआ है। एक उपयोग पूर्व की कथाओं को कहने के लिए किया गया है। जैसे शिखंडी प्रसंग, कर्ण के जन्म की कथा, भीष्म द्वारा कर्ण को अर्धरथी कहने का रहस्य, चीरहरण के समय भीम की प्रतिज्ञा और कृष्ण का दूतत्व। दूसरा बहुत नाटकीय और मार्मिक उपयोग किया गया है। भीष्म ने अपनी बात

कह कर आँखें मूँद लीं। भय से काँपती हुई धीरे से कुन्ती फिर कुछ कहती है कि बीच में कर्ण बोल उठता है- 'क्या तुम विभव और सुख भोग लिप्सा छोड़ सकोगी?' वह कुन्ती से प्रतिश्रुत होता है कि अर्जुन को छोड़कर किसी अन्य भाई को नहीं मारेगा। वह नहीं चाहता कि कुन्ती उसे पुत्र कहे। कुन्ती का पुत्र बनने से वह अपने पुरुषार्थ से गिर जायेगा। कर्ण कामना विहीन होकर रक्षा के लिए युद्ध-धर्म को अपनाने की बात कहता है। कुन्ती उसकी नीति और युद्ध-धर्म से बहुत प्रसन्न होती है। भीष्म भी कर्ण को मनस्वी और वीतराग कहते हैं। तीसरे सर्ग का आयोजन कवि ने कर्ण के चरित्र की गरिमा को प्रतिष्ठित करने के लिए किया है। पितामह भीष्म और माता कुन्ती दोनों कर्ण की महानता को स्वीकार करते हैं। कर्ण का युद्ध धर्म ही सृष्टि धर्म है।

चौथे सर्ग में भी कुछ प्रसंग वस्तुचित्रण के हैं और कुछ प्रसंग भावात्मक हैं। आरम्भ में दुश्शासन (मिश्र जी के अनुसार सुशासन) के शिविर का वर्णन, फिर उसके स्वस्थ शरीर का वर्णन है। यहाँ आई हुई यह पंक्ति 'रक्तवेग जैसे प्रस्फुरित अंग अंग है', 'कामायनी' के मनु के रूप वर्णन की पंक्ति- 'स्फीत शिरायें शुद्ध रक्त का होता था जिनमें संचार' का स्मरण कराती है। बीच में मिश्र जी इस अपयश भाजन के चरित्र को उत्तम सिद्ध करने के लिए थोड़ा बहक जाते हैं। अन्यथा दुश्शासन का आलंकरिक चित्रण कवि की सफल वस्तु-योजना का एक उदाहरण है। सर्ग के उत्तरार्द्ध में घटोत्कच के प्रचण्ड रूप का वर्णन भी इस काव्य का उल्लेखनीय प्रसंग है। इस काव्य में जितने पुरुष आये हैं, कवि ने उन सब के रूप का चित्रण किया है। भीम, दुर्योधन और दुश्शासन जैसे पात्र प्रचण्ड पराक्रम वाले हैं। इनके व्यक्तित्व और प्रचण्डता प्रमुख गुण है। लेकिन घटोत्कच की प्रचण्डता अतिमानवीय है।

चौथे सर्ग के भावात्मक स्थलों में दुश्शासन का दाम्पत्य प्रेम है। आरम्भ में संयोग श्रृंगार उभरता है किन्तु बाद में उसकी पत्नी की शंका और नारी-सुलभ भय उसमें दिखाकर कवि ने प्रसंग को बहुत स्वाभाविक बना दिया है। दाम्पत्य जीवन में श्रृंगार के साथ पति की सुरक्षा के प्रति आशंका भी है। दूसरे दाम्पत्यजीवन का पूरा चित्र उभरता है। बीच में भानुमती के आ जाने से प्रसंग और भी मर्मर्शी हो गया है। घटोत्कच का सर्ग में प्रवेश नाटकीय है। द्रौपदी के उद्वेग और अर्जुन के आवेश के बीच में वह प्रवेश करता है। कवि ने घटोत्कच के वीर वेश में विनम्रता और पितृभक्ति का आकर्षक समावेश किया है। कृष्ण का तात्कालिक निर्णय उनके चातुर्य का द्योतक है। यहाँ घटोत्कच के प्रसंग में वीर रस की उद्भावना नहीं होती है किन्तु उसके व्यक्तित्व की एक अमिट छाप पड़ जाती है। भीम का पुत्र मोह, वात्सल्य का प्रसंग है। वात्सल्य रस के लिए यह नयी भूमि है। द्रौपदी में भी वात्सल्य है किन्तु स्वार्थप्रेरित होने से प्रभावहीन हो जाता है। सर्ग के आरम्भ में कुरुपक्ष का विषाद है और अन्त में पाण्डुपक्ष के विषाद की पृष्ठभूमि है। दोनों विषादों का कारण पाण्डु पक्ष का ही अन्याय है। दुश्शासन का भीम ने अन्याय से एक विशाच की तरह बध किया और इसी भीम को

कृष्ण पुत्र शोक में डालने जा रहे हैं अर्जुन की रक्षा के लिए।

पाँचवें सर्ग के आरम्भ में प्रातःकाल का पारम्परिक चित्र है। सप्तर्षि मण्डल और ध्रुव तारे का अवसान, लता-वृक्ष, वनरात्रि, पद्मवन, व्योम में अबाध बढ़ता हुआ दिनमणि, संकुचित कुमुदनी, चक्रवाक का हर्ष, बल्लरी, चंचरीक, पक्षियों का कलरव आदि का वर्णन न तो वस्तु की नवीनोद्भावना है और न बिम्ब की दृष्टि से ही यह स्थल उल्लेखनीय है। इसके बाद युद्ध-भूमि का चित्रण सजीव वस्तु-योजना है। कवि की दृष्टि अप्रस्तुत विधान और नाद की व्यंजना पर अधिक केन्द्रित है। कर्ण के पूजन, उसके वीर भाव, दान वीरता तथा असूयारहित मनोभाव का आलंकारिक चित्र-विधान है। कर्ण का चरित्र उत्तम है। वह पराजय से मुक्त होने की कामना करता है। वह अपने प्रतिद्वन्द्वी की भी अवमानना नहीं करना चाहता है। वीरता ही उसका धर्म है। लेकिन कर्ण के चरित्र की इन विशेषताओं का कथन प्रत्यक्ष होने से उसका प्रभाव कम हो जाता है। इसकी अपेक्षा कर्ण की मनोग्रंथि, दान में याचकों के कथन की नाटकीयता और द्रौपदी को लेकर विनोद अधिक प्रभावशाली है। चरित्र के विधान की यह अप्रत्यक्ष शैली है। कृपाचार्य के कथन से भी कर्ण का चारित्रिक औदात्य प्रगट होता है। कर्ण के अभिषेक का अलंकृत चित्र-विधान है। स्वयं मिश्र जी की कल्पना भावातिरेक में अमूर्त उपमानों का चयन करने लगती है। सात्यकी और धृष्टद्युम्न द्वारा कान लगाकर पाण्डव शिविर की बातों को सुनना नाटकीय है। यहाँ द्रौपदी का प्रचण्ड स्वाभिमान प्रगट होता है। इसके बाद घटोत्कच की चेष्टा और उसका कथन इस सर्ग का सर्वश्रेष्ठ अंश है। यहाँ कृष्ण का भी चरित्र उनके कथनों से खुलता है। काल और पुरुष, कर्म और भोग, ब्रह्मतेज और क्षात्र तेज, जय-पराजय, यश-अपयश, सत्य और नीति पर कृष्ण की तार्किक बातें उनके गरिमा मण्डित व्यक्तित्व के अनुरूप हैं। कुल मिलाकर यह सर्ग लगभग घटना विहीन है। केवल कर्ण का राज्याभिषेक होता है और घटोत्कच युद्ध के लिए तैयार होता है। ये दोनों पात्र समाज और हिन्दी साहित्य दोनों के द्वारा उपेक्षित हैं। कर्ण पर दिनकर आदि के काव्य बाद में लिखे गये। घटोत्कच पर तो अब तक नहीं लिखा गया। कर्ण को सूतपुत्र कहा गया और घटोत्कच को वन्य। मिश्रजी की सहानुभूति इन उपेक्षितों के प्रति है। लक्ष्मीनारायण मिश्र में सनातनी परम्परा का गहरा संस्कार था और वे बुद्धिवादी भी थे। सनातनी होने के नाते वे द्रोणाचार्य और अश्वत्थामा का पक्ष लेते हैं। बुद्धिजीवी होने के कारण कर्ण, हिडिम्बा और घटोत्कच जैसे उपेक्षित पात्रों का उन्नयन करके उन्हें शीर्ष पर प्रतिष्ठित करते हैं।

छठवें सर्ग को पुनः कर्ण के ही चतुर्दिक विकसित किया गया है। आरम्भ में सेना का सजीव चित्रण है। मिश्र जी वस्तु योजना करते समय अप्रस्तुत विधान का सहारा लेते हैं। रणभूमि में सेनाओं का व्यूहन, युद्ध और युद्ध के उपरान्त रणभूमि की बीभत्स स्थिति का वे जैसा चित्रण करते हैं, हिन्दी-कविता में वैसा चित्रविधान किसी दूसरे कवि ने नहीं किया है। जीवन की संवेदनाओं का आन्तरिक तनाव भी कविता में है किन्तु यह पक्ष गौड़ है। वस्तुओं के रूपरंग और स्थितियों

के चित्र प्रमुख हो गये हैं। केशवदास के युद्ध से सम्बन्धित दृश्यों में गहराई नहीं है। तुलसीदास तो ऐसे स्थलों पर रमते ही नहीं। कुछ ऐसा चित्र बनाकर आगे निकल जाते हैं, जैसा सभी कवि करते हैं। श्यामनारायण पाण्डेय में आवेग अधिक है। इसलिए चित्रविधान नहीं हो पाता है। दिनकर विचारों की गहराई में प्रवेश कर जाते हैं। अकेले लक्ष्मीनारायण मिश्र ऐसे स्थलों का बिम्बात्मक चित्रण पूरे मनोयोग से करते हैं। अश्वों और गजों की भंगिमायें, वीरों की साज-सज्जा, अस्त्र-शस्त्रों का संचालन और उसकी दीप्ति, वस्तुओं की यथास्थिति नहीं बल्कि उसकी चेष्टाओं को प्रस्तुत करते हैं। पताकाओं के फहरने, शंख के स्वर और शस्त्रों की झनकार से रणभूमि का सजीव चित्र उपस्थित होता है। इसके बाद दुर्योधन के शिविर का आलंकारिक बिम्ब-विधान करके वस्तुयोजना का एक दूसरा सन्दर्भ कवि उपस्थित कर देता है। लेकिन अन्य सर्गों के समान इस सर्ग में भी वस्तुयोजना के साथ संवेदनाओं की गहनता के प्रसंग की भी उद्भावना की गई है। सुयोधन और कर्ण का मैत्रीभाव, कर्ण का पुत्रशोक तथा वसुमती का सतीत्व, भाव की गहनता के स्थल हैं। कर्ण के चरित्र का एक सबल पक्ष है कि पुत्र शोक से वह हत-वीर्य नहीं होता है। वह वीरब्रती है। वीरों के समान उसमें पुरुषार्थ और विनोद दोनों है।

सातवाँ तथा अठवाँ सर्ग अधिक महत्वपूर्ण है। इन दोनों सर्गों में युद्ध का जैसा चित्रण है, वैसा हिन्दी के काव्य में अन्यत्र दुर्लभ है। यदि चित्रविधान और आवेग को काव्य का गुण माना जाय तो ये दोनों सर्ग सम्पूर्ण भारतीय काव्य में अद्वितीय सिद्ध होंगे। सातवें सर्ग का आरम्भ सेना के सजीव चित्र-विधान के साथ होता है। शस्त्रधारियों तथा वाहनों की चेष्टाओं का प्रभावोत्पादक बिम्बविधान इस सर्ग की विशेषता है। तुमुल जयनाद करती हुई सेनायें खड़ी हैं। कवि अप्रस्तुतों के द्वारा सेना का चित्र-विधान करता है। लेकिन सारे अप्रस्तुत सेना का प्रभाव बढ़ाने के लिए ही आये हैं। अधिकतर उपमान पारम्परिक हैं। वे बिम्ब-विधान के बीच प्रभावशाली हो जाते हैं। कवि केवल उपमानों के चयन में ही नहीं खो जाता है। सेना की गतिविधियों का वर्णन करता हुआ कवि कहता है कि गज आगे बढ़ाये जा रहे हैं। असि और अन्य शस्त्र दीप्त हो रहे हैं। गज घंट बज रहे हैं। सिंहनाद हो रहा है। रथी अपने रथ को बढ़ा रहे हैं। शस्त्रों की शस्त्रों से टकराहट हो रही है। कुंजर दुर्निबार रूप से घूम रहे हैं। गज कुंभ पर अश्वारोही ने कुन्त से प्रहर किया। रक्त की धारा बह चली। उस पर बैठा हुआ वीर मारा गया। आस्तरण, छत्र और आसन सहित कुंजर चक्र की दुर्निवार गति से घूम रहा है। आर्तनाद करते हुये गज के सामने जो पड़ता है उसे सुँड़ से फेंक देता है। गज कुंभ से गजकुंभ का घर्षण होने से तड़-तड़ की ध्वनि होती है। धूलि चारों ओर उड़ रही है। कबन्ध नाच रहे हैं। अर्धचन्द्राकार वाण से कट कर शीश उड़ रहा है। श्वेत-छत्र-दण्ड भंग हो गया। मुक्ताहार भूमि पर पड़े हैं। गयन्द क्षत-विक्षत हैं। घायल वीर किंशुक सा लग रहा है। 'धर-धर मार-मार' की ध्वनि हो रही है। यहाँ उपमानों की योजना में कवि की कल्पना सजग है और युद्ध की क्रियाओं

के चित्र-विधान से जीवन की आवेगपूर्ण स्थितियों का सजीव चित्र-विधान हो जाता है। कल्पना और निरीक्षण, स्थिति और क्रिया, यथार्थ और आवेग ने मिलकर इस प्रसंग को प्रभावशाली बनाया है। छायावादी व्यक्ति-चेतना, कल्पनाशीलता और अतीन्द्रियता की प्रतिक्रिया में यह प्रसंग अधिक वस्तुनिष्ठ, ऐन्द्रिय तथा स्वाभाविक है। इस वस्तु-योजना में आन्तरिक तथा बाह्य दोनों प्रकार के तनावों को समन्वित करके चित्र को उभारा गया है।

सातवें सर्ग के केन्द्र में अश्वत्थामा है। मिश्र जी ने उसके प्रबल पराक्रम और युद्धोन्माद का चित्रण करके अश्वत्थामा को प्रतिष्ठित किया है। आरम्भ में ही दुर्योधन गुरुपुत्र का पूजन करके उसे रण के लिए भेजता है। भीम तथा वृद्ध क्षेमधूति का युद्ध होता है। क्षेमधूति मारा जाता है। इसके बाद ही नाटकीय ढंग से अश्वत्थामा आता है। भीम और अश्वत्थामा का पहले विवाद होता है फिर युद्ध। दोनों के युद्ध का, चेष्टाओं के वर्णन तथा अप्रस्तुतों के विधान से जीवन्त चित्रण है। द्रोणि के शरों से भीम पराभूत हो जाता है। तभी कृष्ण और अर्जुन का प्रवेश होता है। अश्वत्थामा और कृष्ण का वाद-प्रतिवाद होता है। यहाँ कृष्ण एक सामान्य से नि:शस्त्र कूटनीतिक मात्र हैं। अश्वत्थामा अर्जुन पर भी व्यंग्य करता है। अर्जुन से अश्वत्थामा का युद्ध होता है। अर्जुन पराभूत होकर ग्लानि से विक्षुब्ध हो जाता है। अश्वत्थामा का किशोर मलयध्वज से युद्ध होता है। न चाह कर भी अश्वत्थामा उसका बध करता है। यह धर्मराज, नकुल और सहदेव को भी पराभूत करके धृष्टद्युम्न को पकड़ कर उसका शीश काटने के लिए असि उठाता है कि असि को पीछे से अर्जुन काट देता है। अश्वत्थामा, अर्जुन और कृष्ण का तिरष्कार करता हुआ धृष्टद्युम्न के मस्तक पर चरण प्रहार करके उसे छोड़ देता है। इस तरह से सम्पूर्ण सर्ग में अश्वत्थामा का ही पराक्रम है। वह प्रतिपक्ष के सभी वीरों को वाक्युद्ध, और शस्त्र युद्ध दोनों में पराजित करता है। नाटकीयता, चेष्टाओं का बिम्बविधान, अप्रस्तुतों की योजना और आवेग की प्रस्तुति इस सर्ग की विशेषतायें हैं।

आठवें सर्ग के केन्द्र में दुश्शासन है। उसके वीर वेश से सर्ग आरम्भ होता है। अलंकृत चित्रण है। फिर दुश्शासन का मधुर दाम्पत्य जीवन है। उसकी पत्नी वासन्ती की आशंकायें हैं। यहीं दुर्योधन और कर्ण आ जाते हैं। दुर्योधन की चिन्ता है कि अश्वत्थामा ने विपक्षियों को क्यों छोड़ दिया ? भीम और धृष्टद्युम्न को अश्वत्थामा ने छोड़ा है। कर्ण कहता है कि वीरों की पराजय उनकी सबसे बड़ी ग्लानि है। कर्ण की वीर भंगिमा और उसकी वीरतापूर्ण वाणी से उसका शौर्य, निर्भयता तथा वाक्पटुता प्रगट होती है। कृष्ण और कृतवर्मा आमने-सामने होते हैं। कृतवर्मा आघात करता है किन्तु कृष्ण उसे झेल जाते हैं। दोनों एक दूसरे पर व्यंग्य करते हैं। कृतवर्मा अर्जुन पर भी व्यंग्य करता है। कृतवर्मा अर्जुन से युद्ध के लिए हठ करता है इसके बाद घटोत्कच का भयंकार युद्ध है। यहाँ वीर रस का सहायक भयानक रस बन गया है। घटोत्कच का युद्ध इस सर्ग का उल्लेखनीय सन्दर्भ है। युद्ध सजीव हो गया है। कारण-कार्य योजना का भी अच्छा

निर्वाह है। भीम की ललकार पर घटोत्कच दुर्योधन की ओर झपटता है और दुर्योधन के प्राण को संकट में देखकर कर्ण घटोत्कच का बध करता है। अर्जुन के लिए सुरक्षित शर घटोत्कच पर विवशता में चलाया गया। फिर इसकी परिणति दुश्शासन के बध में होती है। घटोत्कच की मृत्यु जितनी कारुणिक है, उससे अधिक बीभत्स प्रतिशोध भीम का है। घटोत्कच मृत्यु के समय कातर होकर अपनी माता का स्मरण करता है और दुश्शासन अपनी पत्नी तथा अन्य स्वजनों का स्मरण करता है। लेकिन दोनों में अन्तर है कि घटोत्कच केवल अपने में ही केन्द्रित है और दुश्शासन पूरे परिवार के लिए उद्विग्न है। मृत्यु के समय दुश्शासन कहता है कि कर्म और धैर्य की कसौटी संकट है। इस तरह से मिश्रजी ने दुश्शासन के चरित्र का उदात्तीकरण किया है। लेकिन भीम के क्रूर कर्म को भी वे पुत्र-पीड़ा का फल बनाकर वे इस दुष्कर्म को कुछ हल्का कर देते हैं। यह सम्पूर्ण सर्ग घटनाओं का ऐसा नियोजन करता है कि चरित्र स्वयं दीप्त हो उठते हैं। इस सर्ग में एक युद्ध घटोत्कच का है और दूसरा भीम का। एक का अवसान करुण रस में होता है और दूसरे का बीभत्स रस में। मिश्रजी वीर काव्य लिखते हुये भी कहना चाहते हैं कि जीवन का अन्तिम लक्ष्य युद्ध नहीं है।

नौवें अंक के आरम्भ में वासन्ती किंशुक कुसुम माला के समान लाल वस्त्रों में सजी हुई सती होने को प्रस्तुत है। कवि वासन्ती के रूप और उसके मनोभावों को चित्रित करने के लिये अप्रस्तुतों की योजना करता है। उसकी दृष्टि वासन्ती की पीड़ा, उसके पति-स्नेह और सतीत्व की ओर अधिक है। इसी बीच विलाप करती हुई भानुमती उपस्थित होती है। भानुमती तथा वासन्ती का कारुणिक संवाद पारिवारिक जीवन के एक अछूते प्रसंग की उद्भावना करता है। यहाँ देवरानी और जेठानी के सम्बन्ध में पुत्री और माता के स्नेह का प्रतिबिम्बन होता है। वहीं दुर्योधन और कर्ण भी हैं। दुर्योधन अपने अनुज को पुत्र के समान स्मरण करता है। कर्ण सन्तुलित है। वह जिस प्रकार से दुर्योधन को समझाता है उससे कर्ण की धीरता प्रगट होती है। कर्ण का चरित्र उदात्त है। वासन्ती सती होने के लिए तैयार है। बस यहीं 'कालजयी' रुक जाता है। इस अद्वितीय वीर काव्य को मिश्रजी आगे नहीं बढ़ा पाये। इसका उन्हें हार्दिक क्लेश था। इस प्रकरण के पश्चात कवि ने गाँधी बध का उल्लेख किया है। फिर कवि कहता है कि गाँधी की हत्या भारतवर्ष की एक कारुणिक घटना है। हिंसा और असत्य से काल की गति को लाँघने की शक्ति कवि में नहीं है। पैंतीस वर्ष हो गये, कवि की वाणी मौन हो गई है। इस कथन से प्रतीत होता है कि मिश्र जी गाँधी बध के बाद नहीं लिख पाये। उन्हें युद्ध और रक्तपात से जुगुप्सा हो गई। लेकिन फिर भी वे मानते रहे कि कवि का कर्म अनासक्त होता है। नौवें सर्ग की इस समाप्ति से लगता है कि 'कालजयी' की रचना गाँधी की हत्या के पश्चात् नहीं हो पाई। अन्त में पैंतीस वर्षों के पश्चात कवि ने निश्चय सा कर लिया कि अब यह काव्य अधूरा ही रहेगा। नाम के सम्बन्ध में उसका निश्चय इन पंक्तियों में प्रगट है- 'कालजयी होगा यह काव्य।'

इस काव्य की वस्तुयोजना जटिल है। कई-कई दिशाओं से कई-कई उद्देश्य प्रगट होते हैं। काव्य का नाम 'कालजयी' रखा गया है। लेकिन मिश्रजी ने अन्य पात्रों के साथ भी न्याय किया है। कर्ण केन्द्र में रहता है। उसके आस-पास क्रियाशील अन्य पात्र भी विकसित होते चलते हैं। घटोत्कच, भीम, हिडिम्बा, अश्वत्थामा, दुर्योधन, अर्जुन, दुश्शासन आदि के चरित्र भी महत्वपूर्ण हैं। कृष्ण का प्रभाव सभी चरित्रों और सभी घटनाओं पर बना रहता है। आरम्भिक सर्गों में वस्तुओं के वर्णन के साथ पात्रों की संवेदनायें सघन हो गई हैं। आधुनिक हिन्दी काव्य में जिन प्रबन्धों की अधिक चर्चा हुई वे युग संस्कृति, मानव की संवेदनाओं, जीवन मूल्यों अथवा व्यक्ति तथा समाज के सम्बन्धों का विश्लेषण करने वाले हैं। कामायनी, तुलसीदास, अंधायुग, कनुप्रिया, महाप्रस्थान, कुरुक्षेत्र, रश्मिरथी, उर्वशी आदि इसी प्रकार की प्रबन्ध हैं। 'साकेत' में युग संस्कृति के साथ चरित्रों और कथानक की भी प्रमुखता है। 'प्रियप्रवास' में चरित्रों और घटनाओं को नयी दृष्टि से देखा गया है। जिन प्रबन्ध काव्यों में चरित्र और घटनायें प्रमुख हैं, उन्हें कम महत्व मिला, फिर चाहे उसमें आधुनिक दृष्टि का ही प्राधान्य हो तो क्या! केवल घटनाओं और चरित्रों को अपने केन्द्र में रखने वाले 'हल्दीघाटी' अथवा 'जौहर' जैसे प्रबन्ध-काव्य जनता में तो चर्चित हुये किन्तु समीक्षकों ने उन्हें अधिक मान नहीं दिया। लक्ष्मीनारायण मिश्र का 'कालजयी' अपने केन्द्र में पात्रों के जीवन की संवेदनाओं और उनके बाह्य संघर्षों को रखता है। संवेदनायें ही बाह्य घटनाओं और संघर्षों के घात-प्रतिघात को नियोजित करती हैं। चरित्रों की संवेदनायें एकदम भारतीय फलक की हैं। वे वीर-कर्म, मृत्यु, जीवन, योग-वृत्ति, क्रोध, भवितव्य, धर्म, कर्म आदि से बँधकर विकसित होते हैं। यही उनके जीवन के मूल्य हैं। मिश्र जी ने देही का भोग कर्म को माना है और कर्म पुरुषार्थ से नियंत्रित होता है। मिश्रजी के पात्र व्यक्ति की अन्तर्यात्रा, अधिकार और अधिकारी के सम्बन्ध, व्यक्ति चेतना और युग सत्य, समाज में व्यक्ति के स्थान, कुल और गोत्र से ऊपर उठी हुई व्यक्ति की इयत्ता, महारण में एक सामान्य जन की विवशता, चतुर्दिक टूटती हुई नैतिकता के बीच आदर्श की विवशता आदि पर विचार नहीं करते हैं। शायद इसीलिए समीक्षक मिश्र जी के पात्रों की ओर ध्यान ही नहीं देते हैं। लेकिन मिश्रजी के पात्र जीवन के उन शाश्वत मूल्यों से जुड़े हुये हैं जिनके अभाव में भारतीयता रिक्त है। यह अवश्य है कि मिश्रजी की सहानुभूति निरन्तर कुरुपक्ष के साथ है; क्योंकि उधर कर्ण, अश्वत्थामा और कृपाचार्य हैं। इसीलिए वे दुर्योधन को सुयोधन, दुश्शासन को सुशासन और कर्ण को बराबर वसुसेन कहते हैं।

इस काव्य में सुपरिचित पात्रों की दो श्रेणियाँ हैं। कर्ण, दुर्योधन, अश्वत्थामा, अर्जुन, भीम आदि बहुचर्चित पात्र हैं। इनमें अश्वत्थामा के प्रति मिश्रजी की गहरी सहानुभूति है। उसका उन्होंने उदात्तीकरण किया है। उसके पाप कर्मों का वे प्रच्छालन करते चलते हैं। भीम के अहंकार को कुछ अधिक उभारते हैं। कर्ण तो महापुरुष है ही। दुर्योधन इस काव्य में सुयोधन है। अल्प विख्यात पात्रों का

उन्नयन करके मिश्र जी ने उन्हें गरिमा प्रदान की है। हिडिम्बा और घटोत्कच को तो हिन्दी-काव्य में पहली बार इतना महत्व मिला है। इस काव्य में 'महाभारत' के कुछ ऐसे पात्र हैं जिनकी बहुत कम चर्चा हुई हैं। भानुमती, वासन्ती, मलयध्वज आदि इसी प्रकार के पात्र हैं। 'कालजयी' में इन पात्रों की रेखाओं को उभारा गया है। इनके चरित्र के एक-दो विन्दुओं का ही कवि ने स्पर्श किया है। ये पात्र इसी से महत्वपूर्ण बन गये हैं। ये पात्र घटनाओं के जाल में फँसे हैं। अवसर ही नहीं मिल पाता कि अन्दर सोचें। जो कुछ है वह बाहर ही बाहर है। वस्तुचित्रण में और पात्रों के चरित्र-विधान में इस प्रकार की प्रवृत्ति छायावादी वायवीयता के एकदम विपरीत है।

मिश्रजी का विशिष्ट चरित्र है कर्ण। यह सच्चा वीर-व्रती है। मिश्रजी का वीर धर्म कर्ण में सजीव हो उठा है। वह स्वामिभक्त और दृढ़ निश्चयी है। वह जीवन की कामना से ऊपर है। धर्म रक्षा के लिए युद्ध करता है। भीष्म की शर शैय्या के पास उसकी भेंट कुन्ती से होती है, किन्तु वह अपने निश्चय से डिगता नहीं है। उसके जन्म की कथा को जानकर भीष्म को भी उसे अर्धरथी कहने का परिताप होता है। पाँचवें सर्ग में कर्ण का प्रभावशाली धर्मात्मा का रूप प्रगट होता है। वह सूर्य का स्तवन करके पराजय के भय से मुक्ति माँगता है। उसे मृत्यु वरण की कामना है। उसमें तेज, तप, बल और दानवीरता है। अश्वत्थामा भी उसकी प्रशंसा करता है। 'सूतपुत्र' कहे जाने से हीनता की ग्रंथि उसमें आ गई है। उसे द्रौपदी का तिरस्कार भी याद है। उसमें प्रतिशोध की ज्वाला दहकती है। किन्तु धर्म और नीति से वह निरन्तर संयमित है। कृपाचार्य कहते हैं कि उसने पौरुष को सिद्ध कर लिया है। कृपाचार्य उसे देवता, वसु, प्रजापति और लोकपाल कहते हैं। दुर्योधन कहता है कि वसुसेन का पुरुषार्थ कुल और वंश से ऊपर है। स्वयं कर्ण कुन्ती से कहता है कि आप का पुत्र कहलाने से मेरा पुरुषार्थ लाँछित होगा। व्यक्ति की सम्पूर्ण महत्ता उसमें पुंजीभूत हो गई है। वह कहता है कि वीरव्रत और दम्भ एक साथ नहीं चलते हैं। लेकिन द्रौपदी के प्रति इतना क्रोध है कि वासन्ती जैसे ही द्रौपदी का नाम लेती है, कर्ण क्रुद्ध हो जाता है। माता ने जन्म लेते ही उसे नदी की धारा में विसर्जित कर दिया था, लेकिन कर्ण के मन में अपनी माता के प्रति श्रद्धा है। वह एक पत्नीव्रत का प्रशंसक है। रणभूमि में भी हँसी और विनोद करता है। वह कृष्ण पर भी व्यंग्य करता है। वह प्रत्यंचा चढ़ाता है तो धरा काँपती है। वह ऐसी शूरवीरता को श्रेष्ठ बताता है, जिसमें क्रोध नहीं है। कर्ण मानता है कि दैव गति पर वीरता विजयी होती है। वह अपराजित है जिसको होनी और दैव की चिन्ता नहीं होती है। जय और पराजय की चिन्ता उसके मन में कभी नहीं आई। वह मृत्यु-रण के लिए रण की उपयोगिता मानता है। लेकिन ऐसा भी नहीं कि वह युद्धोन्मादी है। वह वीर कर्म को यश और सम्मान से मुक्त मानता है। यह भी मानता है कि युद्ध-भूमि में नीति और धर्म का जन्म होता है। उसका कथन है- 'निन्दा करते हैं नहीं वीरबली वैरी की।' इस तरह से कर्ण के चरित्र में उसका मन नहीं

बल्कि धर्म ही प्रतिफलित होता है। पुत्र के शोक में भी उसका मन नहीं बल्कि कर्म खुलता है।

कृष्ण का चरित्र उनकी गरिमा के ही अनुकूल है। 'कालजयी' के कृष्ण भारत से शक्ति दम्भ को मिटाना चाहते हैं। उन्होंने क्रोध पर विजय पा ली है। जिसे भी शक्ति का दम्भ है, कृष्ण उसका नाश कर देते हैं। इन्हे अलग-अलग लोग अलग-अलग दृष्टि से देखते हैं। कृतवर्मा कहता है- 'सत्य है कपट शरीरी, तुम रण में।' वह और भी सधे हुये व्यंग्य करता है। कृष्ण क्रूरकर्मा हैं। उनके कपट से भीष्म शर-शैय्या पर पड़े हैं। द्रोण मारे गये। लेकिन कृष्ण निर्विकार हैं। कर्ण कहता है कि कृष्ण कुल-धर्म से परे हैं। कर्ण उन्हें देवता मानकर कहता है- 'रचता वही है, फिर नाश भी वही करता है, कृष्ण केवल नीति और अवसर को पहचानते हैं। अर्जुन को कर्ण से बचाने के लिए घटोत्कच को आगे कर देते हैं और दुश्शासन को अकेला देख भीम को ललकारते हैं कि पुत्र का प्रतिशोध ले लो।

मिश्रजी ने अश्वत्थामा को आवश्यकता से अधिक महत्व प्रदान किया है। 'अपराजित' नाटक में अश्वत्थामा का पूर्ण उत्कर्ष है। 'कालजयी' में उसका अधिकांश काव्य-पंक्तियों में ढल गया है। अश्वत्थामा के चरित्र में प्रतिहिंसा का जघन्यतम रूप है। जनश्रुति में भी वह जघन्य है। लेकिन मिश्रजी ने इस ब्राह्मण गुरुपुत्र के चरित्र का उदात्तीकरण किया है। वह वीर और साहसी है। उसे अपने ब्राह्मणत्व पर गर्व है। वह ब्राह्मण की शूरवीरता को दिखा कर चिरकाल से चली आती हुई ब्राह्मणों की अपकीर्ति को धोना चाहता है। पितृ-घात की प्रतिहिंसा में वह अधिक आक्रामक हो गया है। क्षत्रिय कुल पर व्यंग्य करता है। कृष्ण भी इसके व्यंग्य से नहीं बच पाते हैं। पिता के बध की प्रतिहिंसा से वह अपने प्राण का मोह भूल जाता है। वह धर्मराज से कहता है कि पाप से मिली विजय टिकती नहीं। वह धर्मराज, नकुल, सहदेव और सत्यकी को एक साथ धराशायी करता है। कृष्ण कहते हैं कि तुमने पितृघाती का मान भंग किया है। वह युद्ध में भीम को प्राण-दान देता है। इससे कुरुराज दुर्योधन चिन्तित हो जाता है। वह बड़े साहस और चातुर्य से घटोत्कच को हिंसा से विरत करके कर्ण की ओर अभिमुख करता है। वह प्रचण्ड घटोत्कच पर भी व्यंग्य करता है। उसे रंच-मात्र भय नहीं होता है। मिश्रजी मानते हैं कि द्रौपदी के पाँच पुत्र कभी थे ही नहीं। इसलिए उन्हें मारने की कथा कपोल-कल्पित है। अश्वत्थामा में प्रबल मानवीय गुण हैं। वह मलयध्वज को नहीं मारना चाहता है। विवश होकर उसे आघात करना पड़ता है। मलयध्वज को मारने के बाद कहता है कि वीर धर्म दारुण है। वह अर्जुन से युद्ध नहीं करता है। अश्वत्थामा के सम्बन्ध में कृष्ण कहते हैं- 'दुर्जय धनुर्धर जगत का', फिर कहते हैं- 'द्रोणसुत रण की कला में भृगुराम हैं।' अर्जुन कहते हैं कि अश्वत्थामा रण में आज त्रिपुरारि लग रहा है।

दुर्योधन के चरित्र के केन्द्र में आक्रोश और परिताप है। उसके मन में पाण्डवों के प्रति घनघोर घृणा है। वह कर्ण का अत्यधिक सम्मान करता है। मैत्री की भावना उसमें प्रमुख है। उसके मन में भाग्य और कर्म-फल को लेकर द्वन्द्व है।

पुत्र-शोक में दुख और धैर्य का द्वन्द्व है। वह अपने पुत्र का शोक सहता है। उसे अपने अनुज के पुत्र का शोक है। अनुज-बधू को 'कन्या' कह कर सम्बोधित करता है। लेकिन शोक में भी विनोद करता है। अपने अनुज दुस्साशान को वह अपना पुत्र, राज्य, धन और सिद्धि- सब कुछ मानता है। वासन्ती के स्वप्न को ही याद करके काँपने लगता है। अनुज का बध उसे संतप्त कर देता है। फिर भी उसे वीर धर्म का ही सहारा है।

भीमसेन 'कालजयी' का उल्लेखनीय चरित्र है। कर्ण के विलोम में अर्जुन नहीं बल्कि भीमसेन दिखाई पड़ता है। मिश्रजी ने धनुर्विद्या अथवा नीतिज्ञता की तुलना नहीं की है। धार्मिक प्रवृत्ति और चरित्र की अन्य गरिमापूर्ण विशेषताओं को उन्होंने कर्ण के चरित्र में प्रतिबिम्बित किया है। भीम उसके विलोम में है। भीमसेन क्रोधी, दम्भी, उग्र और हिंसक है। वह युयुत्सु है। उसमें विजय प्राप्त करने की दुर्दमनीय अभिलाषा है। उसके गदाघात से पृथ्वी हिलने लगती है। भीम युद्धभूमि में कृतान्त का सहोदर लगता है। पहले वह क्षेमधूति को वृद्ध समझकर उससे लड़ना नहीं चाहता है। जब युद्ध करता है तो उस का बध करके पागलों की तरह अट्टहास करता है। वह वैरी के रक्त से स्नान करने को व्यग्र है। यह अश्वत्थामा को भिक्षुक कहकर उस पर व्यंग्य करता है। वही अश्वत्थामा भीम को विवश और गतिहीन बनाने के बाद भुजमूल में मारकर मूर्छित कर देता है। भीम में मानवीय दुर्बलतायें भी हैं। वह हिडिम्बा का भावविह्वल होकर स्मरण करता है। पत्नी की उपेक्षा करने का अपराध-बोध उसमें है। घटोत्कच के प्रसंग में उसका अपत्स स्नेह बहुत प्रबल होकर उभरता है। पहले वह नहीं चाहता कि घटोत्कच रण के लिए जाये। जब घटोत्कच का बध हो जाता है तो भीम शोक में डूब जाता है। फिर कृष्ण के ललकारने पर भयंकर प्रतिशोध लेता है। उसमें द्रौपदी के केश-कर्षण का भी रोष है। इसलिए दुश्शासन का जितना भयंकर और कुत्सा से भरा हुआ वह बध करता है, वह स्वाभाविक प्रतीत होने लगता हैं।

हिडिम्बा और घटोत्कच 'कालजयी' के विशिष्ट पात्र हैं। इनके चरित्र की रेखाओं को स्वयं खींचकर मिश्रजी ने उसमें रंग भरे हैं। ये पात्र बहुत सजीव भी हैं। हिडिम्बा में प्रेयसी, पत्नी और माता का स्वरूप एक साथ समन्वित हो गया है। घटोत्कच परम वीर है, लेकिन विनय और पितृभक्ति का भी प्रकर्ष उसमें दिखाई पड़ता है। हिडिम्बा में पति के प्रति अपूर्व भक्ति है। वह भीम के लिए समर्पिता है। अपने पति की निन्दा वह सुनना भी नहीं चाहती है। वन्य जीवन में रहते हुये भी उसका मन भारतीय संस्कृति में ढला हुआ है। इसके सौन्दर्य के अंकन में मिश्रजी प्रभावशाली उपमानों की योजना करते हैं। घटोत्कच में मातृ और पितृ भक्ति है। पाँचवें अंक में उसके वीर वेश का प्रभावशाली चित्रण हैं। उसका प्रवेश अत्यन्त नाटकीय है। पिता के शत्रुओं पर उसका रोष है। अपूर्व शौर्य से भरे हुये घटोत्कच को मृत्यु का भय नहीं है। उसे भीम रोकते हैं तो उनका प्रतिवाद करता है। यह अवज्ञा नहीं बल्कि पिता की सहायता की व्यग्रता है। उसका युद्ध-कौशल अपूर्व है। कर्ण के सेनापति होते ही घटोत्कच का उपद्रव शुरू हो जाता है। कुरुवाहिनी को लगता है कि उनका अंग वज्र का बना है। वह दुर्जय है। उसे केवल कर्ण से शत्रुता है। कौरव वाहिनी को वह मंदराचल

की तरह मथता है। इसके चरित्र को मिश्रजी ने बहुत मनोवैज्ञानिक बनाया है। हिडिम्बा और घटोत्कच से सम्बन्धित प्रसंगों में मिश्रजी की प्रतिभा का उत्कर्ष है।

अर्जुन संयमी और कर्मवीर है। उसके मन में पुत्रशोक की पीड़ा है। लेकिन वह साहसी योद्धा है। इस काव्य के चौथे सर्ग में वह द्रौपदी की ललकार से प्रेरित होकर कर्ण से युद्ध के लिए प्रतिश्रुत होता है। द्रोणि से युद्ध में पराक्रम दिखाता है। धृष्टद्युम्न को बचाता है। वह कहता है कि गाण्डीव मेरी रसना है और मेरा शर शब्द है। कर्ण पर वह व्यंग्य करता है किन्तु उसकी वीरता की प्रशंसा करता है। वह वीर है, क्रूर नहीं है। भीम के क्रूर कर्म को देखकर जड़ हो जाता है। दुश्शासन की मृत्यु पर उसकी आँखों में दया की किरणें झाँकती हैं।

मिश्र जी के मन में दुश्शासन के प्रति विशेष पक्षपात है। अश्वत्थामा के समान इस पात्र के सृजन में भी कवि ने सहानुभूति उसके साथ डाल दी हैं। शायद उसका बीभत्स बध मिश्र जी की करुणा का प्रेरक है। उन्होंने उसके दुष्कर्मों को विस्मृत करके उसका पुनर्सृजन किया है। मिश्र जी का दुश्शासन वीर, साहसी, मृत्यु भय से अतीत, पत्नी में अनुरक्त और विनोदी है। स्वप्न में पति का अनिष्ट देखकर भयभीत पत्नी का वह प्रबोधन करता है। उसके मन में अग्रज कुरुराज, भानुमती तथा कर्ण के प्रति श्रद्धा का भाव है। अग्रज का आज्ञापालक है। पत्नी की शक्ति का स्रोत है। वह भीम से युद्ध करते समय कहता है कि दायाँ हाथ जो दान और शत्रुजय करता रहा है, उसी से मैंने द्रौपदी के केश खींचे हैं। अन्तिम समय में वह धर्म की कसौटी विपत्ति को मानता है। वह बध के समय भाई का स्मरण करता है। भाभी को माता के रूप में और पत्नी को सती के रूप में स्मरण करता है। अन्त में माता-पिता को प्रणाम करता है। उसका चरित्र दीप्त हो जाता है।

भीष्म पितामह के चरित्र की कुछ रेखायें ही उभरी है। वे ज्ञानी और ध्यानी हैं। ब्रह्म ज्ञान से सम्पन्न हैं। कौरव और पाण्डव के युद्ध का स्मरण करके बहुत दुखी हैं। द्रौपदी के प्रण और अपमान को याद कर उन्हें क्षोभ है। उनकी आँखों के सामने कुल बधू का अपमान हुआ था। कर्ण को अपने वंश का जानकर उनका स्नेह उमड़ पड़ता है। धर्मराज बहुत दुर्बल हैं। वे पराजित होते हैं और भीम उनकी पराजय से क्रुद्ध होता है। वे अपने को वासुदेव का अनुचर मानते हैं। कृतवर्मा कूटनीतिज्ञ, धीर और वीर है। दुर्योधन के प्रति उसमें अटूट निष्ठा है। मलयध्वज किशोर वीर है। वह मृत्यु से निर्भय साहसी है। धृष्टद्युम्न युद्धवीर है। युद्ध करता है। लेकिन अश्वत्थामा को देखकर भय से काँपने लगता है। धृष्टद्युम्न ने द्रोणाचार्य का बध किया था, इसलिए मिश्रजी की उससे घृणा है। क्षेमधूति युद्धवीर है। वृद्ध होकर भी प्रचण्ड युद्ध करता हुआ भीम की गदा से वीर गति को प्राप्त करता है। एक वृद्ध का बध करने से भीम का चरित्र अपकर्षित

होता है।

नारी पात्रों में हिडिम्बा के अतिरिक्त भानुमती, द्रौपदी, वासन्ती और कुन्ती इस काव्य में विकसित होने वाली नारियाँ हैं। भानुमती गौरवशालिनी है। उसे देखकर कर्ण तथा दुश्शासन दोनों श्रद्धावनत हो जाते हैं। वह अपने पति के प्रति समर्पिता है। मर्यादाओं का ध्यान रखती है। देवरानी वासन्ती को पुत्री के समान स्नेह करती है। द्रौपदी में प्रतिशोध की भावना है। वह रूपसी है। भीम के पराक्रम पर मुग्ध है। उसे अजेय मानती है। उसके मन में प्रतिहिंसा की ज्वाला प्रचण्ड है। वह कहती है कि कर्ण से अर्जुन नहीं युद्ध करेंगे तो मैं युद्ध करूँगी। घटोत्कच के प्रति उसका सहसा उमड़ पड़ा मातृत्व भी उसकी स्वार्थपरता से प्रेरित है। वासन्ती की अवतारणा मिश्रजी का कौशल है। वें दुश्शासन को महिमा-मण्डित करने के लिए इसे काव्य में ले आते हैं। वह शीलसम्पन्न है। पलकों से पति के पद को चूमती है। वह पति के जीवन की मूरि और उसके कर्म की पताका है। इसके रूप के चित्रण में कवि अनेक उपमानों की योजना करता है। वासन्ती अपने पति के सम्बन्ध में एक दुःस्वप्न देखती है। फिर युद्ध के परिणाम की आशंका से भयभीत हो जाती है। वह भयविह्वल हो जाती है। किन्तु मानव की अटूट परम्परा में उसका दृढ़ विश्वास है। वह सती होकर उदात्त बन जाती है। कुन्ती में गहन पीड़ा है। अर्जुन और कर्ण दोनों उसके पुत्र हैं और इन दोनों के स्नेह का द्वन्द्व उसके मन में है। वीरों की जननी होकर भी परिताप से भरी हुई है। पाप का बोध उसको विक्षुब्ध करता रहता है। वैभव और भोगलिप्सा से पीड़ित कुन्ती के मन में कुलीनता का परिताप है।

कुल मिलाकर मिश्रजी के पात्रों में बैबिध्य है। जितने प्रमुख पात्र हैं वे सभी वीर कर्म में विश्वास करते हैं। वे मृत्यु के भय से परे हैं। द्रौपदी कहती है कि जीवन का मूल्य मरण से अधिक नहीं है। मिश्रजी दैवगति और कर्म का द्वन्द्व मानते हैं। लेकिन उनके अनुसार काल की गति दुर्निवार है। फिर भी कवि पौरुष को बहुत महत्व देता है। पुरुष का पौरुष अजेय है। मिश्रजी वीर धर्म को दारुण मानते हैं। क्रोध और वीर कर्म दोनों विपरीत हैं। मनस्वी योग-वृत्ति और रण-वृत्ति में भेद नहीं मानते हैं। कर्ण कहता है कि यदि वीर गति दैवगति से विवश बन जाय तो वह हेय है। जिनके मन में अनागत की, होनी की और दैव गति की चिन्ता नहीं होती है, निश्चय ही वे अपराजित हैं। नीति और धर्म का जन्म रण-भूमि में होता है। मृत्यु सनातन गति है। जगत में एक दिन निश्चित ही मृत्यु होती है और रण, मृत्यु-रण के लिए होता है। वीर कर्म सब ओर से मुक्त होता है। इस तरह से मिश्रजी काल को दुर्निवार मान कर वीर कर्म को मनुष्य के जीवन का लक्ष्य मानते हैं। युद्ध भूमि को नीतियों और धर्मों की जन्मदात्री मानते हैं। लेकिन युद्ध ही होता रहे तो मानवता का विनाश हो जायेगा। स्वयं मिश्र जी गाँधी की हत्या के बाद विचलित हो गये। सोचा कि देश हिंसा से ग्रस्त हो गया है। युद्ध के सम्बन्ध में उनका विचार केवल वहीं तक ग्राह्य है जहाँ तक वह जीवन और मूल्यों का रक्षक है। उनका यह कथन सत्य है कि कर्म के बन्धन,

कर्म की कला से खुलते हैं। वे पौरुष की प्रतिष्ठा करते हुये भी नियति और काल को दुर्निवार मानते हैं। पुरुष बली नहीं है, काल बली है। सबको कर्म का समान फल नहीं मिलता है। जीवन के इन मूल्यों को मिश्रजी के पात्र मौखिक रूप से कहते हैं और इन्हीं के अनुसार जीवन में व्यवहार भी करते हैं।

मिश्रजी ने वीरता, युद्ध, कर्मफल, पुरुषार्थ नियति और काल की दुर्निवारता पर समूचे काव्य में कई स्थलों पर अपना विचार प्रगट किया है। 'कालजयी' वीरकाव्य है। वह पुरुषार्थ और नियति पर विचार करता है। इसलिए इन विषयों पर विचार करना मिश्रजी के लिए स्वाभाविक था। इसके बाद मिश्रजी का दूसरा प्रिय विषय प्रेम और नारी है। वे नारी के कई रूप मानते हैं- मायाविनी नारी, नारी का कामिनी रूप, मातृरूपा नारी, धर्म स्वरूपा नारी, जीवन संगिनी आदि। वे नारी को शक्ति रूपिणी मानते हैं। नारी धर्म की पताका है। लेकिन मायाविनी नारी नर की निष्ठा को मिटा देती है। मोहमयी नारी जगत की शक्ति का मूल है। कामिनी सदैव स्वप्न देखती है। लेकिन नारी का जीवन इतना महिमामय होता है कि नर सदैव उसके सामने शिशु होता है। स्त्री-पुरुष के सम्बन्धों में वे दाम्पत्य जीवन को ही श्रेयष्कर मानते थे। इसमें भी उनका मानना था कि एक पत्नीव्रत धारियों का धर्म अविचल होता है।

बुरे कर्मों का फल मनुष्य को भोगना पड़ता है- 'विष बीज जो तुमने बोये फल उसमें लगेंगे किसी दिन तो निश्चय है।' प्रसाद के समान मिश्र जी भी मानते हैं कि प्रकृति प्रतिशोध लेती है- 'दारुण सदैव प्रतिशोध है प्रकृति का।' कवि ने जीवन में शील को महत्वपूर्ण माना है। क्रोध में मनुज दनुज बन जाता है। वही शील और विनय में देवता होता है। मिश्रजी ने राग रस को देही का भोग माना है। लेकिन वे कल्पना के राग-रस के विरोधी थे। छायावादियों के विरोध में उन्होंने राग-रस का परिणाम आवश्यक माना है। सन्तानों को जन्म देकर ही कोई जीवन के ऋण से छूट सकता है। पितृ ऋण से मुक्ति का यह उपाय भारतवर्ष का रूढ़िवादी सिद्धान्त है जो आज के वैज्ञानिक युग के अनुरूप नहीं है। किन्तु मिश्रजी सनातनी थे। उन्हें यही उचित लगता है कि राग-रस में डूब कर, कर्म की कला से कर्म के बन्धन को खोलकर और सन्ततियों का प्रजनन करके ही जीवन के ऋण से कोई मुक्त हो सकता है। वैसे मिश्र जी का यह विचार एकदम सनातनी है।

इस काव्य का एक प्रधान गुण है नाटकीय विधान। घटनाओं, पात्रों की भंगिमाओं तथा कथोपकथनों से यह नाटकीयता प्रगट हुई है। इस काव्य की कथा का नियोजन भी भारतीय नाट्यशास्त्र के अनुकूल करने की चेष्टा की गई है। जैसे नाटक में घटनाओं की सूचना पात्रों के कथन से मिलती है, उसी प्रकार इस काव्य में भी पहले की बीती हुई घटनाओं की सूचना पात्र देते हैं। पात्रों की उपस्थिति भी नाटकीय है। घटोत्कच नाटकीय ढंग से उस समय उपस्थित होता है जब पाण्डव दल चिन्तातुर है। कुन्ती भयंकर द्वन्द्व और परिताप में भीष्म पितामह की शरशैय्या

के निकट जाकर कर्ण के जन्म की कथा कहती है और उसकी बातें पूरी भी न हो पाई थीं कि कर्ण उसकी बात पूरी करता हुआ उपस्थित हो जाता है। धृष्टद्युम्न शिविर में छिपकर द्रौपदी की रोष भरी बातों को सुनता है। पहले सर्ग के आरम्भ में दुर्योधन तथा अश्वत्थामा के संवाद, अश्वत्थामा कर्ण संवाद, दूसरे सर्ग में हिडिम्बा तथा घटोत्कच संवाद, तीसरे सर्ग में कुन्ती भीष्म पितामह तथा कुन्ती-कर्ण संवाद, चौथे सर्ग में दुश्शासन-वासन्ती संवाद, पाँचवें सर्ग में कर्ण-अश्वत्थामा संवाद, छठवें सर्ग में दुश्शासन-कर्ण संवाद, सातवें सर्ग में कर्ण-अश्वत्थामा संवाद, आठवें सर्ग में दुर्योधन-कर्ण तथा कृतवर्मा-अर्जुन के संवाद नाटकीयता से परिपूर्ण है। कहीं-कहीं काव्य पर नाट्य तत्व भारी पड़ गया है।

'कालजयी' अपूर्ण होने पर भी आधुनिक प्रबन्ध-काव्यों में उल्लेखनीय है। वीर रस के काव्यों में तो यह प्रबन्ध काव्य अप्रतिम है। श्यामनारायण पाण्डेय के किसी भी काव्य में ऐसी वस्तून्मुखता और चरित्रों का ऐसा विस्तार नहीं है। उनके काव्य का फलक भी इतना विस्तृत नहीं है। दिनकर के प्रबन्ध काव्यों में लक्ष्मीनारायण मिश्र की अपेक्षा विचारों का विस्तार तथा गहनता अधिक है। कर्ण पर लिखा गया 'रश्मिरथी' व्यक्ति की महत्ता का प्रश्न जिस तरह से उठाता है, मिश्रजी वैसा नहीं कर पाये हैं। अज्ञात कुल-शील का व्यक्ति क्या अपने उदात्त गुणों से महापुरुष नहीं बन सकता है? मिश्रजी ने कर्ण के इस पक्ष का स्पर्श किया है, किन्तु गहराई में नहीं जा पाये है। लेकिन यह भी सत्य है कि मिश्रजी ने कर्ण की वीरता को जिस व्यापक फलक पर रखा है, दिनकर वैसा नहीं कर पाये हैं। कर्ण के वीरकर्म में सम्पूर्ण जीवन की व्याप्ति है। मिश्रजी के समान रस योजना, वस्तून्मुखता और चरित्रों की कल्पना दिनकर में नहीं है। यह काव्य छायावाद के प्रकर्ष काल में आरम्भ हुआ और प्रगतिवाद के समय तक लिखा जाता रहा। मिश्रजी की वस्तून्मुखता छायावाद के विरोध में थी। फिर प्रगतिवादी काव्य-प्रवृत्ति को अस्वीकार करते हुये उन्होंने भारतीय जीवन मूल्यों को प्रतिष्ठित किया। यह काव्य आधुनिकता से थोड़ा हटा हुआ है। मिश्रजी के आदर्श वाल्मीकि, व्यास, कालिदास, माघ और भारवि थे। इसलिए वे संस्कृत काव्य की विशेषताओं से जुड़ना चाहते थे। इस दृष्टि से 'कालजयी' हिन्दी में अकेला प्रबन्ध काव्य है। यह काव्य छायावाद और प्रगतिवाद काल में इन काव्य-प्रवृत्तियों से जिस तरह अलग होकर काव्य में उल्लेखनीय बन गया है, उसी प्रकार आधुनिक काल में संस्कृत महाकाव्यों की शैली और सनातनी जीवन व्यवस्थाओं को स्वीकार कर यह काव्य आधुनिक जीवन में आकर्षण का विषय बना रहेगा।

– डॉ० विश्वनाथ प्रसाद

२५ दिसम्बर, १९९३

अन्तर्जगत्

अन्तर्जगत्

१

नाथ ! करूँ अन्तर्जीवन में जब मैं अनुभव तेरा
अन्तस्तल तव मधुर प्रीति का हो नन्दन-वन मेरा !
जब विक्षिप्त शोक- सागर के तट पर निरखूँ लहरें
मूक सृष्टि के करुण तपोवन में नीरव घन छहरें !!

२

निपट शून्य की सहज शान्ति में मचे खलबली ऐसी
तब निकलें उद्गार हृदय से नाथ ! विषमता कैसी ?
'रोम-रोम से हृदय-रुधिर से' जब 'तज जगती-सुख को'
प्रेमी कहे--'चाहता तुमको' निरखूँ उसके मुख को !!

३

स्वप्न- राज्य की अमर सृष्टि के नीरव नवल गगन में
अमर, किशोर, सरल-सुन्दर स्वर निरख पड़ें जब मन में
उज्ज्वल पंख समेट मनोहर मनहर, मन्थर गति से
नक्षत्रों में मिल जायें तब चाहूँ अविरति गति से !!

४

विचलित हो मन तनिक जहाँ मम मानव- करुणा-मग से
ऊपर से आकाश बिलग हो निकले वसुधा पग से।
मानस- वृत्ति- निचय निर्मम मन से, जब निकले गाने
हों वहिरंग- प्रकृति में बिखरी, अन्तर्जग की तानें !!

५

मैंने वे विष-वाण चलाये तेरे कोमल मन में
अमृत-धार बह चली अचानक उससे केवल क्षण में।
संचित की थी कब यह अक्षय राशि अगाध सुधा की
विधि ने; बसती शीतलता जिसमें सारी वसुधा की!!

६

तेरा अमिट चित्र खींचा जो आकुलता पर इतनी
आज देखता रेखाएँ उसकी टेढ़ी हैं कितनी!
नहीं भूल है देव! तनिक भी इसमें तेरे जन की
तीव्र जलन है कथा जानती इसकी; मेरे मन की!!

७

छेड़ो अब न, मौन रहने दो, पूछ रही क्या मुझसे?
प्रिये! शेष है क्या नूतन जो आज कह सकूँ तुझसे!
वही पुरातन कथा सामने तव चिर दिन से चलती
बीती नहीं; घड़ी यह अन्तिम आज जगत से टलती!!

८

तुमको देख हुई वह मुझको भय-लज्जा जो इतनी
उसके विना सत्य में होती नीरसता थी कितनी?
जो कुछ है सौन्दर्य सत्य के भीतर बसता मेरे
उसकी सृष्टि हुई थी पहले दृढ बन्धन में तेरे!!

९

मुझे देख इस अतल-हृदय में रोये नभ के तारे
आकर कहा वायु ने धीरे मेरे श्रवण-किनारे।

'आओ, तुम्हें उठा लूँ ऊपर सुखमय शान्त गगन में'
इतने में छिड़ गया मधुर संगीत, विनाश-भवन में !!

१०

प्रिये ! वंचना कर सकती तू कितनी, मुझसे मेरी ?
बजती है अनादि वह सम्मुख मोहक मुरली तेरी !
जीवन के उस नव प्रभात की सुखमय अमित उमंगें
स्मृति-मंदिर में अंकित करतीं जिसकी तरल तरंगें !!

११

दिला सत्य विश्वास, वंचना की है तूने जितनी
मादकता होती न कहीं यदि उसके भीतर इतनी।
फैला है सौन्दर्य हृदय के ऊपर जो इस जग में
कहीं पता होता क्या उसका कुछ भी सुख के मग में ?

१२

प्रेम-जगत ! अब तक तुमने कुछ कभी न ली सुधि मेरी
लीन हुई यह करुण कहानी नीरवता में तेरी।
मुझे याद वह बात तुम्हारी है उस सुन्दर निशि की
'प्रेमी-मधुर-अंक में बसती शान्ति स्वर्ग के शशि की' !!

१३

यह उपासना कभी न बाहर होवे अन्तस्तल की
नहीं समायेगी अन्तिम सीमा में भी इस थल की !
जो कुछ आकर स्वर्ग बना है, इस जगती में मेरा
इस उपासना ने ही उसको है चिर दिन से घेरा !!

१४

सुनते, मनुज अमर होता है मरकर सत्य- सहारे
जगत मरे यदि उसी सत्य के पावन शान्त किनारे
नियति- नेमि के नुपूर- रव से मुखरित विश्व- सदन में
पूजा होगी मृत्यु निरन्तर तेरी तब प्रति- क्षण में !!

१५

शीतलता हिमकर-किरणों में जीवन मलय पवन में
मैं अविराम नृत्य लहरों में आकुलता हूँ घन में।
छिड़ता है संगीत गगन में सिन्धु- किनारे मेरा
दिनमणि के उस अलख लोक का मैं हूँ शान्त सवेरा !!

१६

मेरी सरल बाँसुरी के स्वर तम- पूरित अम्बर में
अमर-तेज की अगणित लहरें भर देते पल- भर में।
मधुर रागिनी बजती उसमें मानस के चिर सुख की
विस्मृत होती करुण कहानी जिसकी लय में दुख की !!

१७

कैसा जग का मधुर प्रेम है, क्या उसकी परिभाषा ?
समझी नहीं आज तक मैंने, छोड़ जगत की आशा !
मैं आसक्ति- रहित, चिर- शीतल नियति- ज्योति को घेरे
होते वे आसक्त नहीं एकान्त भक्त भी मेरे !!

१८

अति विक्षुब्ध असीम सिन्धु पर सुन्दर प्रातः रवि सी
बने श्याम नीरद में अविचल नील अनन्त सुछवि सी।

दुख में करुणा- सम, विस्मृति में प्रेमी के चुम्बन सी
नित्य मधुरिमा लसती तुझमें, निपट निरालेपन सी !!

१९

कविता की वीणा बजती जब मन- मन्दिर में मेरे
तेरी स्वर- लहरी की लहरें रहतीं मुझको घेरे !
मेरे मोहन जब निद्रा के सुखद सदन में जाता
सरस स्वप्न- संगीत सरिस तेरा सुमुधुर स्वर आता !!

२०

खड़ी हुई रंगीन गगन के प्रात: काल किनारे
बजा रही अपनी मुरली में वे सुमधुर स्वर सारे।
किन्तु असीम तिमिर-मय कर तूने सुखमय जीवन को
क्रन्दन- पूरित किया अचानक मेरे मोहित मन को !!

२१

मार्ग- विहीन, असीम शून्य के सुन्दर जग में ऐसे
तेरी रंगभूमि तक प्रियतम, पहुँच सकी मैं कैसे ?
पूछो मत अब तक न ज्ञात है यह रहस्य कुल मुझको
मूक पुकार समझ मानस की देख रही हूँ तुझको !!

२२

उसी पुरातन स्मृति की गाथा, गाते मेरे जितने
बीते दिवस आज मधुमय अवगत होते वे कितने ?
यह है एक निराशा की बस सुन्दर अमर कहानी
पार नहीं पा सकती इसमें मेरी कोमल बानी !!

२३

बढ़ती चली जा रही भीतर जो विपत्ति नित मेरे
अमर भाव है वह जगती का अन्तरतम को घेरे !
उसको लेकर रचना होगी जिस अनादि अभिनय की
थम जायेगी आकुलता उसको लख मृत्यु- निलय की !!

२४

आज बज उठी तेरे कर से वीणा मेरे मन की
आशातीत अतिथि ! कैसी लीला तेरी इस क्षण की ?
जागृत तंत्री हुई अचानक जो चिर दिन की सोई
सुला सकेगा क्या उसको फिर इस जगती में कोई ?

२५

जीवन- सागर के उस तट पर अपने सुन्दर जग की
सृष्टि अनोखी की है तूने जहाँ न रेखा मग की !
नीचे सिन्धु भर रहा आहें हँसते नखत गगन में
सबसे दूर जल रहा दीपक तेरे भव्य भवन में !!

२६

गिरकर तेरे मधुर अंक से आया नीचे जितने
वहाँ अस्त- से लख पड़ते थे नभ के तारे इतने !
एकाकार असीम- बीच उस करुण कहानी जग की
अंकित- सी लख पड़ी सहचरी जीवन के प्रति पग की !!

२७

मनस्तत्व का निपुण पारखी तन्मयता का नेमी
अमर कल्पना का स्रष्टा अन्तर- विरोध का प्रेमी।

सार- भूत सौन्दर्य सृष्टि का, रहता मेरे मन में
मेरी आशा का निवास है नवल प्रभात- गगन में !!

२८

मरण- नृत्य के नूपुर की झंकार एक ही क्षण में
हाय, गुँजा दी तूने कैसे मेरे नीरव मन में ?
मधुर भक्ति ने सहसा आकर अये मोहनी तेरी
झोंक दिया कैसे काया को प्रलय- वह्नि में मेरी ?

२९

कोमल कर में यह विष- भाजन लिये सामने मेरे
खड़ी हुई तू , देख रहा मैं सुन्दर मुख को तेरे !
पीकर यह विष- पात्र आज मैं जाऊँगा जगती से
निपट मृत्युञ्जय हूँगा , या तव अनुकम्पा महती से !!

३०

निरख शान्ति के वक्षस्थल पर बहती दुख की धारा
अर्द्धनिशा में उन अगणित तारों का मूक सहारा।
मानस- प्रतिमा ! देखा मैंने तेरे सुन्दर मुख को
हृदय कह उठा-'रख न सकोगे जग में इस चिरसुख को !!'

३१

तेरी धुँधली स्मृति के आगे झुकी विश्व की क्षमता
भला असीम जगत् यह तेरी कर सकता है समता ?
सत्य कहीं होगी यदि निर्मम यह चिर- पूजा मेरी
तो देवत्व- लाभ कर लेगी पावन प्रतिमा तेरी !!

३२

आशा और निराशा की जब उलझन एक पहेली
अवगत होती है मानस की करुणा परम सहेली।
मधुर सुरभि तब एक साँस में व्यापक नन्दन-वन की
दग्ध वासना की गोदी में होती अतिथि गगन की ।।

३३

अमृत-राशि तव शून्य न होगी अल्प पात्र को मेरे
लेकर मम कोमल हाथों से चाहे मुझको फेरे।
मायामयि! अतृप्त आऊँगा मैं समीप से तेरे
किन्तु न जायेंगे तव सम्मुख फिर कदापि कर मेरे ।।

३४

उर पर तव, सिर मेरा हो मधुर अंक में तेरे
थमती रहे वेदना की धड़कन जब प्रियतम! मेरे।
जब असीम सौन्दर्य जगत् का स्मृति हो मेरे मन में
अन्तर्जग की विकसित सुषमा निरखूँ तेरे तन में !!

३५

तिल-तिल करके जला दिया मन सुन्दर जग को जिसने
मानस की उस अग्नि-राशि को आज बुझाई किसने?
जो कुछ जलने-योग्य रहा वह जलता अब तक आया
किन्तु शेष है अमर, न उस पर पड़ी ध्वंस की छाया !!

३६

जिस अनन्त-जीवन-सागर के उर पर, मृदुल हिलोरे
खाता, बहता चला जा रहा जगती से मुख मोरे!

प्राण ! मानकर उसके ऊपर तुमको ही ध्रुवतारा
अब तक मैंने अपना विस्तृत नीरव मार्ग निहारा ।।

३७

जुटते और टूटते जग के नाते स्वप्न- सरीखे
नहीं चाहता मैं उनको, वे लगते मुझको तीखे !
मिलन- रात्रि के चिर चुम्बन से मम सम्बन्ध निराला
केलि- सदन में मैं जलकर, हूँ करता मधुर उजाला !!

३८

उस असीम तम के मन्दिर में बजती मुरली मेरी
अन्तस्तल के नव निकुंज की बुझती पावक- ढेरी !
स्पन्दन पैदा कर देते स्वर जिसके गगन- हृदय में
सृष्टि- नियामक होकर भरते जीवन नखत- निचय में।

३९

होती यदि न वेदना इतनी तेरी व्यापक स्मृति में !
भला मृत्यु को कौन बनाता तब सुन्दर संसृति में ?
सब कुछ हो उठता असह्य आनन्द तुरत जीवन का
यदि न शोक बन जाता आकर देव, मनुज के मन का !

४०

आनंद- सिन्धु ! खड़ा जब से मैं तेरे क्षुब्ध किनारे
अस्त हुए जीवन अनन्त के कितने सुन्दर तारे !
उठती चली जा रहीं तुझमें क्रमश: अमित तरंगें
ये न रुकेंगी, रुक जायेंगी मेरी किन्तु उमंगें !

४१

जन्म- जन्म की मादकता में गूँज रही ध्वनि तेरी
जिसमें उलझी है जाकर मतिमन्द चेतना मेरी।
मानस के इस अन्धकार में सन्नाटे के जग की
सृष्टि कर रही आहट आकर तेरे कोमल पग की !

४२

शीतल स्निग्ध प्रकाश ज्ञान का तेज- रहित जब होता
विश्व-सम्मिलन-सुख का रुकता जब जगती में सोता।
इस अत्यावर्त्तन से होता कुछ भी क्षोभ न मुझको
मेरे हृदय ! देखता हूँ मैं लेकर कर में तुझको !

४३

सुख-दुख, जीवन-मरण, हास्य-परिताप, प्रकाश-तिमिर से
लग जाते जब गले परस्पर निकल विश्व- मन्दिर से
निकल भागता तब मानस मम मेरे कोमल कर से
विस्मय- मुग्ध देखता आसन पर, मैं भाव- निकर से !

४४

शत निर्दय आघात किये हैं कोमल कर ने तेरे
निश्चल वीणा में निर्मम हो नीरव मन की मेरे !
किन्तु निरन्तर स्वर निकले जो उनमें अन्तर इतना
नहीं दोष उन आघातों का वीणा का है जितना !

४५

अन्तर्जग की करुण कहानी कहना मुझको आता
यह वहिरंग जगत मेरी आँखों को तनिक न भाता !

वह अनादि व्यापक प्रकाश नित रहता मेरे मन में
जिसकी केवल एक किरण करती प्रकाश जीवन में।

४६

मृत्यु-मूर्त्ति ! सारे प्रकाश, कल्याण अनादि-निलय से
गगन-मुक्ति, निश्वास-पवन सुखमय चिरदिन-संचय से।
खींच, प्रेम-चिन्ता, जग-सेवा आशा-आकुलता से,
सर्वनाश के निविड़ तिमिर में ढँकती निष्ठुरता से !

४७

उसी प्रेम के शुभ प्रकाश में तेरा अलख-उदय हो
तेरे अन्तस्तल के विधि की मुझ पर पूर्ण विजय हो।
मधुर पराजय को आसन पर बिठा उसी मानस के
पूजन निशि-दिन किया करूँगा जोड़ प्राण नस-नस के !

४८

जब वसन्त सौरभ ले आया खोल किवाड़ विजन के
आह ! तभी गत-चेत हुए तुम अय पिक ! जीवन-वन के।
कब इस अवधि-विहीन विरह में अन्तरतर की माया,
फिर अनुगमन करेगी तेरे यौवन-तरु की छाया !

४९

'कलकल' करती कल कलस्विनी, प्रखर वेग से बहती
अगणित लहर-कंठ से मानों निर्मम मन से कहती।
'आ जा मेरे हृदय ! चूम लूँ, आज चरण मैं तेरा
फिर आगमन न होगा प्रियतम, इस भूतल पर मेरा।'

५०

तब अनन्त अनुरक्ति- तंत्रि में भूल विश्व की पीड़ा
किया सत्य- आघात हृदय ने मेरे केवल क्रीड़ा।
हृदय- द्वार पर धक- धक कर स्मृति जिसकी सरल कहानी
कहती है उस चिर- वियोग की खोल भावना- बानी !

५१

वशीभूत करने का इस उन्मत्त हृदय को मेरे
मोहन- मंत्र दिया विधि ने क्या इन नयनों को तरे ?
निकल- निकलकर सहसा इनसे मधुर तेज की किरनें
मेरे जग के तिमिर- सिन्धु में आकर लगतीं तिरने।

५२

बदल गया सम्पूर्ण जगत् से मेरा पहला नाता
क्यों यह करुण कथा मानस की समझ नहीं मैं पाता !
जिसने की आवेग- सृष्टि थी यह मेरे अन्तर में
विश्व- भवन से खींच लिया उसने मुझको पल- भर में।

५३

विश्व- वस्तु के पीछे मेरी वही प्रेयसी तब से
है अनन्त जीवन की सोई, उसे न देखा जब से !
परम सत्य वह, मुझे न छोड़ेगी इस आकुल जग में,
कितनी दूर चला जाऊँ मैं चाहे विस्मृति- मग में !

५४

तेरी भय- चिन्ता ने मेरे करुणा- विधुर हृदय में
सुधा- वृष्टि की जीवन- सुख के सुन्दर मृत्यु- निलय में।

देवि ! देख निज हृदय- द्वार पर मुझे माँगते भिक्षा
हृत्तंत्री के उन तारों से निकली क्या न तितिक्षा ?

५५

हँसते हुए तुम्हें देखा था, हिमकर ! नील गगन में
जिस दिन प्रथम चरण डाला था मैंने इस जीवन में !
अगणित बार तुम्हें देखा, पर कभी न थे तुम इतने
आज जगत से बिदा- समय तुम सुन्दर लगते जितने !

५६

तीव्र प्रतीक्षा में बहती थी वह विपत्ति की धारा
शिथिल हो गया मेरे तन का जिसमें शोणित सारा !
'कितना सुखमय है प्रवेश करना इस रम्य निलय में
सर्वनाश के' यही भावना उठती वृत्ति- निचय में !

५७

गगन-नीलिमा, नक्षत्रों की राशि, किरण हिमकर की
मधुकर-कूजन, पिक-सुमधुर- स्वर, लोल लहर सागर की।
धरती, नदी, प्रसून, लताएँ, झोंके मलय पवन के
चिर-सहचर ये छोड़ रहे मुझको मेरे जीवन के !

५८

ज्ञात नहीं था मुझे तुम्हारे अन्तस्तल का जलना
उस कातर भिक्षा को मैंने समझा तेरी छलना।
तेरे स्वर की वह आकुलता आकर मेरे मन में
करुणा भरती है दारुण प्रत्येक रक्त के कण में !

५९

बैठ असीम विश्व के नीरव अगम वेदना- वन में
तप करता हूँ मैं चिर- दिन से तेरे कोमल मन में।
मुझे देवता जग कहता है सुन्दर शोक- सदन का
पूजा होती मेरी, मैं हूँ दिन- मणि भाव-गगन का।

६०

सर्वनाश के भीतर मेरे अन्तस्तल के जिसकी
सृष्टि हो रही उस जगती में पूजा होगी किसकी ?
मुक्ति कहीं मिल जाती तुमको यदि अतीत बंधन से,
इस जग के भी तुम्हीं देवता बन जाते इस क्षण से।

६१

लटका सुन्दर चित्र गले में मैं जगती के दुख का
आता तेरे पास निरन्तर रंग चढ़ाये सुख का।
मुझे सामने भी न देखते व्यस्त चित्र- दर्शन में
उसकी पूजा में देखोगे मुझको अपने मन में।

६२

अमर मधुर संगीत गूँजता, मेरे अन्तस्तल में
जिसकी सरस तान ऊपर उठ, अन्तरिक्ष निश्चल में।
फैला उज्ज्वल पंख मनोरम, क्रमश: मितली जाती
नक्षत्रों में प्रेम- विसुध मति पुन: न जग में आती।

६३

वारिद में चपला, मानस में सुन्दर प्रतिभा जैसे
शब्दों में संगीत, मृत्यु में सुख व्यापक है वैसे।

मानव- जीवन- अन्तर्गत वह, सत्य महान निराला
तेरी अमर सृष्टि में करता नूतन नित्य उजाला !

६४

मुझ तापस के निकट साज सज, मलिन स्वर्ग के सुख से
नाच रही; झड़ती वंचकता तेरे मोहक मुख से !
संध्या के इस अन्धकार में चिर- विलाप यह तेरा
कहता है, फिर कभी न होगा हा ! वह सुखद सवेरा !

६५

स्वर्ण- सदन रचना अनन्त में कितना तुझको आता
कुहुकिनि मेरी अमर कल्पने ! समझ नहीं मैं पाता !
देवि ! विनिर्मित यह सब तेरी सुन्दर स्वर्ग- कहानी
मंत्र- मुग्ध होती है जिसका अनुशीलन कर बानी !

६६

संध्या के इस भीषण आतुर जलते हुए गगन में
जो अनादि छवि लख पड़ती है, उसकी छाया मन में।
कभी- कभी आकर उस सुन्दर सतत- प्रकाशित जग की
मधुर भावना में सुधि करती उसके कोमल मग की !

६७

रपटन बढ़ती चली जा रही हाय ! प्रलय के मग की
सत्ता रह सकती क्या इसके विना, किन्तु इस जग की ?
बजती विश्व- रागिनी सुमधुर इसी प्रलय- मन्दिर में
सुख- दुख खेल रहा जगती का इसके शान्त अजिर में !

६८

चला गया सर्वस्व जगत से पलक मारते मेरा
मधुर वेदना ! बचा हुआ है, अब केवल सुख तेरा !
मैंने ढँक कर इसे रख लिया है निश्वास- पवन में
जिसकी धुन में भूल चुका हूँ वह वियोग- दुख मन में !

६९

आज मलिन मुख देख तुम्हारा हिमकर- ज्योति धवल में
प्राण ! पुरातन स्मृति का झोंका आया अन्तस्तल में !
एक भाँति का है संगीत निरन्तर बसता इसमें
शुष्क हृदय मधुमय होता है, डूब- डूबकर जिसमें।

७०

मृत्यु ! चाहना है यदि मेरे ले चलने की तुझको
तो अनन्त की ओर ले चलो जहाँ चाहती मुझको !
मेरे अगणित रूप, न वाधा होगी मेरी गति में
कर दो अन्त भले ही मेरा, अपनी परिमित मति में।

७१

प्राण अनन्त, असीम विश्व के मानव- हृदय- विधाता !
अन्तर्जग की धुँधली स्मृति में नूतन- प्रतिभा- दाता !
यह रहस्य जो खेल रहा है तेरे शुभ आँगन में
समझा नहीं, कहाँ से आया रोना उसके मन में !

७२

नीरव, शान्त और सुस्थिर था प्रेम- सिन्धु यह तेरा
यह क्यों ? मुझे भुलाने को था इसने परदा फेरा !

अन्तस्तल की प्यास प्रबल थी, रुधिर तप्त था सारा
कूद पड़ा मैं आकुल होकर उसमें समझ सहारा।

७३

जिधर चला आया मैं अब तक ठीक जगत है उसके
चला दूसरी ओर, बीच में इतना अन्तर जिसके।
लौटूँ, भेंट हो सकेगी क्या उस जगती से मेरी?
अथवा, चलूँ असीम- ओर अब देता अपनी फेरी!

७४

मेरे कोमल मन को तुमने क्रीड़ा- कन्दुक अपना
बना दिया मेरी आशा को प्रबल पतन का सपना!
मेरे साथ किये तुमने अविचार आज तक जितने
मुझे क्षमा कर दो अपराधी, वे दारुण हैं कितने?

७५

अमर वेदना की धड़कन जब थम जाती है क्षण में
जीवन-ज्वार बैठ जाता जब प्रलय-सिन्धु के मन में।
निपट बेसुरी जब अलापतीं, प्रेम-रागिनी - लड़ियाँ
तब समाप्त होतीं समाधि की मेरी आकुल घड़ियाँ!

७६

जीवन-व्यापी तम-पूरित हो जब यह जगती मेरी
जहाँ न हों नक्षत्र, न हिमकर और न रवि की फेरी।
धूम-केतु, खद्योत-ज्योति भी निरख पड़ें न गगन में
स्मित-विकसित छवि आ विलसे जीवन-धन! तब मम मन में!

७७

चलता चला जा रहा अब तक स्वप्न - लोक में तेरे
उस सुन्दर जगती की धुँधली स्मृति है मन में मेरे !
आज बिसुध-सा खड़ा हुआ हूँ इस असीम के मन में
बहुत दूर आ गया, शान्ति होगी अब इस जीवन में !

७८

यह विरोध का क्षुब्ध सिन्धु जो बीच हमारे क्रम से
उठा है अगणित लहरें वह केवल विभ्रम से !
स्थूल जगत यह बना हुआ है रंग-मंच जो मेरा
उसे न सत्य मानता, क्योंकि आज हृदय है तेरा !

७९

लीला-भूमि आर्द्र यह तेरी मेरे लोचन- जल से
अगम तपेवन चिर-प्रकाश-मय तव मम स्मित अविचल से !
बजती मेरी व्यथा तुम्हारे स्वप्न -गीत के सुख में
हर्ष- विमोहित मुझे देखते अपने व्यापक दुख में !

८०

तेरी स्मृति के मधुर अंक में देख पड़ा यह सपना
'सर्वनाश करना ही सुख है सबसे बढ़कर अपना ।'
उसी नाश के भीतर बसता मेरा जीवन जग में
उस अनन्त की राह दिखाता जो इस दुर्गम मग में !

८१

जिसकी पूजा में ये मेरे बीत चुके दिन इतने
आज अयाचित वर देने आया वह मुझको कितने !
नहीं चाहता मैं वर लेकर तजना अपने मन से
इस अनन्त-पूजा को, उलझी रहे सतत जीवन से !

८२

होती रहीं सतत मानस में प्रलय-सृष्टि ये जितनी
उनके भीतर मादकता अवगत होती थी कितनी ?
उसे जानता है यह मेरा मोह-विसुध मन सारा
अपनी तीव्र जलन में देखा जिसने सुख की धारा।

८३

प्रात: के प्रकाश में शय्या पर तव आनन देखा
प्रतिभा के विकास की उसमें रही न कोई रेखा।
नेत्र खोलते दग्ध हुआ मन हाय ! न जाने कैसे
प्राण ! बता दो मुझे वही, बीतेगा यह दिन जैसे !

८४

क्षणदा- छटा मनोहर उमड़े हुए प्रेम के घन की
दुर्लभ पावन मधुर मत्तता, इस मानव-जीवन की।
संसृति-आर्त्तनाद के भीतर, सुख की क्षीण कहानी
किसने सृष्टि तुम्हारी की जग में, अनन्त की बानी !

८५

जो आनदि- संगीत हो रहा मेरे नीरव मन में
उसकी एक तान ऊपर उठ कहीं समाती घन में।

वृष्टि दया की अन्तरिक्ष के अंतस्तल से होती
जिसके शीतल मधुर अंक में दुख की ज्वाला सोती।

८६

अगणित नीरव नभ के तारे, मेरे विसुध नयन की
प्रतिभा देख शरण लेते हैं व्यापक तिमिर-अयन की !
उनसे निकल ज्योति की रेखा जग की ओर न आती
मूक पवन संगीत निराला अपना सुख से गाती।

८७

वह था केवल स्वप्न-मात्र जागृत हो मैंने देखा
जिसमें डूब रही थी मेरे मन की हिमकर-रेखा।
अब कोमल थीं निर्दय लहरें वे जीवन-सागर की
राह पकड़ती थीं मुझको ले जो अनन्त के घर की !

८८

तेरी मधुर भक्ति की बहती जो मानस में लहरी
नहीं जानते तुम, बसती है शान्ति किनारे गहरी।
उस असीम की नीरवता से उठ संगीत-तरंगें
तेरे सत्य-चित्र लिखती हैं अगणित रंग-बिरंगे !

८९

मार रहा था हर्ष हिलोरें, उस विषाद के मन में
रुधिर-साथ बहती जाती थी स्वर की बिजली तन में !
धड़क रहा है जो चिरदिन से बैठ असीम हृदय में
क्योंकि रुलाना चाहा तुमने उसको मृत्यु-निलय में !

९०

सत्य जान पड़ती यदि मुझको यह असीम की पीड़ा
तो क्षण में रुक जाती मेरी इस जीवन की क्रीड़ा !
मुझे देख पड़ता केवल मेरा दुख जग के मन में
बोझ अनन्त काल का होकर बढ़ता है प्रति क्षण में !

९१

अस्त-सन्निकट रवि की अस्थिर तू है हाटक-रेखा
एक भाव से तुझे ठहरते किसने जग में देखा ?
धड़कन, पर मेरे मानस की बैठ निपट मन-मारे
देख रही है पुरावृत्त के वे ज्योतिर्मय तारे !

९२

अग्नि-राशि से निकल खड़ा मैं नील--अनन्त--किनारे
जलने से जो शेष रहा उस सुन्दर अमर-सहारे !
उसी अमर को अर्पित करता पावन पग में तेरे
देव ! ढँक लिया तूने सुख में अपराधों को मेरे !

९३

यह अन्तर-इतिहास जानते केवल अन्तर्यामी
जिसमें तव असीम जीवन का वेग तीव्रतर-गामी !
'प्रिये' नहीं आदर्श; प्रेम की वंशी के शुभ स्वर से
'हृदय-दान दो' मुझे कहूँगा, खींच मोह-सागर से।

९४

बन्द हुआ संग्राम निरन्तर हृदय-जगत का मेरे
सोई अमर चेतना मेरी, मधुर मिलन में तेरे।

जला गगन के एक किनारे तूने दीपक क्षण में,
लिख डाली मम कथा पुरातन इस जगती के मन में !

९५

पावन मधुर शेष हैं अब तक जो कुछ मेरे मन में
उसके बदले पाया जिसको आज साधना-वन में।
कहीं समझ ले वह न जगत की व्यापक करुण पहेली
गा अपने संगीत भुलाती उसको परम अकेली।

९६

वह अज्ञात एक आँधी थी, जिसने मुझको क्षण में
पटक दिया उत्सव-मन्दिर से खींच व्यथा के वन में !
क्षुब्ध हुए जीवन-सागर की लहरें प्रतिपल गातीं
उस अनन्त की ओर तभी से क्रमशः चलती जातीं !

९७

वही पूर्णिमा और अमा के प्रबल ज्वार-सी आशा
उमड़ी चली आ रही मन में उसकी क्या परिभाषा ?
मधुर थपकियाँ देकर जिसकी सरल हिलोर हृदय में
सुला जगत की इस उलझन को देती मृत्यु-निलय में !

९८

भूले हुए नखत-से नभ में आकुल तिमिर किनारे
किस अनन्त को देख रहे थे वे तेरे दृग-तारे ?
जिस असीम के मधुर अंक में होती तेरी क्रीड़ा
वहाँ नहीं पहुँची क्या अबतक मेरी व्यापक व्रीड़ा ?

९९

अपने लिए निरन्तर करता सृष्टि नवीन जगत की
उलट-फेर करता जैसे नित, रखता सुधि न विगत की।
उसी भाँति मेरे भीतर तुम प्रलय-सृष्टि की धुन में
नहीं देखती उस अनादि तापस को विश्व-सदन में।

१००

विश्व-वेदना के मानस में बजती जिनकी वीणा
वही जानते मेरे सुख की आकुलता की पीड़ा।
शून्य अनन्त शान्त है रजनी, नीरव नखत गगन में
उसके बीच अनादि रुदन यह जागृत मेरे मन में।

१०१

विश्व विभव अन्तर्विभूति, उत्सर्ग मिलन को मेरे
कब तक चलते और रहेंगे, जग के सपने घेरे।
उतर न आओ तुम किरनों से होकर जग के स्वामी
मैं चल पड़ूँ सुना जीवन की, ममता अन्तर्यामी।

•

कालजयी

पहला सर्ग

आज महिमा के सिन्धु व्यास देव ! दास मैं
मन्दमति, हीननर, कामना में कवि की
आया हूँ तुम्हारे सृष्टिसिन्धु के किनारे, जो
दर्शन, पुराण, काव्य और इतिहास का
उद्गम है, जिसकी अनन्त रत्न राशि से
उज्ज्वल है सारा विश्व, तुलना में जिसकी
हीनप्रभ होता है सदैव अलकेश भी
जिसमें प्रविष्ट होके और जिस चाह में
अमर हुए हैं कालिदास, माघ, भारवी,
और जो वे विश्रुत यशस्वि कविजन हैं,
जिनने बनाया भारती का भव्य गेह है।
हाय ! हतभाग्य मन्दबुद्धि जन आज मैं
लेकर चला हूँ वही कामना हृदय में
चाहता चढ़ाऊँ गन्धहीन पुष्प अथवा
उसमें लगा दूँ काँचखंड, जहाँ मणियाँ
ऐसी सोहती हैं कि ज्यों शरद निशीथ में
व्योम लसता है देव तारक समूह से।
जानता नहीं जो किस हेतु किस लाभ से
करने चला हूँ यह साहस असाध्य मैं।
किन्तु, हाय ! मानव के मन की विडम्बना
कैसे कहूँगा और कौन समझावेगा
मुझको, धरित्री रँगी जो पूर्व काल में
वीर जन शोणित से, खेलते हैं उस में
अज्ञशिशु। मायाविनी आशा इस जन को
ऐसे है हिलाती कि ज्यों घोर वर्षा काल में

सरिता हिलाती तृणजाल है सलिल में।
विश्व हँस देगा देख दास के प्रयास को,
साहस को आज इस क्षुद्रजीवी नर के।
किन्तु, करुणा के सिन्धु ! सूत्रधर ज्ञान के,
कविकुल अग्रज, महार्हमणि विश्व के,
गाया था विजयगान भारत के रूप में
तुमने जो पुण्य वीरगाथा इस देश की,
उसकी विभूति इस दास के हृदय को
उद्वेलित करती है। रोक कैसे पाऊँ मैं
वेगवती धार वह, जो कि अन्तस्तल को
प्लावित करती है प्रभो ! भावना के जल से।
भिक्षा माँगता हूँ आज मुझ पर प्रसन्न हो
देव ! दयादृष्टि कर संजय की दृष्टि दो;
अथवा जगा दो उस सुप्त कल्पना को जो
पहुँचावे मुझको सहस्र पंच पूर्व के
उस कुरुभूमि में, मरे थे जहाँ विश्व के
वीररत्न, छोड़ कर अविचल कीर्ति को
नश्वर शरीरी हाय ! नश्वर जगत में।
तेजोमय थे जो और विद्या, बुद्धि बल में
जग में अतुल थे, परन्तु महानिद्रा में
सोये थे अकाल में कराल काल गति से।
याद कर जिनको हा ! याद कर जिन को
रोएँ फूटते हैं और नेत्र भर आते हैं,
क्योंकि वीरपूजा भाव दास का विभव है,
धर्म और निष्ठा, जो कि वाणी के विलास में
करना निवास चाहता है।

किन्तु भारती !
क्यों कर अनुग्रह करोगी घोर वन में
दस्यु को, जो हत्या हीनकर्म रत पशु था,
तुमने बनाया आदि कवि था निमेष में,
बाल्मीकि, जिसकी मनोज्ञ मृदु वाणी से
गूँज उठे तीनों लोक और सुधा स्रोत से,
रामचरितामृत की वाणी के अमृत से,
सिंचित हुआ था धराधाम, मरुभूमि ज्यों
होती अभिसिंचित है पावस प्रवास में !
और वह अन्धमति अज्ञ सब भाँति, जो
भार था धरा का, नर रूप पशु तुल्य था।
हाय ! जो निरक्षर था। भर्त्सना में नारी की
शोक से द्रवित और कातर हृदय से,
उसने पुकारा जब तुमको दयामयी !
विस्मय से देखा तब जग ने विमुग्ध हो
विश्रुत वरेण्य कालिदास महाकवि को,
कालिदास गौरव किरीट कविकुल का।
वीणापाणि ! छोड़ राजहंस पद्मवन को
कैसे तुम आई उस शिशु की निहोर में,
जो कि जब पाँच वर्ष का था, मृततात के
शव पर बैठ कर, बीजमंत्र आप का
जपता था मुग्ध हो तुम्हारे शुभ ध्यान में?
हे माँ ! महाभाग उस शिशु को बताओ तो
कौन स्वर तुमने सुनाया उस रात्रि में,
घोर उस रात्रि में हाँ, धन्य निज वीणा से,
और किस भाँति उस नैषध विधाता को
अमर किया था शुभे ! तुमने मुहूर्त में।

कितना करूँगा यशोगान अल्पमति मैं
सागर उलीचूँ किस भाँति अंजली से हा ?
जननी की भूरि अनुकम्पा क्या भला कभी
बालक बखानता है ? माँगता है वह तो
चाहता है जो जो, कभी रोता कभी गाता है
और हँसता है कभी माँ के अनुग्रह में।
हे माँ ! विश्ववंद्य, भव्य आशा इस लोक की
एक बार मुझको दिखाओ वह रूप तो।
श्वेत पद्म आसन में, श्वेत कर में लिये
वीणापाणि ! वीणा बजती हो, स्वर जिसके
व्याप्त हो उठे हों भवलोक - नभलोक में,
झूमता हो सारा विश्व मुग्ध जिस भाव में,
आज जिस भाव में, सुनाऊँ महागान मैं-
मैं भी तुम्हें माता उन चरणों में नत हो,
होते शतदल हैं नत जिनमें प्रफुल्ल हो।

कौरव शिविर में विषण्ण गत चेत से
बैठे हैं मनोहत, कराल इस रात्रि में,
कौरवेश, शल्य, कृतवर्मा, द्रोणि, शकुनी
और सब वीरजन, मौन नतशिर हो,
घेर गुरु द्रोणशव, जो कि कुरु पोत के
नाविक थे हाय ! कुरु क्षेत्र महासिंधु में।
मन्द वायु बहता है बाहर शिविर के,
साँय साँय, सो रहीं दिशायें सब ओर हैं,
मानो सृष्टि जीवहीन किंवा गतिहीन है।
श्वेतकेश, धवलशरीर गुरुदेव का

घेर कर बैठे वीर, मानो देव वृन्द हों
ध्यानमग्न धूर्जटि के चारों ओर शैल पै।

लेकर उसाँस कौरवेश, गिरिगेह से
चलती प्रवाहिणी है जैसे भीम वेग से,
आतुर हो बोला "नहीं जानता हूँ हाय ! क्या
होगा परिणाम इस काल रण का कहूँ
कैसे ? और सोचूँ किस भाँति कृतवर्मा हे
भाई ! बतलाओ किस कौशल से छल से
मारे गये वृद्ध गुरुदेव हैं समर में ?
जिनका पराक्रम था विश्रुत जगत में
धीर शैलराज सम, सर्वग्रासी अग्नि ज्यों
बसता था काल स्वयं जिनके निषंग में।
मारा किस कौशल से वैरियों ने उनको ?
सोच कर आज जलता हूँ उस भाँति मैं
जैसे जला नागराज खांडव दहन में।
तप्त रक्त तेल सम खौलता है देह में।
धर्म सुत धर्मराज, धर्म सम विश्व में
धार्मिक विदित है जो, हीन स्वार्थ वश हो,
वंचना की पामर ने। उच्च स्वर में कहा,
'अश्वथामा मारा गया' किन्तु मन्द स्वर में
'नर नहीं कुंजर' बढ़ाया और उसने
सत्य रक्षा हेतु। किन्तु, सोचो यही सत्य है,
कपट कुठार हो जो शत्रु के निधन में ?
किन्तु यह छलना सिखाई कहो किसने
मूढ़ उस वंचक को, भीरु धर्म सुत को ?

किसने लगाई अग्नि नैमिष अरण्य में,
रहता सुवासित जो यज्ञधूम गन्ध से ?
पाण्डव के जन्म की कहानी जानते हो जो
विश्व जानता है, यह ग्लानि कुरुवंश की,
सोच कर आप मन अवनत होता है।
घोर यह लज्जा यह अग्नि की विभीषिका
उनको जलाती नहीं कैसे, सखे ! बोलो तो,
भूल कर लोकधर्म और राजधर्म को
तोड़ने चले हैं जो कि श्रुति के विधान को ?
औरस हों राजसुत वे ही राज्यपद के
होते अधिकारी यही श्रुति का विधान है ?
किन्तु, छोड़ लोक-लाज, धर्म, श्रुति आज्ञा को
पाण्डव निरत हुए, प्रेरणा से किसकी,
काल रण-रंग बीच राज्य प्राप्ति हेतु से ?
हाय रे ! विडम्बना से किसकी समर में,
काल शरसेज पर देखो आज हैं पड़े
कुरुकुलशेखर, हमारे पितामह जो
विश्व विजयी थे, थे जितेन्द्रिय जगत में,
सूख गया जिनकी कराल शरज्वाला से
गौरव समुद्र भृगुराम का समर में।
देखो ! हम सब को निराश्रित अवनि में
छोड़ चले द्रोणाचार्य वंचना से किसकी ?
वंचना से किसकी ? बताओ, जानता हूँ मैं
जीवन विनश्वर है, नश्वर जगत है,
रात, दिन, सृजन, प्रलय का चक्र विश्व में
चलता निरंतर है। मेरे भाग्य दोष से
किंवा होनहार से यशस्वी कुरुवंश की,

अथवा तुम्हारे उस वंचक की माया से,
पाण्डव विजय यदि पावें काल रण में,
और यह गौरव किरीट कुरुवंश का
गिर पड़े चरणों में उनके, परन्तु क्या
मिट सकती है कभी कालिमा कलंक की?
जब तक रहेगा यह विश्व, दिन रात में
समुदित होंगे दिननाथ और चन्द्रमा,
जब तक धरा में राजनीति, श्रुति-साधना
चलती रहेगी, लोग साँस लेंगे जब लौं,
मेघ बरसेगा और पावक जलावेगा,
तब तक अनीति, दस्युनीति यह कृष्ण की,
स्वार्थ साधना को राजनीति जो बताती है,
कालअग्नि रूप में निरंतर जगत में
जलती रहेगी, और लपटों में उसकी
अंकित रहेगी दुःखगाथा कुरुवंश की।
किन्तु, अपवाद यह घोर अपवाद भी,
धूमपुंज तुल्य सखे! अम्बर प्रदेश में
फैलता रहेगा सब ओर, पुण्य विश्व के
मंगल विधान चिर तमसावृत होवेंगे!''

मौन कुरु-राज हुआ शोक और क्षोभ से
काँप उठा। काँपे सब वीर वहाँ बैठे जो।
शीतल विलेपन ज्यों दग्ध के शरीर में
बोला कृतवर्मा, ''कुरुराज! किस हेतु हो
आकुल यों होते तुम राजकुल सर के
राजहंस, गौरव किरीट तुम विश्व के?

माना यदुभूषण विपक्ष में तुम्हारे हैं,
सारथी बने हैं स्वयं पार्थ के समर में,
शस्त्रहीन करते सहायता हैं पार्थ की,
शस्त्रहीन, सोचो यह माया है कि सत्य है?
पहुँचा जब रण का निमंत्रण सुधर्मा में
पार्थ का तुम्हारा एक संग, कहूँ कैसे मैं
सारा यदुवंश किस भाँति पूर्णरूप से
उथल पुथल हुआ, अस्तव्यस्त लोग थे,
कोलाहल पूर्ण नगरी थी अर्द्धरात्रि में,
आ रहा था सिंधु मानो लीलने को उसके।
राजपथ, विपणि समूह, वाटिकाओं में,
कौतुक निकेतनों में, देव मंदिरों गें जो
जनरव हो रहा था गूँजता था व्योम। में,
कैसे कुरुश्रेष्ठ! किस भाँति कहूँ तुमसे?
चाहते मुरारि थे धनंजय के पक्ष में
सज्जित हों वीर यदुवंश के समर में
और कुरुभूमि घोर रण की तरंगों में
झंझा बने, बोरें कुरुदल को अतल में।
शूल, यदुवंशियों का शूल जानते हों जो
करता विदीर्ण शिला-खंड; गज केशरी,
स्पर्श मात्र से ही, विष जिसका कराल है,
गिरते हैं; काल अग्नि मानो जीवमात्र को
भस्मीभूत करता है। लेकर वही सखे!
'एकमात्र शस्त्र उस कालरूप शूल को
जीवन मरण मोह छोड़ रणसिंधु में
कूद यदुवंशी पड़ें चपल तुरंगों पै,
शून्य पथ वज्र चलता है जिस भाँति से।'

माधव के शब्द, उस मोहमयी वाणी को
क्योंकर कहूँ मैं सखे? गूँज रहे कानों में
आज भी वे गूँजे जिस भाँति थे सुधार्मा में,
और जिस भाँति मंत्रमुग्ध सब लोग थे,
पन्नग ज्यों झूमते थे नाद के प्रभाव में।

देकर निदेश सात्यकी को सभा मंच में
बैठे यदुनन्दन, ज्यों विजयी, समर में
करके पराजित विपक्षी दल, हर्ष से
बैठता है रथ में, विराम हेतु मौन हो।

कहने लगा यों तब सात्यकी अधीर हो
'तो फिर हे सभ्यजन, विश्रुत सुधर्मा के,
जैसा कहा वीर श्रेष्ठ कृष्ण ने है आप से,
हम सब सज्जित हों, एकसंग युद्ध को
और कुरुभूमि में दिखावें कुरुदल को
यदुकुल शौर्य, हम विश्व विजयी हैं जो
अड़ सकता है कौन शूल के प्रहार में?
शूल के प्रहार में, कहो तो जरासन्ध की
झंझाक्षुब्ध सिंधु की तरंगें सम व्रज में
आयी जब वाहिनी, डुबाने यदुवंश को,
बंदीकर यदुकुल रत्न को समर में
यादवों को मार कर, मार कर कृष्ण को,
लेने प्रतिशोध मघवा के यज्ञ भाग का,
जिसको किया था बंद यदुकुलरत्न ने,

पुण्य व्रजभूमि से भगाई आर्यकुल की
मिथ्या यज्ञ भावना थी, मिथ्या इन्द्र-पूजा को
जब था हटाया स्वयं भोग यज्ञ भाग को,
वासव का भाग था जो। शुभ्र आत्मज्ञान की
ज्योति से प्रकाशित किया था व्रजभूमि को ;
जैसे कृष्ण रजनी में फूट कर व्योम में
धूमकेतु करता प्रकाशित दिगंत है।
चौंक उठा मगध महीप यह देख के।
धर्म की विडम्बना में अन्धमति क्रुद्ध हो
दौड़ा व्रजमंडल को पादाक्रान्त करने।
लोहित हुई थी जहाँ यमुना तरंगिणी,
याद करो वीरो ! जहाँ नील उर्मिमाला ने
धारण किया था रेख रंजित सुहाग की।
कैसे उस सागर को पार किया तुमने ?
और किस भाँति उस प्लावन के वेग को
रोक कर तुमने बचाया व्रजभूमि को
और वृष्णि वंश की विभूति ? वीरो बोलो तो
भूले जो नहीं हो ? जहाँ भास्कर भी आप ही
मन्द हुआ देख कर स्वर्ण की पताकाएँ,
स्वर्ण रथ, स्वर्ण दंड, स्वर्णमूठ असियाँ
स्वर्णरत्न निर्मित निषंग, धनुराजि से
फूटती थीं आँखें, कालअग्नि ज्यों प्रलय की
जलती थी चारों ओर, घोर मेघमाला सी
भीमवेग, भीमनादपूर्ण गजराजि थी;
वायु वेग वाजि राजि, मानो व्रजभूमि में
आई थी प्रलय की घोर बेला वीर वृन्द हे !
रोकता है जैसे शैलशृंग वायु वेग को,

याद करो वीरो ! उस भाँति व्रजभूमि में
रोकी जरासंध की चमू थी, वीरदर्प से
हूल के सहारे, वृष्णिवंश वीरो ! तुमने।
स्पर्श कर जिसका कराल विष क्षण में
कितने गिरे थे गज, अश्व और सेनानी
क्यों कर कहूँ मैं भला, जानते हो तुम तो।
एक कुरुराज क्या समस्त इस विश्व से
लड़ना पड़े तो सत्य सत्य कहता हूँ मैं,
प्रज्वलित दावानल जैसे वनराजि को
भस्म करता है, शूलहस्त यदुवाहिनी
आगे बढ़े, काँपे यह सारा विश्व भय से।
फेंक असि, विशिख पिनाक रख वृक्षों में,
वीर बनते थे जो बटोरें कुश समिधा।
क्या है कुरुराज जरासंध से पराक्रमी?
'धन्य धन्य, साधु साधु' सारे सभासद जो
बैठे उस मंडप में एकसंग स्वर में
बोल उठे। काँपी सभा मानों शेषफन के
काँपने से काँपी धरा, काँपा सिंधु, द्वारिका
काँपने लगी यों, क्षुब्ध सिन्धु की तरंगों के
लगने से सैकत किनारा काँपता है ज्यों।

तत्क्षण ही आये बलदेव हत्चेत से
किंवा हतजीव से वे, विस्मय से भय से
चौंक कर चारों ओर देख कर वेग से,
देख कर माधव को, 'क्या है यह कैसा है
कैसे सब लोग किस हेतु यहाँ आये हैं,
और किस हेतु यह कोलाहल होता है?

गूँज रहे मंदिर प्रतिध्वनि से जिसकी
भाग रहीं गायें चौंक सागर की ओर को?'

क्षण भर मौन, सब मौन सभ्य जन वे
स्तब्ध देखने में रहे यदु दलपति के।
वस्त्र परिधान मात्र गात्र पर जिनके
शोभित था सूत्र, मानों गिरि के शिखर से
नीचे को उतरता था स्रोत श्वेतजल का।
अधरों में हास्य सुधा, धार विष आँखों में
देख पड़ी माधव के; चंचल वे, उनके
ओंठ हिले, शब्द किन्तु आयें पल दूसरे
रोक कर मैंने कहा 'क्या है यह कैसा है
और किस हेतु यह कोलाहल होता है?
पूछते हो किससे कुलश्रेष्ठ दलपति हे!
पूछते स्वयं हो, तुम्हें लज्जा नहीं आती है?
वीतराग, वीतस्पृह वंश के विधान से
जब से हुए हो तुम कैसे हाय रे!
विश्व जानता है यदुगिरी के शिखर हो,
कुलपति तुम्हीं हो इस कुल के, कहूँ मैं क्या,
जानते नहीं हो किन्तु क्या है और कैसा है?
कैसे मैं कहूँगा और कौन कहे तुमसे?
देखो कहीं गोधन न डूबे सिन्धु जल में,
देखो कहीं वन्यपशु आ गये हों खेतों में।
जाओ क्या करेंगे यहाँ माधव यहीं तो हैं;
हानि, लाभ, कीर्ति अपकीर्ति इस कुल की
जो हो, तुम्हें क्या है? सौंप सारा भार भाई को

मानों निर्वाण पद पा लिया है तुमने।
किन्तु आत्मशान्ति कहाँ कर्महीन जन को?
देवकुल वंद्य देवराज जिस भाँति है
यदुकुल वंद्य तुम, विदित जगत में
दलपति हो महिमामयी विश्रुत सुधर्मा के
तुम तो, परन्तु क्या मैं पूछूँ आज तुमसे
कैसा अविचार यह? किस अधिकार से
कृष्ण चाहते हैं जो सदैव वही होता है?
अनुज तुम्हारे हैं परन्तु क्या इसी से वे
शासन करेंगे यदुवंश का, सुधर्मा का?
शासन यहाँ तो नहीं जनमत शक्ति है।
कृष्ण, कृतवर्मा और सारे सभासद ये
बैठे जो सभा में, एक भाव एक सम हैं,
जैसे ग्रह मंडल के ग्रह हैं जगत में।
बोलो हे सभाजन! मैं पूछता हूँ तुमसे
दलपति हीन दल निर्णय करेगा क्या?
क्या यही सनातन विधान यदुवंश का?
विज्ञजन आज पड़े हाय! किस मोह में?
हाय! किस मोह में कहो तो, कहूँ आज मैं
आओ हम लौट चलें फिर उस देश को।
आर्यकुल ईर्ष्या और विग्रह की अग्नि में
हम क्यों जलें यों भला सोच देखो मन में?
पाण्डव जयी हों या कि जीते कुरुराज जो,
जो हो, कहो वीरो! किस लोभ किस लाभ से
शोणित बहायें हम हाय! उस भूमि में,
हाय! उस भूमि में विधर्मी जहाँ हम थे,
हम थे अनार्य जहाँ, हाय! जिस देश से

निर्वासित आये हम सागर के बीच में,
रक्षा करने को यदुवंश के विधान का?
आर्यकुल ईर्ष्या और द्वेष की विभीषिका
छू न सके वीरो! हम लौटें उस देश को।
आओ हम लौट चलें फिर उस देश को,
बहती जहाँ हैं मंजु तटिनी शिखर से,
फूलते हैं फूल, मधुचक्र जहाँ वृक्षों में,
रहता सदैव जहाँ निस्वन वसन्त है,
कूकती हैं कोकिलायें, केकी कंठ रव से
गूँजता जहाँ है गिरि व्योम बन, वामायें,
केसर की कान्ति और केसर की गंध से,
आमोदित करतीं गेह उपवन सर हैं।
सुनते यहाँ हैं जिस भाँति देव लोक को
आमोदित करती हैं सुरांगनायें, जाने ये
आर्यजन, कैसा वह लोक वैजयंत है
कामना में जिसकी तपस्या करते हैं ये
यज्ञ करते हैं, व्रत, धर्म भाँति भाँति के,
हेतु परमार्थ रूप स्वर्ग की विडम्बना?
किन्तु, यदि सत्य ही जो ऐसा रूपगुण है
स्वर्ग का; तो वीरो! सोच देखो किस अंश में
हीन वह लोक है प्रतीची प्रान्त मेरु का
छोड़ जिसे आये हम? छोड़ उस स्वर्ग को
कामना करें क्यों यदुवंश के निधन की?
वंश के निधन की, इसी से कहता हूँ मैं,
आओ हम लौट चलें फिर उस देश को।
दोषी कुरुराज किस बात में तुम्हारा है?
क्या किया सुयोधन ने, वैर कब तुमसे,

बदला चले हो तुम लेने विष शूल से,
वीरवरो ! बोलो किस पाप अपमान का ?
क्या कहेगा विश्व यह देख यदुवंश की
लोकनीति, राजनीति मेरे सखा ! भाई हे !
सोच देखो आप तुम ! जो कहा है कृष्ण ने
और जो कहा है अभी सात्यकी ने तुमसे
मानता हूँ मैं भी, तुम वीरो ! विश्व जय की
शक्ति रखते हो, और साहस जगत में
ज्ञात है तुम्हारा ! शूल विष की लपट में
एक क्या अनेक कुरुराज भस्म होवेंगे।
जानता हूँ मैं भी। किन्तु, जानता नहीं हूँ मैं
हेतु वह, हाय ! किस हेतु कुरुराज से
लड़ने चलोगे तुम लाँघ विन्ध्यगिरि को,
पार कर रेवा और दुर्गम अरण्य को ?
कारण कहो तो इस विग्रह का, युद्ध का ?
हरण किया है धन, गोधन तुम्हारा क्या,
अथवा हरा था यहाँ उसने सुभद्रा को ?'
हिल उठे सभ्यजन, कौंधी यथा क्षणदा,
अग्निवर्ण नेत्र घूमे चारों ओर रोष से।
सिहर उठा हो व्योम जैसे पूर्व आँधी के।
साँसें चलती थीं जहाँ सर्प फुफकार सी,
स्वेद बिन्दु मोती तुल्य झलमल होते थे
जिनके ललाट, अग्रनासा, कंठ देश में।
कैसे कहूँ, कैसे नेत्रचक्र द्रुत गति से
चलते थे चक्र, विश्वचक्र नाश करने।''
मौन कृतवर्मा हुआ।

मर्मभेदी साँस ले
बोला यों सुयोधन सखेद धीर वाणी में।
"भाई ! क्या कहूँ मैं और आज किस योग्य हूँ ?
रक्षक बने हो तुम मेरी कालरात्रि के।
धो सकोगे किन्तु क्या लिखा है जो विधाता ने
मेरे हीन भाल में ? नियतिचक्र मेरा जो
घूमता रहा है प्रतिकूल, पलटोगे क्या
गति उसकी, जो कहूँ मैं भी सदा दास सा
प्रस्तुत रहूँगा धन, धर्म, प्राण देने को
सेवा में तुम्हारी ? यह आशा तो दुराशा है।
हाय ! भाई कैसे कहूँ चाहता हूँ कितना,
कितना ऋणी हूँ मैं, तुम्हारे उपकार का
बदला चुकाता कभी, किन्तु देखता हूँ मैं
अन्त इस जीवन का, अन्त इस युद्ध में।
कौन जानता था हाय ! कुरुकुल अग्र वे
मृत्युंजय, भीष्मव्रती भीष्म इस रण में
आ गिरेंगे, पृथ्वी पर बाणों से शिखंडी के,
भाग्य की विडम्बना से ? नारी है कि नर है
राहु वह बोलो सखे ! कुरुकुल रवि का ?
अंजन से रंजित वे आँखें पद्म-दल सी,
और वह वेणी गुँथी पीठ पर उसके,
कंचुकी विलोक वह, देख चन्द्रहार को
कौन कह देगा वह नारी नहीं नर है ?
छलती मरीचिका है जैसे मरु भूमि में
पथिक पिपासाकुल, वैसे छला नीच ने
माया जाल डाल इस वंश की विभूति को।
देवव्रत धर्मधीर हैं वे, भला अबला

मारते कभी हैं महावीर भूल कर भी?
देखा एक दृष्टि अरे! नारी पार्थ रथ में
फेर लिया आनन तुरन्त, कब नारी को
मार सकते थे कहो विश्ववन्द्य वीर वे?
और वे पड़े हैं आज काल शरसेज में-
काल शरसेज में पड़े हैं बन्धु आज वे,
विस्मय जगत के वे, देव, नर, दैत्यों के,
मन्मथजयी वे योगिराज सम धीर वे।

कामिनी की कामना न डोली कभी जिसके
मानस में, बाहु बल्लरी में पद्मिनी की रे!
बाँधा गया जो न कभी, चन्द्रमुखी मुख की
आभा से न दीप्त हुई आभा पंचबाण की
जिसके लिए, न जाना जिसने कि कैसा है
अनुभव सुधाधर का, उपल उरोज का,
कैसे तीक्ष्ण नेत्रशर होते मृगनैनी के,
बेधते अचूक नरसिंह, योगि जन जो।
हाव, भाव, मादक कटाक्ष, षोडशी के वे,
वासंती वसंत में ज्यों, यामिनी शरद में
पूर्णशशि, कोकिल की कूक अर्द्धनिशि में;
व्याप्त करते जो मन प्राण क्षण भर में,
व्याप्त करते जो यह सृष्टि मधुमद में
होती है द्रवित यों, शिला ज्यों शिलाजीत की।
कहते इसी से कुसुमायुध अजेय है,
जीता जिसे केवल था शंकर ने तप से,
और जिसे जीता नर देही देवव्रत ने।

देवदेही किंवा दैत्यादेही और कौन है
भाई ! इस विश्व में, लगाई नहीं जिसने
फाँसी स्वयं आप, आत्मरस में विभोर हो,
विषधर नाग तुल्य मानिनी की वेणी की ?

और वे ही जा पड़े जो देखो कालमुख में
नीति से, तुम्हारे कुलभूषण की नीति से।
माधव मुकुन्द, जो तुम्हारे दिव्य चक्षु हैं,
देखते हैं स्वार्थ साधना जो शतनेत्र से,
जान गये वे जब पितामह अजेय हैं,
साध्य नहीं पार्थ का जो मारे उन्हें रण में,
और यदि वन्द्य कीर्ति लड़ते रहेंगे जो
पूरी हो सकेगी नहीं पाण्डवों की कामना।
कौशल से काम लेना जानते मनस्वी हैं,
और वे मनस्वी हैं तभी तो शिशुपाल को
मारा था उन्होंने, सभा मध्य जो निरस्त्र था,
तर्कपूर्ण वाणी-युद्ध करने उठा था जो
जानता नहीं था जो कि उत्तर में तर्क के
चक्र चलता है। वह दृश्य इन आँखों में
घूमता है बार बार, उसने कहा था जो
'योग्य क्या यही है जहाँ पूज्य गुरुजन हैं
शस्त्रपूज्य शास्त्रपूज्य आयुपूज्य जन ये
हीन हो रहे हैं आज मध्यम की पूजा से
कैसे है अनर्थ यह।'

तत्क्षण ही व्योम में

फूटी अग्नि आभा, झँपी पलकें, खुली ज्यों वे
देखा भूमि लुंठित था शीश शिशुपाल का।
काँप उठी सारी सभा विस्मय से भय से,
नीचे झुका शीश धर्मधारी धर्मराज का।
बात बिगड़ी थी, जो न होते पितामह तो
निश्चय था होती क्रान्ति और रक्तधारा से
बुझती हविष्य अग्नि। साम, दाम, भेद से
शान्त कर क्रोधानल, शिष्टाचार वारि से
बोध नृपवर्ग का किया था यज्ञभूमि में
तात देवव्रत ने, बचायी धर्मसुत की
लोकलाज, धर्मलाज, बदला उसी का तो
उनको मिला है इस रण में शिखंडी से।
देखते नहीं हैं कभी नारी ब्रह्मचारी वे,
विश्व में विदित, यह निष्ठा उनकी जो है।
भीष्म व्रत भीष्म का जो न डोलेगा जगत में
चाहे डोल जाये धरा, सूर्य, शशि डोलें ये,
डोले ध्रुवलोक, ध्रुव धारणा जो उनकी
डोलेगी कदापि नहीं। कौशल रचा गया,
और वह क्लीव द्रोणद्रोही सुत निन्द्य रे!
निन्द्य जिसका है जन्म, आचरण निन्द्य है,
मर न गया जो हाय! माता के उदर में।
धारण किया था वह गर्भ किस लोभ से
जननी अभागिनी ने? ग्लानि नरवंश की
पैदा किया, लाभ क्या था लज्जित हुई न जो
प्रसव किया क्यों सुत ऐसा नारि वृत्ति का?
नारि वेष, आभरण, भूषण में हाय रे
मिलता जिसे है रस जीवन जगत का।

किन्तु, दोष क्या है जननी का किस भाँति से
जान सकती है वह क्या है उस गर्भ में,
कालकूट, किम्वा सुधा, लोहा है कि सोना है?
आशा तो सदा ही उसे रहती मनोज्ञ है
होगा शिशु वीर गुणी और इस लोक की
गुणिजन गणना में जिसकी सुकीर्त्ति से
धन्य होगी जननी की यातना प्रसव की,
धन्य होगी कोख वह। किन्तु, दुर्दैव का
कैसा है विधान यह क्रूर सखे! देखो तो
होते उसी गर्भ से हैं निन्द्य जन विश्व के,
कुलटा सुताएँ और पापी सुत माता का
पीते वही पय जो कि पीते गुणी जन हैं,
पीते महावीर, महादानी, महाज्ञानी जो
योगि जन जीवनमरण हीन जग में।
और पापियों का गोत, हिंस्र नरदेही जो
काँपती धरा है पाप वासना से जिनकी,
दंशक वे, विषधर नाग नरयोनि में
बास है हलाहल का जिनके हृदय में,
वंचक वे, लोभी परदार, परवित्त के
और अपकारी वे अकारण जगत के,
मिथ्या जिनकी है नीति, हिंसा वीरव्रत है
ढोंग जिनका है धर्म, श्वेत पट सत्व है,
शस्त्र वज्रसार बना जिनका कपट का,
पीकर पले हैं जननी का वही पय तो।
धिक् शतबार उस पय को, प्रसव को।
लोक कहता है पुण्यहीना पाप-पंकिला
होगी वह माता भी अवश्य, सुत जिसका

घात करता है जो कि वंचना से छल से,
सम्मुख समर में निरस्त्र रहता है जो
बनता उदार, त्यागी, दंभी किन्तु निशि में
वीर बनता है वह, रौरव शरीरी रे,
घात कर सोये हुए वीर प्रतिद्वन्द्वी का।
नाम से तो मानो अवतार वह राम का
किन्तु कर्म से है दस्युराज दैत्यराज जो,
खलती जिसे है कीर्ति प्रतिभा विपक्षी की,
फूटती हैं आँखें, कभी तेज देखता है जो
निन्द्य वह श्वान जीवी मानी नरसिंह का।
दानवी प्रवृत्ति नररूप उस दैत्य की
करती कलंकित है माता के उदर को।
किन्तु, उस निन्द्य को तो मानो आत्मलाभ की
आत्मज्ञान भावना की होती प्राप्ति, हाय रे!
निहत करे जो वह सेज में विपक्षी को,
सो रहा हो सुख में जो भूल बाधा भव की,
भूल कर शत्रु भीति, दिव्य नेत्र जिसके
बन्द रहें जैसे अरविन्द चन्द्र आभा में!
काली अलकों से घिरा चन्द्रानन जिसका,
जननी का लाभ और लोभ कामिनी का हो।
पाप मति पाप गति उस यमदूत की
डूबती नहीं जो जननी की अश्रुवारि में,
और जलती जो नहीं यौवन प्रभात में
विधवा अभागिनी की दाहक विपत्ति में,
कहना ही होगा सखे! क्रूर कर्म रेखा की,
क्रूर दुर्दैव की विभीषिका जगत में
जलती निरन्तर है।"

भीम ध्वनि पौंड्र की
गूँज उठी बेधती धरा को और व्योम को,
चौंके सब वीर, चौंकी सृष्टि वज्रनाद से,
फूट पड़े ज्वालामुखी किम्वा भूमिकम्प हो
काँप उठे सारी सृष्टि त्रस्त प्राण भय से।
''देता है चुनौती भीमसेन कुरुदल को''
बोला द्रोणि, ''लाओ बनूँ दूत मैं प्रलय का।
लाओ रथ, लाओ तूण, भीषण पिनाक रे!
आज मैं पिनाकी बनूँ और इस सृष्टि को
भेजूँ जो रसातल को फूँक अग्नि वाणों से,
बोरूँ इसे छोड़ वरुणास्त्र आज रण में;
मेटूँ अपवाद पाण्डवों का और कृष्ण का;
भोगे राज वासना विपक्षी यमलोक में।
एक संग भेजूँ धृष्टद्युम्न, धर्मसुत को
संग संग पार्थ, कृष्ण, भीमसेन, सात्यकी,
और उस विश्व ग्लानि युवती शिखंडी को,
द्रुपद सुता का पद ले, जो उस लोक में
रानी बने पाँच भाइयों की, इस लोक की
सम्पदा जो सारी मिले यमपुर में उन्हें।
मेरे दिव्य शस्त्र, देव शस्त्र विश्वनाशी वे
ब्रह्मशिरा सर्वग्रासी नारायण अस्त्र को
रोक सके ऐसा कौन है जो इस लोक में?
देव हो कि दानव हो शक्ति किसकी है जो
मेट सके ब्रह्म शर महिमा जगत में?
पापी धृष्टद्युम्न को सुलाऊँ कालरण में,
मारे गये तात पुत्र शोक में विकल हो,
और वही पुत्र हूँ मैं धिक् मुझे धिक् है

जीवित हूँ अब तक मैं, पापी पितृ ऋण से
उऋण हुआ न जो हा! मार पितृघाती को।
ग्लानि वीरकुल की, मैं पुण्यक्षीण धिक् है
जीवित हूँ।''

थर थर काँपा वीर रोष से,
काँपता है जैसे सिन्धु झंझा की झकोर में।
तत्क्षण ही वाणी रुकी। क्रोध की लपट में
मानों जली जीभ, जलीं आँखें धक धक सी
आहुति पड़ने से यथा अग्नि, श्रम-बिन्दु से
शोभित था भाल हेमकूट रत्नमय ज्यों।

कहने लगा यों तब आश्वासन स्वर में
अन्धनृप नन्दन, ''हे वीर! गुरुपुत्र हे!
कर्मरेख मिटती कभी क्या पुरुषार्थ से?
भाई अनुकूल पाण्डवों के भाग्यचक्र है,
हो रहा तभी तो हाय! देखो हीनबल मैं;
करता तभी तो उपहास शंख ध्वनि से
देखो यह शत्रु आज संकट की रात में।
सहना पड़ेगा हमें भाग्य में लिखा है जो
निर्दय विधाता ने।''

''परन्तु कर्म लिपि या,''
हाथ फेंक द्रोणसुत बोला ग्लानि व्यंग से,
''निर्दय विधाता और भाग्य की विडम्बना

देखी नहीं तुमने क्या राजकुल रत्न हे !
कुरुकुल चूड़ामणि ! माँगा जब तुमसे
पाण्डु के सुतों ने राजभाग था अनय से,
और जब तुमने कहा था वीर दर्प से
'होते अधिकारी क्या अनौरस तनय हैं
सिंहासन राजदंड राजछत्रपद के ?
धरती न दूँगा प्राण दे दूँ भले किन्तु मैं
लूँगा अपवाद नहीं शत्रु शस्त्र भीति का'।
और जब आज जली अग्नि इस रण की
दे रहे हो दोष दुर्दैव कर्मलिपि को।
भूल चुके राजनीति और वीरव्रत हो,
भूले यदि जीवन के मोह में समर में,
संधि करो पाण्डवों से और संधि दूत मैं
आज बनूँ, किन्तु, जब पद्मपति प्राची में
आकर करेंगे अनुरंजित जगत को,
मेरी प्रतिहिंसा, प्रतिहिंसा द्रोण सुत की
दावानल बनकर जलेगी शत्रु बन में।
एकाकी लडूँगा, पितृदेव के निधन का
बदला न लूँ जो धृष्टद्युम्न के रुधिर से
तर्पण उन्हे कर, न सींचूँ धरातल को
शत्रुओं के शोणित से जाऊँ मैं नरक में।
घोर कुंभीपाक में जलूँ मैं यदि जन्म हो
मेरा फिर जग में तो दैव रे ! कहूँ मैं क्या,
याचना है दूसरा शिखंडी बनूँ लोक में।
वीर कुल ग्लानि बनूँ जग का कलंक मैं।''

कौंधती है चंचला ज्यों वेग से गगन में

घोर घन बेधती हुई ज्यों लुप्त होती है ;
देखी वही शक्ति वेग शक्ति गुरुपुत्र की
बाहर शिविर के हुआ था जो निमेष में,
अम्बर में गूँजती थी वाणी अभी जिसकी
और वह अग्नि, आत्मग्लानि, प्रतिहिंसा की
धधक उठी जो महावीर के हृदय में
चलती चतुर्दिक थी, मानों विश्व व्योम में।
जल उठा मानों कुरुराज उस वह्नि में
कहने लगा यों--

'पितृशोक में विकल हो
खोया तुमने है ज्ञान चक्षु, प्रतिहिंसा की
भावना में भूले महावीर ! वीरव्रत हो।
जा रहे हो जाओ गुरुपुत्र ! जानता हूँ मैं
संकट में कौन किसका है इस लोक में ?
छोड़ते हैं पक्षी वृक्षराज जब वन में
जल उठता घोर ज्वाला में दावाग्नि की।
जैसे जब पुष्पशर, प्रेरणा में इन्द्र की
तोड़ने चला था जो समाधि योगिराज की
देवकुल मंगल की कामना थी मन में ;
किन्तु जब हाय ! नेत्र ज्वाला में त्रिनेत्र की
भस्म हुआ उसको बचाया क्या सुरेन्द्र ने,
चन्द्र ने बचाया या कि वायु ने, वरुण ने ?
तीन लोक त्राहि त्राहि करता फिरा था जो
आश्रय मिला न कहीं। विश्व के विधान में
आता नहीं आड़ कोई भीषण विपत्ति में।

जाओ उपालभ्भ नहीं मेरा कुछ तुमसे।
कूदा था स्वयं मैं इस विग्रह-समुद्र में
लोकनीति रक्षा करने को ; बाहुबल से
पार मैं करूँगा इसे या कि डूब जाऊँगा ;
चिन्ता नहीं डूबता तो अखिल जगत है,
डूबता है आज कोई और कल कोई है,
डूबती है सारी सृष्टि बेला में प्रलय की।'

आया अश्वथामा वसुसेन के शिविर में
उठती हैं राग की तरंगें जहाँ व्योम में,
गा रही हैं बारबधुयें हों यक्षबालायें,
विद्याधरी, किम्वा कुल कोकिल वसंत में।
वाद्यध्वनि वीणा, वेणु, सारंगी, मृदंग की
मिल कल कंठध्वनि राग कामिनी में जो,
मोदित कर मानव के मंन को दिगंत को
मोदित करती है मिल गंधरस वायु में।
जिसमें जड़ी है चन्द्रकान्त मणि, सोने का
सिंहासन, बैठा वसुसेन उस पर है,
परिजन संग सब बैठे मंजु मंच में।
परिजन संग लिये मानों यक्षराज हो
बैठा हेमकूट वर्षशृंग के निवास में।
मृगमद, कपूर, गंधपूर्ण घृत, हेम के
दीप जलते हैं, खंड मानों दामिनी के हों
जगमग अनेक, चारों ओर यथा चंचला
अचला हुई है अहा! घेर चन्द्रलोक को।
चन्द्रमुखी जो कि पिकबैनी मृगनैनी ये,

रूप धरे रागिनि ये, काम चतुरंग सी,
खींचकर भृकुटि-कमान छोड़ती है जो
सर्वजयी सम्मोहन विशिख कटाक्ष का,
लेना रस हो जो हे रसज्ञ! इन बाणों का
और खेलना हो इन मणिधर नागों से
लोट जो रहे हैं कटि देश पर इनके,
स्वागत है आओ। चला छोड़ कवि अब तो
रुकना नहीं है जिसे मार्ग में पथिक सा
छोड़ यह कुंज वन जाना है निदाघ में।

देखा वीर द्रोणि ने यशस्वी वसुसेन को,
सूर्यतेज मंडित किरीट, यथा भाल में,
सूर्यकान्त मणि की प्रभा हो। दिव्य देह से
निकल रही हों सूर्यरश्मि विभा जिनकी
देख पड़ती हो रँगती सी हेमरंग में
सारा वह प्रान्त घिरा सुन्दर शिविर से।
पाटम्बर श्वेत पहने है वीर, फूल की
श्वेतमाला शोभित है कंठ भुजमूल में
उरस रही है कर्णफूल-यथा मंजरी
कानों में, सुगंध पूर्ण छूती है कपोलों को;
रक्तिम हैं नेत्र चलते हैं चपला से जो
और कभी बन्द होते भृंग यथा पद्म में।
संधिबन्ध ढीले पड़े वीर केशरी के हैं
कादम्बरी ओज में, प्रभाव अवसाद में।
स्पर्श कर उष्ण मधुगंध पूर्ण श्वास को
झुलस रही है फूलमाला वक्ष देश की।

देख गुरु पुत्र को उठा सुवीर केसरी,
प्रणत पदों में हुआ विप्र के विनत हो,
होता है प्रणत देवराज देवगुरु के
पूज्य चरणों में यथा सुमधुर वाणी में
कहने लगा यों हाथ जोड़--

"घोर निशि में
आए पूज्यपाद! तुम दास को निदेश दो।
एक व्रत, एक धर्म, निष्ठा एक दास की
जानते हो प्राण भी अदेय नहीं मुझको।
आशीर्वाद देना, कभी याचक विमुख हो
जा न सके, आये पास दास के जो। स्वर्ग की
कामना नहीं है मुझे और अपवर्ग की,
चाहता नहीं मैं राजकोष, आयु, धन हूँ,
विश्वविजयी मैं बनूँ इच्छा नहीं मन में;
कामना है एक मेरी स्वप्न में भी भूल के
याचक न जाये कभी मुझसे विरत हो।
मेरी यह कीर्त्ति, यश कीर्त्ति सूतसुत की,
लोक की कहानी बने दानी को अदेय क्या?
बोला द्रोणि "स्वस्ति हरिचन्द, शिवि, बलि की
कोटि में रहेगा हे यशस्वि! इस जग में
पावन तुम्हारा यश। फैलेगी दिगन्त में
कीर्त्तिकथा फैलती है गंध ज्यों वसंत में।
आया नहीं किन्तु याचना को यहाँ आज मैं।
भिक्षा विप्रवृत्ति है, परन्तु उस दिन से
निन्द्य हुई मेरे लिए मेरे कुल के लिए,

याचना के हेतु गये वीर जिस दिन थे
पूज्यपाद और उस द्रुपद अनार्य ने
मिथ्या कर पूर्व प्राण, परिचय पूर्व का
उनका अनादर किया था। अपमान में
क्षुब्ध हो कहा था पितृदेव ने "धिक् है
हीन यह भिक्षावृत्ति ब्रह्मवृत्ति जग की,
होता अपमान जिससे है द्विज कुल का।
शास्त्रधर शस्त्र धरें और बाहुबल से
मेटें अपवाद यह ग्लानि द्विज कुल की।
याचना न होवे अब मेरे वंश में कभी।
आया नहीं मालिनी नरेश! याचना को मैं
कैसे मैं अधर्म यह . . ."

कर्ण कहने लगा
ओठों पर खेली मंजु हास्य-रेखा मोद की,
"बदला लिया था गुरुदेव ने द्रुपद से
राजमद चूर कर दान दिया उसको
राज और प्राण, विप्र! दोनों एक-साथ ही!
और वीर! दुर्लभ तुम्हें क्या इस लोक में?
चाहो राज्यवैभव तो इच्छामात्र से तुम्हें
प्राप्त वह; शस्त्रबली विश्व में विदित हो
जीत सकते हो यह विश्व इन बाहों से।"
धर लिया हाथ नर केशरी ने द्रोणि का
आदर से बोला,

"अब जाना गुरु वध से

व्याकुल हो वीरश्रेष्ठ और प्रतिहिंसा में
धारण किया है काल शस्त्र घोर निशि में
तुमने, तुम्हारे भव्यभाल का त्रिपुंड यों
देख पड़ता है ज्यों त्रिधारा सुरसरि की
आकर गिरी हो शैलराज शिलाखंड पै,
अथवा त्रिपुंड हो त्रिपुंडी के ललाट में।
स्कंध में पिनाक घोर, पीठ पर तृण है
कालअसि कोष में पड़ी है नागराज सी,
भाल मणि भालनेत्र, प्रलयंकर रूप में
तुम यों सजे हो सजते हैं त्रिपुरारि ज्यों
सृष्टि नाश करने को भीमरुद्र रूप में।
देख यह रूप देखो काँपती धरित्री है।
प्रत्यंचा चढ़ाकर टँकोर दो धनुष में
और देखो घोर रव सुनकर जिसका
रोने लगता है शिशुकुल भय त्रस्त हो
सो रहा निरापद जो माँ के स्नेह-अंक में,
और वह प्रेयसी पड़ी है जो शिथिल हो
प्रियतम के पार्श्व में, मृणाल भुज जिसके
आ पड़े हैं प्रेमिक के कंठ वक्ष देश में,
भग्न होगी नींद उस कामिनी की क्षण में
सुन यह वज्र नाद।'' रेखा मंजु हास्य की
खिल उठी वक्र अधरों में, देवसरि में
आभा क्षीण शशि की हिली हो मिली नीर में।
बोला, ''इस हेतु लोकधर्म के विचार से
आज तो उतार यह शस्त्र धरो।''

''कैसे मैं''

बोला द्रोणि, ''कैसे मैं उतारूँ शस्त्र कैसे मैं?
जानते नहीं हो लोक धर्म प्रतिहिंसा है
मेरे लिए? यज्ञ, तप, कर्म प्रतिहिंसा है।
छूटा लोकधर्म धर्मसुत का समर में,
रो रहे सुयोधन हैं छोड़ वीरधर्म को।
पाण्डु के सुतों से अब होगा नहीं उनका
युद्ध। संधि होगी राज्य देंगे प्राण लोभ में।''

''स्वप्न देखते हो गुरुपुत्र! हिमकर से
चूती कभी अग्नि या कि दिनमणि से कभी
होता है अँधेरा?'' अंगराज कहने लगा,
''प्राण भय होगा कुरुराज को? जलधि क्या
सूखेगा निदाघ में? चलो हे वीर देखूँ मैं
रोते हैं नृपेन्द्र किस हेतु? वीरगति तो
मिलती सभी को, मिली रावण को, वृत्र को
और मिली तारक को। मानव जगत में
अमर नहीं है चलो देखूँ''; वायु वेग से
चल पड़ा वीर, गुरुपुत्र पीछे उसके।

बाहर शिविर के हुए वे वीर दोनों ही
शक्तिधर संग लिये जा रहा सुरेन्द्र हो,
किम्वा कालनेमि चला संग इन्द्रजित के।
दोनों ओर मार्ग के अनेक शिविरों में है
वीरजन, सो रहा है कोई क्लान्त रण से
और कोई ले रहा परीक्षा आयुधों की है।

वाद्यध्वनि हो रही कहीं है, कहीं गान की,
और कहीं वेदध्वनि, यज्ञधूम नभ में
छा रहा है, गंधपूर्ण कर उस प्रान्त को।
मानस के तीर यथा स्वर्णपुरी नगरी,
यक्षकुल करता विहार जहाँ सुख से,
होती अविराम जहाँ वाद्य वेदध्वनि है।

आ गये वे देखा सामने था मेरुशृंग सा
भव्य जो शिविर, था निवास कुरुराज का।
देखा शूलपाणि खंग हस्त द्वारपाल को
भीममूर्त्ति मानों वीरभद्र शिवधाम के
द्वार पै खड़ा हो। द्रोणि बोला अंगराज से
"जाओ वीरश्रेष्ठ! मैं न जाऊँगा शिविर में
रुष्ट कुरुराज होंगे देख मुझे, कल जो,
युद्ध हो कि संधि हो लड़ूँगा पाण्डवों से मैं।
बदला न ले जो पितृघाती से जगत में
हीन जन्म उसका है कायर अधम का।"

"ज्यों ही चला आगे द्रोणि छोड़ वसुसेना को
आई ध्वनि! भीषण प्रतिध्वनि शिखर से
मानों हुई सिंहध्वनि "विप्रवर क्षम्य हो
लोकपूज्य ब्रह्मकुल में जो जन्म तुमने
धारण किया है, इस हेतु राजदंड से
मुक्त तुम, माना हो अदंडनीय सर्वथा,
साध्य नहीं मेरा जो कि दंडित करूँ तुम्हें।
किन्तु सोच देखो वीरश्रेष्ठ! वीरकुल में

वंद्य तुम, विश्रुत तुम्हारी वीरकीर्त्ति है।
क्षोभ से पराजित हुए जो हे अजेय हो
योग्य क्या यही है तुम्हें लांछित करो मुझे ?
प्राणभय मुझको हुआ है प्राण लोभ में
संधि मैं करूँगा पाण्डवों से कहते हो जो
मान इसे लेंगे अंगराज स्वप्न में भी क्या ?
मान इसे लेगा भला वीर कुल विश्व का ?
तो फिर बताओ अपमान यह मेरा जो
हो रहा तुम्हारे अपवाद से है लोक में
कैसे गुरुपुत्र सहूँ ? किन्तु मैं सहूँगा ही
कहता हूँ फिर भी लिखा है जो विधाता ने
मेरे हीन भाल में। परन्तु मोह चक्र में
क्यों हो पड़े भाई तुम ? जन्म ब्रह्मकुल में
तुमने लिया जो ब्रह्मज्ञानी बनो लोक में।
काट यह माया-पाश साधना की असि से
सिद्धि धरो, जाओ ब्रह्म-धाम, इस लोक की
कामना में हो रहे हो हाय ! पथभ्रष्ट क्यों ?
कैसी प्रतिहिंसा ? मरा कौन ? और किसने
मारा किसे ? मारने चले हो तुम किसको ?
कौन मरता है और जन्म कौन लेता है ?
कहना पड़े जो यह विज्ञवर तुमसे,
हीन मर्यादा क्या न होगी उस कुल की
भूषित हुआ है जो तुम्हारे शुभ जन्म से ?
आगम निगम सब जानते हो तुम तो
जीवन, मरण, और जागृति, सुषुप्ति को
देखो ब्रह्म धर्म तुम और राजधर्म मैं
देखूँगा, लड़ूँगा शत्रुओं से स्वयं रण में।

और अंगराज भाई ! क्या कहूँ मैं तुमसे
चाहता क्षमा हूँ भाग्यवादी जो हुआ हूँ मैं।
देखता हूँ भाग्यचक्र मेरे प्रतिकूल है,
होनहार होकर रहेगी फिर क्यों न मैं
जाऊँ और देखूँ रण-कौशल किरीटी का ?
देखी धर्मनिष्ठा, सत्यनिष्ठा धर्मसुत की,
और देखी नीति कूट यादव कुटिल की,
देखना है शेष अब एकमात्र रण में
कौशल धनंजय का, देखूँ मैं स्वयं उसे।
रण में गिरे हैं तात भीष्म और रण में
मारे गुरु द्रोण गये, किन्तु कहो बन्धु हे !
पार्थ के पराक्रम से किम्वा छलछद्म से ?
किसने बनाया महावीर उस क्लीव को ?
किसने निकाली युक्ति द्रोण के निधन की ?
तो फिर यशस्वी हुआ पार्थ किस यश से ?
जानता नहीं मैं धर्मनिष्ठा धर्मसुत की
जानता नहीं मैं नीति यादव कुटिल की।
वंचना है सारी, शस्त्रधारी शस्त्रधर से
जानता है एक धर्म, नीति एक रण में,
जानता हूँ मैं भी वही, शस्त्र के प्रहार से
मारूँ मरूँ वंचना न शोभा वीर जन की।
काम नहीं भाई, इस तुमुल समर का
काम नहीं रण में गिरें ये वीर विश्व के।
राजा मैं बनूँगा या बनेंगे पुत्र कुन्ती के।
तो फिर हो शान्त यह अग्नि मेरे रक्त से
किम्वा रक्त से हो शान्त पाण्डव किरीटी के।
लौटे यह सेना, चतुरंगिणी समर को

छोड़ चले, सेनप जो लौटे निज देश को।
लौटें रथी वीर दलपति भव लोक के
भूषण जो लौटें, लौट जाये भीम वाहिनी!
काम नहीं विग्रह में भाई! कुरुकुल के
वीर गति पावें भव मंडल के वीर ये।
द्वैरथ हो युद्ध कल मेरा और पार्थ का
जीत जिसकी हो बने राजा धरा धाम में,
क्योंकि कहते हैं वीर भोग्या है वसुंधरा।
और जिसे वीरगति होवे प्राप्त वह तो
होगा महाभाग। रविमंडल को भेद के
प्राप्त हो सकेगा चिर पुण्य शान्ति लोक में।
जाओ गुरुपुत्र! तुम जाओ तपोवन को
और अंगराज तुम मालिनी नगर को
जाओ, वहाँ देखो सिंधुराज वायुराज का
चिर रणनाद सुनो, क्या है इस रण में?
नश्वर शरीरी यह मानव जगत में
मरता कभी है रोगग्रस्त, कभी रण से।
घूमता निरन्तर है निर्दय नियति का
चक्र जो उसी में नर निर्बल, कहूँ मैं क्या,
घूमता है भाग्य वश, नीचे या कि ऊँचे हो
निर्णय करेगा भाग्य चक्र इस युद्ध का,
निर्णय करेंगी कल किरणें वे रवि की
मेट कर यामिनी की क्लान्ति जो जगत को
तेजोमय फिर से करेंगी, जीवलोक में
जीवन का वेग जब विग्रह अनल को
फूँकने लगेगा, शर मेरे और पार्थ के,
लपटें हो उसकी चलेंगे दिशि दिशि को"।

रुक गई वाणी वह यामिनी की शान्ति में
लीन हुई, लीन यथा होती मेघ वन में
कादम्बिनी विश्व को कँपाकर निमेष में।
काँपता खड़ा था द्वारपाल भय त्रस्त हो,
काँपते थे दोनों वीर बाहर शिविर के।

क्षण भर मौन स्तब्ध यामिनी में वायु ज्यों
मन्द बहता है ब्रह्मवेला में, वसंत में,
बोला वसुसेन, ''राजरत्न ! जो क्षमा करो
तो फिर कहेगा यह दास, गुरुपुत्र को
दंडनीय मानते नहीं हो किन्तु फिर भी
दे रहे दंड यह घोर हाय ! बोलो क्यों ?
छोड़कर मुझको जो छोड़ कर द्रोणि को,
छोड़ कर विश्व विजयी जो वीर दल को
लड़ने चलोगे तुम पार्थ से अकेले ही,
लोकमत होगा कुरुदल ने कृतघ्नता की थी,
कुरुराज ने तभी तो त्याग सब का
रण में किया था। अपवाद रह घोर जो
फैलेगा दिगन्त में रहेगा सदा लोक में।
आ रहे हैं दृश्य उस शस्त्र की परीक्षा के
मेरे नयनों में, कुरुराज ! कर्णरन्ध्रों में
गूँजती अभी है विष वाणी ''सूतसुत की
हो जो राजसुत से परीक्षा तो अनय हो।''
इतने दिनों में यह योग आज आया है
साधक के द्वार पर सिद्धि आप आये ज्यों।
करते हो वंचित जो उससे, कहो मुझे

तो फिर था लाभ और लोभ वह कौन सा
जिससे बना हा ! अंगराज सूतसुत था
दास यह ? गूँजी कालपृष्ठ की टंकोर क्यों
विश्व को कँपाती हुई वैरियों के दल में ?
क्या था भला लोक में बताओ इस दास का
सूतसुत था जो ? कुलशील ज्ञात जिसका
जग में नहीं था वह श्रेष्ठ राजरत्नों से
विश्व से लड़ा क्यों बन्धु बोलो किसके लिए ?
सेवक तुम्हारा सखा लोक में हुआ है जो
दैव जानता है मनस्ताप उस दास का।
करता कभी जो आत्मघात, किन्तु तुमने
करके अनुग्रह बढ़ाया मान जिसका।
किन्तु मनस्ताप वह कैसे कहूँ हाय ! रे
कह न सकूँगा यहाँ, कहता यही हूँ मैं
मारना मुझे है कल पार्थ को समर में।
होगी कल शस्त्र की परीक्षा पुरुषार्थ की,
देखना मुझे है दुर्दैव, किस भाँति से,
जिसने दिया था जन्म मेरा हीन कुल में,
रक्षा करता है उस देवदत्त धारी की
कालपृष्ठ काल से। चुनौती यह दैव की
दे रहा हूँ आज हीनजन्मा हीननर मैं,
साक्षी मान सर्व शुचि वीरमणि सूर्य को।
सूर्यसेवी हूँ जो सूर्यतेज धारी रण में
मारूँगा धनंजय को, कल वह दंभी जो
आया अड़ने को कहीं मेरे शस्त्र पथ में।
निश्चय ही जानो सखे ! दिनमणि व्योम में
जब तक रहेंगे वह होगा यमलोक में

और क्या कहूँ मैं ?''

हिला कालपृष्ठ कर में,
बाम कर काँपा, चढ़ी प्रत्यंचा धनुष की,
रोष पूर्ण आँखें हुईं निर्मिमेष पलकें,
खिंच उठी भौहें, वक्र रन्ध्र नासिका के वे
हिलने लगे यों पद्म हिलता ज्यों निशि में।
बन्दी कर मधुरस लोभी मधुकर को।
खींच कर दारुण पिनाक खड़ा हो गया
वीर, महाकाल ज्यों खड़ा हो सृष्टिलय में।
रुद्र तेज निर्मित पिनाक धरे हाथ में
किम्वा तारकारि हों, टंकोर घोर जिसकी
व्याप्त हुई चारों ओर जलथल व्योम में।
काँपी धरा, भीषण प्रतिध्वनि से गिरि ज्यों
काँपता है वज्र, जब भेद मेघदल को,
चलता है नाद पूर्ण कर भव लोक में।

दूसरा सर्ग

गन्धवह वायु बहा । सोई पद्‌म सरसी,
आभाहीन, हीनप्रभा युवती वियोगिनी
आ गिरी हो जैसे अश्रु सिक्त पद्म आँखों को
मूँद, फूल सेज में अधीर हो वरानना,

आज सितपक्ष रजनी की है त्रयोदशी,
रोहिणी विलासी अहा! रोहिणी को अंक में
लेकर बिहार करता है व्योमगंगा में।
उछल रही है जलराशि चाँदनी हो जो
बरस पड़ी है धराधाम में, रजत की
किम्वा यह धार चली धोने विश्व कालिमा।
ले चली कहाँ री मुझे मायाविनि कल्पने!
प्राणेश्वरि मेरी! यह शरद विभावरी
देख आज फूली, यह कोटि-कोटि नभ के
तारे अरी! फूली नलिनी ज्यों नील जल में।
कवि-मन-सुमन खिले थे जिसे देख के
प्रेयसि! तुम्हारे भारवि के, भवभूति के,
भारती के वरद तुम्हारे कालिदास के।
रैवतक शृंग पर देख जिस छवि को
खिल उठा मानस मधूक कवि माघ का।
रैवतक शृंग पर रेवतीरमण हैं,

प्रेममूर्त्ति ! पीताम्बर धारी वनमाली हैं,
रुक्मिणी विमोहन, लगी है वेणु ओठों से।
और जो वे अपर विलासी यदुकुल के
वीर सब आये यहाँ शरद् विहार को।
संग संग आई सुरबामाएँ विनिन्दिनी,
मोहमयी, मानमयी, यदुकुल नारियाँ।
स्वप्न सखी ! देख यह वंशी वंशीधर की
बजने लगी है, हँसी सत्यभामा सुंदरी,
जूही के असंख्य फूल मानों झड़े नभ से।
रुक्मिणी ने मारे विष वाण ये कटाक्ष के
राधाधन ! राधाधन ! वेणु टेर आई जो
रेवती की बाहें आ पड़ी है बलराम के
कंठ में, पड़ी हो मंजुमाला ज्यों मृणाल की
चम्पक दलों से सजी। वामाकुल देख री
फैल चला चारों ओर प्रेमियों के मोद को।
ग्रीवा भंगिमा की छटा आहा ! मानसर में,
इन्दीवर जाल में फँसी हो राजहंसिनी।
चंचल चरण डाल एरी मधुवर्षिणी !
जाना चाहती है कहीं और यदि तो बता
रैवतक छोड़ ऋष्यमूक को चलेगी क्या ?
सीता के वियोगी जहाँ राम तुलसी के हैं
शरद निशा में। मान जानकी जो उनकी
वन्दिनी है आज सिंधु बीच स्वर्ण लंका में।

देवकुल द्रोही दैत्य रावण की नगरी,
प्रहरी बना है स्वयं सिंधुराज जिसका
पाता है प्रवेश नहीं पक्षिराज जिसमें।
कैसे हो सकेगा फिर त्राण राम वामा का?
सोच में पड़े हैं इसी दाशरथि देव ये,
आँखें जा लगी हैं शून्य नभ में कि चन्द्र में,
भूतल का सोम देखता है नभ सोम को,
किम्वा तेजधारी अन्य तारा निज कक्षा से
टूट के गिरा है ऋष्यमूक के शिखर पै।
भूधर शिला है आज सेज रघुराज की,
वैदेही विरह में ये जीवन विहीन से,
किम्वा हतचेत फणिधर मणि के बिना।
वीरासन मारे देख, लक्ष्मण अनुज हैं
बैठे पद प्रान्त में विषादी, अयि रंगिणी!
एरी कवि मानस की भावना विलासिनी!
देखा तुमने है क्या कहीं और दृश्य ऐसा है?
देखा जो नहीं है कभी देखेगी. नहीं कभी।
कल्पने री! कौन कवि होगा जीव लोक में
दिखला सके जो यह दृश्य? फिर तो प्रिये!
साधन विहीन सब भाँति यह जन जो
आ पड़ा है मायामयी तेरे बाहुपाश में,
आशा में सुधारस के मृत्युंजय होने की।
हीनदर्शी है जो अन्धकार पूर्ण पथ से,

जाना जिसको है देवि ! दृश्य यह राम का
राम विरही का ऋष्यमूक गिरि देश में,
रोष और शोकवाही आँखें जा लगी हैं जो
एकाकर शून्य में, प्रकाशित करे सदा
मेरा यह मार्ग, जा सकूँ मैं देवि ! जाना मैं
चाहता जहाँ हूँ--

बलीवीर यह कौन जो
काल गदाधारी है भयंकर कृतान्त सा,
जा रहा है, जैसे क्षुब्धसिंह, धर्मराज के
शिविर समीप किम्वा गन्धगज देखें तो
देखें इसे। भीमकर्मा भीम भीमसेना हैं,
भीषण गदा है भुज मूल से लगी हुई,
चूर करती है जो शिला को गिरिशृंग को,
वैरिन्दम जा रहा है अग्रज शिविर में
मंत्रणा के हेतु, जहाँ [illegible] धर्मराज हैं
जाग रहे, जागते जहाँ हैं पाण्डु दल के
और सब वीर, मौन चिन्ता सिंधु जल में
डूबे, एक संग सब साँस भी न आती है,
[illegible]प स्वयं राजा पार्थ अग्रज अधीर हैं,
देख[illegible] कभी हैं दीप मालिका की ओर वे
और [illegible]खते हैं कभी ऊपर शिविर में।
चिन्ता चू[illegible]ही है शान्त आकृति से, आँखों से

कालजयी वीरदल चिन्ताकुल हो रहा।
धरती कुरेद रहा सात्यकी है नख से
और धृष्टद्युम्न का ललाट है हथेली में।
देखा धमराज ने विषाद से शिविर में
चारों ओर। कोकिल ज्यों कूके आम्र वन में
जलती वनस्थली में दाहक निदाघ में
जब हो अनन्त में दिनेश वृष राशि का
बोले वासुदेव--

"भाई ! धर्मभीरु तुम हो
देव तुल्य देव तुम आये इस लोक में
जो हो, तुम्हें निश्चय ही जानों लोकधर्म में
बँधना पड़ेगा, यह कर्ममय विश्व है,
वीरों की विभूति, रंगशाला वीर जन की
जननी वसुंधरा है; वीरपद भार से
मोदित हुई जो [illegible]। और वीर जन के
रक्त से हुआ है अभिषेक सदा जिसका।
गौरव है वीर के लिए जो निज रक्त से
सींच दे धरा को। यह गौरव किसको
दे रहे हो आज किन्तु सोचो तुम मन में
बीतेगी निशा जो यह ऊषा रवि[illegible]गणी
आकर चढ़ेगी लोकलोभी हेमर में,
और जब किरण करों से व्यो[illegible] तल में

रंजित करेगी मंजुमार्ग दिननाथ का,
रागमयी दूती वह ऊषा अंशुमाली की
कोटि कोटि कंठ से विहंगों के कहेगी जो
जागो अरे ! जागो निशा बीती विश्ववासी हे !
जागो यह देखो दिननाथ आ रहे हैं ये
प्राणमय हैं जो प्राण देने जीवलोक को।
भूरि भाग हो जो छोड़ शैया पद्म सर में
स्नानकर तोड़ो रक्त अम्बुज कुसुम लो
मृग-मद-जपा तब सुरसरि-सलिल से
अर्घ्य दो दिनेश को जो जीवन निधेष हैं,
पोषक हैं सृष्टि के जो प्रेरक हैं, कर्म के,
धर्म की धुरी हैं, जगती के काम्यकान्त हैं।''

''सुनकर गान यह स्वर्ग के निदेश सा,
सूर्य सम तेजस्वी, उठेगा छोड़ शैया को
कालपृष्ठ धारी वह, काल भवलोक का,
भानुभक्त भक्तियुत पूजेगा दिनेश को
पूरी करने को निज कामना समर में
और जब हर्षमुग्ध हस्तिकक्षा रथ में
आकर चढ़ेगा, शक्तिधारी शक्तिधर सा,
वासव ने दी थी जिसे दारुण अमोघ है
शक्ति वह कालदूती, जब तक वीर के
हाथ में रहेगी, स्वयं देवकुल सेनानी

अड़ सकते हैं भला उसस समर में?
कहते इसी से कालृष्ठ धर काल हैं,
देवों से असाध्य कर्म मानव करेगा क्या?
चाहता हूँ मैं तो, भातृवत्सल जो तुम हो,
रोको स्वयं पार्थ को न जायें कल रण में।
पुत्र तुल्य होता सदा अनुज जगत में
प्राण से भी प्यारा वह भाई, बिना उसके
जी सकोगे क्या तुम मुहूर्त भर भी यहाँ?
क्या है यह तुच्छ राज, इन्द्र पद भी तुम्हें
मिलता कहीं हो यदि अनुज निधन से
वांछित क्या होगा तुम्हें?''

भीमसेन विक्रमी
आया इतने में वहाँ। रोषपूर्ण आँखें थीं
लाल लाल दहक रही थीं जो अंगरे सी,
घूम कर जैसे नाग छोड़ कर केंचुली
घूमता है जैसे फुफकार मार रोष से,
बोला,

'वनमाली! अभी तुमने कहा है जो
मानूँ यदि मैं भी कालपृष्ठ धर काल है,
मारेगा अवश्य सव्यसाची को समर में

कहते हो जो फिर तो रोको इस युद्ध को।
रोको हम घूमें फिर गहन विपिन में
घूमें पर्वतों से वनचारी वनचर से,
वन्यजीवी होकर भी जीवित रहेंगे जो
माधव ! कभी तो देख लेंगे अन्त सृष्टि का?
लोमश बनेंगे हम पाँच सुत पाण्डु के,
मूढ़ कौन छोड़े अमरत्व राज्य के लिए?
छोड़ा था किसी ने कभी तुमने सुना है क्या
जानते हो तुम जो बताओ बंधु मुझको।
माया माधुरी में या कि ज्ञान के प्रकाश में
किसको हुई है कहो कामना मरण की?
पूछो धर्मराज से, विराट नगरी में ये
हीनवृत्तिजीवी थे, हुई थी कभी इनको
मृत्यु की भी कामना? या पूछ देखो पार्थ से!
आसव शिथिल अंग सैरन्ध्री शिविर में
ले रहे विराम हैं जो दिव्य अस्त्रधारी वे,
पाशुपत साधक वे सम्मोहन सेवी वे।
छोड़ कर सारे लोकनाशी देवशस्त्रों को
अंक में शमी के छोड़ विश्व व्यापी कीर्ति को
ऊर्वशी विरागी वे, बृहन्नला के वेष में,
नाचे और गाये थे विराट सुता रीझी थी,
पूछो उनको भी हुई मृत्यु की थी कामना?
और क्या कहूँ मैं जब कीचक अधम ने

बाँधा द्रौपदी को भुजपाश में था, देखा था
देखा था अभागी इन आँखों ने मनोज के
कुसुम शरों से विद्ध पापी, काँपता था जो
कामज्वर से हा ! हीनभाग्य देखा मैंने था
दारुण विनोद वह निर्दय नियति का,
पर क्या मुझे भी मृत्यु की थी हुई लालसा ?
जीवन का मोह यह मानव की शृंखला,
टूटेगी कभी जो विश्व ब्रह्मरूप होवेगा।
तो फिर क्या राज्य और कैसा युद्ध, जाने दो,
पार्थसखा ! पार्थ की जो चिन्ता है तुम्हें हुई,
आत्मजन योग्य ही है। रोको तुम पार्थ को,
रोकें धर्मराज भी न जायें कल रण में।
भारत जयी हो कालपृष्ठ धारी लोक में
फैले कीर्त्ति कर्ण की ज्यों पावस गगन में
फैलता है मेघ; धरा डोले जय नाद से;
गाएँ यक्ष किन्नर विभूति वीर वर की।
बोरे क्षात्रधर्म बोरे कीर्त्ति कुरुकुल की
सूतसुत और हम अमर शरीरी हों।
अमर शरीरी हम होवें भव भूमि में,
जीते रहें लक्षकोटि वर्ष हाय ! काल का
अन्त तो नहीं है, बेलि मानव के वंश की
फैलेगी धरा में लोग आयें और जायेंगे।
होगा कभी अन्त व्योमभेदी विन्ध्यगिरि का

रोकने चला था जो कि मार्ग दिनकर का,
कहते हैं बैठेगा रसातल में, उसके
ऊपर तो नील उर्मिमाली लहरायेगा,
बीतेंगे अनेक युग, विप्लव अनेक जो
होंगे भव मंडल में सब से विरत से,
जीवित रहेंगे हम जैसे जड़ीभूत हो,
मृत्यु जो नहीं हो फिर ग्रन्थि कर्मपाश की,
क्योंकर कटेगी ?''

गदा फेंकी वीरवर ने
दूर जा गिरी जो वहीं बाहर शिविर के,
गिरता है जैसे टूट कलश शिखर का
मंदिर का बिजली के गिरने से वेग से।
गूँजी ध्वनि भीषण गदा के घोर घात से।
डोली भूमि, डोला वह शिविर सुमेरु ज्यों
डोला था दुरन्त जब महिष असुर ने,
देवकुल द्रोही ने हराया था मुकुन्द को,
डोला मेरुशृंग शृंगघात से जिसके।

बैठा जहाँ वीरकुल केशरी किरीटी था,
मधु रस मुग्ध लोचनों से याज्ञसेनी को
निर्निमेष, किम्वा था निहारता निहार में,

अवनत सरोज, किम्वा चन्द्र मेघमाला में,
पैरों के समीप बैठी द्रौपदी थी मानिनी,
मुक्त केशराशि आ पड़ी थी वक्ष देश में,
मंजु शिविरालय में, नन्दन निकुंज में
मानो रतिनाथ रतिसंग। ध्वनि धाँय की
गूँजी इतने में घोर, कृष्णा उठी चौंक के,
बोली मदिराक्षी,

"नाथ! मारा क्या हिडिम्ब को
आज है तुम्हारे बली भाई ने समर में,
घोर गदाघात से हिली जो यह धरती,
देखो नाथ! देखो।" अरे! वन में कुरंगिनि,
आकुल हो जैसे वनराज की दहाड़ से,
सिहर उठे हों अंग चंचल चरण हों,
चंचल हों नेत्र भय विह्वल हो बोली यों,

"हाय नाथ संभ्रम में दासी ने कहा है जो
उसको हुए तो युग बीते, आर्य सुत ने
मारा नरभोजी उस दानव दुरन्त को।
सुनती हूँ, ऐसी ही निशा थी कालकामी ने
काल से भी दारुण हो चाहा आर्य सुत को
मारना परन्तु मरा पापी गदाघात से।
गूँजी ध्वनि दारुण थी ऐसी ही वहाँ भी तो,

काँपा वनप्रान्त और काँपा जनपद था;
तो फिर है भेजा किसे अन्तक नगर को
अन्तक समान रोषधारी आज स्वामी ने।
जा रही हूँ नाथ अभी जाकर मैं देखूँगी,
किसकी हुई है यह रात्रि कालरात्रि हा।
तब तक विराम करो।" गजगति गामिनी
आगे चली,

तैरी राजहंसिनी सलिल में,
"प्राणेश्वरि!" द्रौपदी विलासी कहने लगा,
"बीती रात आधी यह देखो पुष्पशैया, जो
प्राणेश्वरि! तुमको बुला रही है प्रेम से,
सूनी जो करोगी इसे, सूनी क्या विभावरी
होगी नहीं मेरे लिए? लौटो, दूत भेजूँ मैं
आकर तुरन्त समाचार तुम्हें देगा जो,
चिन्ता हमें क्या है गदाधारी भीम भाई की?
वज्रपाणि वासव, त्रिशूलधारी शंभु ज्यों,
किम्वा गदाधारी हनुमान, गदाधारी वे
निर्भय अजेय जो सदैव हैं जगत में।
फिर क्यों अधीर हुई चन्द्रमुखी?" बोली यों
कृष्ण कामरूपिणी हो, झंकृत हुई यथा
वीणा अनायास छू गये हों तार जिसके।

"हाय नाथ ! शोभित हुई क्या कभी मुझसे
सेज थी तुम्हारी जो कि सूनी आज होवेगी ?
जानते हो तुम तो वसंत बीता व्यर्थ ही
मेरे इस जीवन में। मैं जो थी अभागिनी
जाना नहीं मैंने कब आया मधुमास था
और कब छोड़ चला, मानस सलिल में
आई मीनकेतु की हिलोर कब क्या कहूँ ?
कौरव सभा में अर्द्ध-नग्न जिस पल मैं
लाई गई हाय ! वह सूखा अकस्मात यों
सूखता है जैसे सिंधु बाड़व अनल से।
घोर अपमान गत लज्जाशील नारी मैं
कामिनी नहीं हूँ, फिर कैसे कामदेव की
मुझ पर कृपा हो ? धन्य होगी क्या मरुस्थली
उर्द्धमुख ऊपर निहार मेघमाला को ?
पाँच पति मेरे बलि मेरी जो हुई थी हा !
राजनीति दैवी या कि दानवी की तुष्टि को
जानती हूँ मैं तो नहीं, जानेगा भविष्य क्या ?
सत्य कभी होगा जो कि स्वप्न अब तक है,
धारण करेंगे कुरुराज कुरुवंश का
उज्ज्वल किरीट कभी और यह दासी भी,
राजपुत्री है जो, राजरानी कभी होवेगी ?
जिस फल हेतु बनी दासी एक नारी थी
पाँच पतियों को बाँधने को एक पाश में

किम्वा एक नीति में हो बाँधे यथा सिंहिनी
एक संग पाँच वनराज एक वन में।
संभव नहीं है जो परन्तु पशुलोक में,
मानव के लोक में क्या होगा और क्या नहीं,
सुनते प्रकृति भी तो हारेगी मनुष्य से।
हार चुकी मैं तो यह जीवन जगत में,
संतति विहीन मैं, फली ज़ो नहीं मंजरी,
और जो कि फूली नहीं पाटल की लतिका,
बरसी नहीं जो मेघमाला व्योम घेर के,
खोला नहीं आनन समोद पद्मिनी ने जो
रवि के करों से खेल, शरद निशीथिनी
वंचित रही जो निशानाथ और तारों से,
मुखरित हुई जो नहीं ऊषा व्योम रंजिनी
स्वागत का गान हो ज्यों मंजु खग रव से?''

मौन हुई कृष्णा। मौन वाणी कवि की हुई।
मौन हुई वीणा भारती के भाव गेह की।
मानव की वाणी क्या कहेगी जहाँ वाणी भी
आप स्वयं मौन हो उठी हैं, तीन वर्ष में
बीते व्यर्थ। बीते दिन पावस वसंत के,
बीती रजनी है जहाँ शरद शिशिर की,
गति, लय, छंद, शब्द पाया नहीं कवि ने
चित्रित करने को वह दृश्य जिसे व्यास भी

भूल गये, भूली हो कहानी भव लोक में
भूली रही जीवित क्या होगी? किन्तु सत्य जो
कहते अमर है, तो आओ अश्वथामा हे!
आवाहन करता हूँ आओ वीर! आओ तो,
देखे लोकभाल जो तुम्हारा मणि तेज से
तेजस्वी रहा यों रणभूमि में दिनेश ज्यों।
लाँघा तुमने था जहाँ काल की परिधि को
व्यर्थ कर अर्जुन के कालकूट शस्त्रों को
रोक कर पाशुपत अमर कहे गये,
आओ अपकीर्त्ति जो तुम्हारी चिरकाल से
चलती रही है आज धोना है मुझे उसे,
निर्भय है वीर! मुझे निर्भय बनाओ तो।
और भय क्या है मुझे भारत कहानी में
पाया काव्य मर्म मैंने कैसे उसे रोकूँगा?
कैसे रोक लूँगा [illegible] सत्य? कवि प्रेरणा
न्याय भावना से हीन जायेगी भला [illegible]
होगा भला लाभ ही क्या ऐसे काव्य बन्ध से
लोक चक्षुओं में जो प्रकाश हो फिरा नहीं?
ओजस हो मानव के मन में न डोली जो
निष्फल सदैव वह होगी कवि साधना,
फिर क्या विलम्ब, द्रौपदी ने कब था जाना
पाँच पुत्र? पाण्डव शिविर में निशीथ में
मारा तुमने था वीर जिनको अधम हो?

द्रोणसुत ! यह तो कलंक निराधार है
उज्वल चरित्र में तुम्हारे स्वयं व्यास भी
भारत कथा में मौन देखो वीर क्यों रहे ?
जन्म की कहानी उन पाण्डवों के पुत्रों की
जानता नहीं है लोक, पैदा वे कहाँ हुये।
इन्द्रप्रस्थ नगरी में ? वारणावत वन में ?
हिमगिरि उपत्यका में ? अथवा विराट की
उस नगरी में जहाँ द्रौपदी थी सैरन्ध्री ?
पाँच पुरुषों के पाँच पुत्र एक नारी से ?
क्योंकर करेगा कवि तर्क अब तर्क से
लाभ क्या ? कलंक कर्मनासा चिरकाल से
यह, जो चली है द्रोणसुत के चरित्र की
मज्जन किया है सुधियों ने हाय जिसमें
सूखेगी कभी क्या ?

किन्तु आशा कवि छोड़े क्यों ?
आशा अयि मायाविनि ! तुमसे जगत में
साध्य क्या हुआ है नहीं ? मानव के मन में
सोने के सरोज कितने हैं खिले स्पर्श से
देवि हैं तुम्हारे ? चिर आश्रय जगत की
तुम जो रही हो लोक़ मरु की पयस्विनी।
जीवन अरण्य जहाँ दावानल ज्वाला जो
जलती रही है फूँक देती कभी उसको

भस्मसात होता लोक . जीवन निमेष में,
सींचती न होती यदि देवि सुधारस से
तुम जो तो मायाविनी !

कैसे इस कवि के,
भाग्यहीन मानव के मानस में आती यों
आप स्वयं वीणापाणि, केन्द्रहीन जग में
जी रहा जो आकर्षणहीन पाँच वर्ष से ।
अनुज यशस्वी गया, सूखा स्रोत कर्म का।
कर्म भाव हीन चले देखो हैं दिवस ये,
कर्महीन जीवन की कल्पना भी जग में
हेय सुधियों को रही और कर्महीन मैं
जीवित हूँ। आज फिर सिंधु कर्मयोग का
लहरा रहा है, मातृभूमि के पुजारी ये
पुण्य भूमि भारत वसुंधरा के वीर ये
निर्भय बिरागी और रागी एक संग हैं
कूद रहे जिसमें। ये मृत्युंजय मृत्यु को
करने पराजित चले हैं। पुराकाल से
पूर्व पुरुषों ने पूत गंगा के पुलिन में,
जिसको पराजित किया था, मृत्यु हारी थी
हारी मृत्यु शोक निशा बीती सांख्य योग का
अंशुमाली आया और आया ज्ञान लोक में।
धन्य हुई भारत धरा थी यह गर्व से

गाया ऋषियों ने जहाँ गान कर्मयोग का।
कर्मयोगियों की यह भूमि चिरकाल से
बंधन विहीन। उस विगत अतीत का
द्वारपट खोलने चला जो कवि आज है,
एकमात्र आशा में कि देख उस युग की
उज्ज्वल विभूति, ओज पायेंगे मनीषी ये
धन्य जिनसे है हुई जन्मभूमि जननी।
श्याम घन घोष करता हो ग्रीष्म संध्या में,
पश्चिम गगन में गंभीर धीर ध्वनि हो
पावस की सूचना सी, लोक ताप हारिणी
आई ध्वनि। रुक्मिणी विनोदी कहने लगी,

"भीमसेन कर्मतरु फूल कर भी नहीं
देता फल, जब तक काम, क्रोध मद के
कीट रहते है लगे उसकी शिराओ से।
अवसर नहीं है उपदेश यहाँ देने का।
रोष करते हो तुम व्यर्थ, गदा फेंकी है
रोष में जो तुमने बताऊँ परिभाषा मैं
शक्ति की, सुधीजन तो संयम हैं कहते।
संयम विहीन शक्ति पशु की प्रकृति है।
देखो मनोयोग से शरीर बल में सदा
मानव से श्रेष्ठ पशु; किन्तु बुद्धि बल में
हीन है, इसी से वह मानव अधीन है,
छोड़ो रोष, छोड़ो ग्लानि, छोड़ो दंभ बल का

बुद्धि से विचार कर देखो हित साधना,
मानव विवेक जहाँ शक्ति का नियंता हो
निश्चय ही जानो वहाँ मंगल विजय है।''

''मंगल विजय तात मेरे लिए तुम हो
कर्म की ही प्रेरणा। जो चाहते हो करो सखे
साध्य क्या हमारा जो कि तर्क तुमसे करें।''
बोले धर्मराज, ''यह दास, धन धरती
वैभव की मूर्त्ति द्रौपदी भी जब द्यूत में
हार गया, कूटबुद्धि शकुनि के छल से
राज्य हीन, बुद्धिहीन और धनहीन मैं
जब वनवासी हुआ, शेष धन कौन सा
मेरा बचा जीवित रहा हूँ जिस बल से?
जानती धरा है, धरावासी नर नारी ये
जानते सभी हैं, भर अमर दिगन्त में
यक्ष किन्नरों का कुल हेमकूट वासी जो
जानता है, जानते हैं देव देवलोक के
नाग जानते हैं नागलोक में कि तुम हो
मेरे इस भव के विभव, क्या कहूँगा मैं?
आश्रित बड़ाई क्या करेगा कहो स्वामी का
रहना जिसे है उपकार-भार-नत हो?
हीन यह सेना हीन पुत्र सखे पाण्डु के
पार करते क्या कभी भीष्म-शर-सिंधु को!

बनते न पोत यदि तुम जो निमेष में
डूब यह जाती चतुरंगिणी अतल मे,
किम्वा भस्मसात होती अग्नि जब द्रोण की
दारुण जली थी, जलती थी धरा जिसमें,
व्योम जलता था, भयत्रस्त यह सेना थी
भागी जबसे भागे सब सेनप अधीर हो,
भागते हैं जैसे जीव धारी जीवलोक में
रोष से पिनाकी जब फूँकने को सृष्टि के
छोड़ते कराल शर-जाल हैं दिगन्त में।
सर्वभुक् जैसे सर्वग्रासी द्रोण धन्वी को
शान्त करते न यदि युक्ति बल से सखे!
तो फिर क्या होते जो कि आज फिर युद्ध की
मंत्रणा चलाते? यशोलिप्सा, राज्य कामना
लुप्त तो हुई थी जब आप धृष्टद्युम्न भी
आहत अचेत हो गिरे थे रणभूमि में।
रुक न सके जो स्वयं देवदत्तधारी से,
दुर्जय, दुरन्त, विश्व-नाशी, शस्त्रि दल के
गौरव सदेह, किम्वा रुद्र रोष रूपी वे
वृद्ध गुरु द्रोणाचार्य, सुनते हैं रण में
मान जिनको था दिया आप भृगुराम ने।
देव! कटु भाषी इस भाई को क्षमा करो
जीवित है और चाहता है श्वास वायु से
भूधर उड़ाना, भाग्यहीन बाहुबल से

पार क्या करेगा महासिंधु ? तिमिंगिल भी
पाता नहीं पार जिसका है ? वसुसेन का
विक्रम नहीं क्या इसको है ज्ञात ? विश्व को
विजित किया था सुनते हैं एक मौर्वी से
जिस बलधाम ने, न रोकी गति जिसकी
दैव दानवों ने, मानवों में जो अजेय थे
वीरकुल वंद्य वीर धर्मरक्षा हेतु वे
भू पर गिरे थे, गिरते हैं वृक्ष टूट के
जैसे जब चलता प्रभंजन है वेग से।
रक्षित सदैव हम रक्षक हमारे हे !
तुम अनुकूल यदि तो फिर क्या रण की
चिन्ता हमें होगी स्वयं काल या कि कर्ण हो ?
जानता हूँ, किन्तु चैन पाता नहीं चित्त है,
हाय सखे ! मानव अमानव की क्या कहूँ
और क्या कहूँ मैं अभी होनी जो कि कल है,
जब से सुना है वसुसेन हुआ सेनानी,
कौरवों का हर्षनाद और वंदि जन का
मंगल विजयगान; धन्य हे यशस्वी हे !
धन्य तुम प्राचीपति प्राची के दिगन्त में
उदित हुये जो यथा अंशुमाली तेजस्वी
तेजस हे ! दीप्त करो कौरव अनीकिनी।
पाकर तुम्हारा बल तेज जो निमेष में
पूरित करेगी जय नाद से दिगन्त को।''

देखता हूँ मैं तो यह सेना काल वश है,
कालवश मैं हूँ, बंधु मेरे काल पाश में,
डूबती है देखो रणभूमि, रक्त-स्रोत का
पारावार उमड़ रहा है, गति वायु की
रुद्ध सी पड़ी है, अवरुद्ध व्योमचर हैं,
घोर गतिमान वैवस्वत महिष जो
फेंक रहा अग्नि की शिखा है श्वास रन्ध्रों से,
दुर्निवार। चारों ओर जलती विभीषिका।
व्यर्थ राज भोग की मरीचिका में भूल के
मैंने जो बुझाया चिर पुण्य दीप अपना,
एकमात्र तनय सुभद्रा सुत तेजस्वी
हाय! अवशेष अवलम्ब पाण्डु पुत्रों का,
क्या कहूँ मैं कैसे किस आशा तन्तु में लगा
जीवन रहेगा अब? सम्पदा धनेश की
समता करेगी कहो कैसे उस धन की?''
रुँध गया कंठ रुँधी वाणी अश्रुधार से
सिंचित कपोल हुये, डूबे नेत्र नीर में।
तुहिन कणों में यथा इन्दीवर, शोक का
विषम समीर चला, रोये वीर रोष से।
कालिन्दी किनारे यथा कालिन्दी सहोदरा
बैठी है हिडिम्बा मौन नीलमणि आभा सी,
दानवी अकेली, महावृक्ष बट के तले।
मंजुल समुन्नत धरा है मंजु मंच सी

घेर कर जिसको जटायें वृक्षराज की
झूला करती है रम्य, तापसी सी प्रमदा
श्यामांगिनी अग्नि के समीप शिखा जाल में
दीप्त हो रही है, वनराजि, लता, गुल्म हैं
दीप्तमान, होता है पयोधर प्रदीप्त ज्यों
विद्युल्लता जाल से, समुन्नत पयोधरा
धारण किये है चर्म केशरी का कटि में।
आवरण हीन नाभि जलनिधि भँवर सी,
नग्न पुष्ट जानु; मूल कृष्ण कदली के हों।
दाँत से दबाती कभी ओठ कभी घूम के
पीछे देखती है अटवी की ओर ध्यान से,
बोलता जहाँ है कहीं सिंह, कहीं चीता है
और कहीं अन्य वनचारी ध्वनि करता।
सामने कलिन्दजा की ओर बढ़ा जाता है
भीमकाय नाग वह जैसे ताल तरु हो
भू पर प्रगतिशील, देख जिसे भय से
भागते कुरंग शिशु, जंबुक, शशक हैं।
हँस पड़ी भीमा। हँसी नीरद में क्षणदा।
घूम के उठाया महाशृंग वाम कर से
किम्वा भैरवी ने महानाग, पृष्ठ देश में
कांची, हिली, लहर उठी हो काल नागिनी
यमुना सलिल में, लगा के शृंग मुख से
वामा उठी, तड़ड़ तड़ातड़ तड़ित सा

फैला नाद, फूँका जब दानवी ने शृंग को
ध्वनित हुआ जो घोर, यमुना किनारे का
जल, थल, व्योम, वन; गूँजा एक क्षण में।
भागा नाग वक्री हो सभीत यथा सिंधु से
सरिता मिली हो मिला यमुना सलिल से।
भय से सिहर बनचारी छिपे नीड़ों में,
गहन लता में, विवरों में कोटरों में जो।
किन्तु हुआ शृंगनाद दूसरा तुरन्त ही
मध्य बन से या अटवी के उस पार से
जैसे हों अनेक वज्र एक संग कड़के,
किम्वा श्रृंगनाद स्वयं शृंगी ने किया हो जो
व्याप्त हो उठा हो दिशि, विदिश, दिगंत में,
काँपी हो वसुंधरा, प्रलय का मेघनाद हो
दारुण, रुकी हो गति सारी जीव लोक की।
उत्सुक हो देखा दानवी ने वनप्रान्त से
निकल रहा है महावीर, महा कौतुकी
नीलगिरि शृंग जैसे संचरणशील हो
दानव घटोत्कच, हिडिम्बा स्नेह सिंधु का
मंदर महीधीर, उठाये वाम कर में
आहत कुरंग, धर केसर कराल जो
खींच रहा दारुण. कराल मुख केशरी
दायें हाथ से है। भय-कातर मृगेन्द्र यों
चल रहा मौन चित्र जैसे चित्रपट में।

निकला विषाद स्वर जैसे पिक कंठ से
बोली दैत्य नन्दिनी "हे वत्स ! अब खेल के
बीते दिन, कौतुक विनोद से विरत मैं
करती तुमको जो आज और जान कर भी
कर्म जननी का नहीं होता कभी ऐसा है।
माता के लिये तो सुत होता सदा शिशु है
बालक, किशोर, युवा, जननी का स्वर्ग तो
उतर धरातल को छूता है निमेष में,
रचता जहाँ है सृष्टि तनय विनोद की।
हाय ! वत्स किन्तु घोर संकट मैं आज है
जननी तुम्हारी पड़ी रक्षा करो उसकी
तुम सा समर्थ सुन",

रोने लगी दानवी
फेंक मृग केशरी किरीट पर वेग से
चरण प्रहार कर बोला वीर रोष से,
"माता यह विस्मय की बात कहती हो क्यों ?
संकट में आज तुम कैसे कहो दास से
देखता नहीं मैं वनजीव यहाँ कोई जो
संकट का कारण बनेगा कभी जननी।
ब्रह्मपुत्र नदी के किनारे स्वयं तुमने
दुर्गम अरण्य और पारावार जल में,
चारों ओर, गहन उपत्यका में गिरि की

देखा बार बार बल कौशल है दास का,
मात! हो मृगेन्द्र, मद निर्झर मतंग या
किम्वा ग्राह किम्वा कालकूट अहि किसने
रोकी गति मेरी''

सानुराग बोली दानवी
आगे बढ़, कुंचित चिकुर राशि पुत्र की
हाथ से हिलाती हुई, 'वत्स! आज सुख से
करती अनृण हूँ तुम्हें मैं मातृऋण से
तुमको मिला है योग पौरुष दिखाने का
आज वत्स! जाओ करो रक्षा पितृकुल की,
जननी तुम्हारी करती है यही याचना।

विस्मय से चारों ओर देखने लगा बली
भूला हुआ जैसे पथ खोजे वनप्रान्त में,
विस्मय से आँखें खिंचीं, भौहें तनीं वक्र वे
अधर हिले यों बन्द नीलोत्पल डोले हों
पाकर तुषारवाही वायु की तरंग को,
बोली वन वासिनी हिडिम्बा--

''वृत्त पूर्व का
जानते नहीं हो वत्स! विस्मय इस से है,

कैसे कहूँ जननी अभागिनी तुम्हारी मैं
जनक तुम्हारे नर केशरी ने दासी की
सुधि विसराई, राजपुत्र राजसुख में
भूले मुझे तात वर्ष बीते बीस तब से।
घूमती रही हूँ मैं उपेक्षिता विपिन में
शेष अवलम्ब से, अकिंचन के धन से
जीवित रही हूँ मैं तुम्हारे ही सहारे से।
कैसे मैं कहूँगी किस संकट से तुमको
छाती से लगा के असहाय गिरि, वन में
घूमती रही मैं, दिन, मास, वर्ष, बीते ये
वत्स ! किस भाँति क्या कहूँ मैं जानते हैं वे
जो कि जानते हैं इस विश्व की विडम्बना।
काली रजनी थी, घोर पावस के मेघ थे
दौड़ रहे नभ में, विलुप्त यह सृष्टि थी
काजल का जैसे था वितान तना घेर के
विश्व को, न हेरे दृष्टि देखती थी कुछ भी,
बरस रहे थे मेघ धँसती थी धरती
भीषण प्रतिध्वनि से गूँजते थे गिरि के
गह्वर तुमुल ध्वनि होती जब मेघ की।
नेत्र गति होती थी विलुप्त चकाचौंध से
कौंधती थी शम्पा जब नीरद के दल में।
होता यह भान था कि क्षण भर में अभी
होंगे धराशायी टूट भूधर, अचल जो

और धरा आप जा लगेगी रसातल में।
उमड़ रही थी जलराशि पारावार सी
भाँवर सी देती हुई गिरि के प्रदेश में
संग ले चली जो शिलाखंड वनराजि को
ऐसे ही समय में वत्स !''

आँखें मूँद हाथ से
धरती पर बैठी सती होकर अधोमुखी।
काँपने लगी ज्यों काँपती है यथा वल्लरी
चलता है मारुत निशा में जब ग्रीष्म के।
थर थर काँपा वीर रोष में दहक के
बोला बली,

''माता ! हाय पीट के कपाल मैं
फोड़ता अभी हूँ और देखो अभी मरके
जाता यमलोक हूँ कि रोओ तुम जिसमें।
अन्यथा बताओं नाम धाम उस पापी का।
रोको इन आँसुओं को रोको यह वेदना,
जाता हूँ अभी मैं शीश काट कर उसका
जिसने छला था तुम्हें, राजा हो कि रंक हो
देव हो कि दानव हो, बोलो, अभी लाता हूँ।
कंदुक बनाएँ पूज्य चरण तुम्हारे ये

अधम शरीरी उस वंचक के शीश को।
जिसने रुलाया तुम्हें हाय ! बीस वर्ष है
जाना आज मैंने किस हेतु चिर पीड़ा से
पीड़ित रही हो तुम, रोते सदा देखा है
तुमको अकेली, कभी कुंज, कभी वन में
और कभी सरिता किनारे पर्वतों में मैं
खोजता रहा हूँ तुम्हें, और तुम छिप के
रोती ही मिलो हो, हाय ! रात में भी नींद से
जागता रहा हूँ सुन सिसकी तुम्हारी मैं।
जाना आज मर्म यह, रोना अब छोड़ दो
सह न सकूँगा इसे और देह अपनी
काटूँगा अभी मैं अपने ही हाथ जान लो
अब जो छिपाया कहीं नाम धाम उसका।''

छू गई हो जैसे कहीं बिजली शरीर में,
आहत सी पीती हुई अश्रुधारा रोष में,
गिरती सी उठ कर खड़ी जो हुई दानवी
बोली ''अरे नीच ! जानती जो निज गर्भ से
जन्म दे रही हूँ पितृ निन्दक अभागे को
तब तो बहाती उस पावस की धार में
रात को ही हाय ! नार पुरइन साथ ही।
मेरे लिए किन्तु वह मृत्यु की सी यामिनी
काली भयदायिनी हुई थी स्वर्ग बेला सी
पाया जब तुमको, अँधेरी गुफा ज्योति से

जगमग हुई थी, सुना मोद गान स्वर्ग का
मैंने, रोम रोम मेरे जागे पुत्र प्रेम में।
और वही पुत्र तुम आज पुत्रधर्म का
करते हो पालन जो निन्दा से जनक की
जानते नहीं हो जननी की मनोभावना।
निश्चय ही मेरे इस प्राण का निवास है
वत्स! इस देह में तुम्हारे किन्तु, उसको
छोड़ना ही होगा, छोड़ती हूँ उसे आज मैं
मान रक्षा हेतु उन देव तुल्य स्वामी की।
पुत्रमोह रोक क्या सकेगा पतिमोह को?
पुत्र, पिता, भाई का भरोसा जो कि नारी को
होता इस लोक में है, एक रस क्या कभी
टिक सकता है? कभी आता कभी जाता है,
किन्तु दान पति का अपरिमित अमोघ है
रंजित करता है जो कि दोनों लोक नारी के,
पूजती इसी से अबला है पद स्वामी के,
जिन चरणों की पूत छाया में अभय हो
महिमामयी है बनी नारी भवलोक में।
शीश तुम काटने चले हो प्राणपति का।
जानते नहीं हो नर केशरी को जिसने
मारा तव मातुल हिडिम्ब को था रण में?
देखोगे कभी जो वह पौरुष अदम्य तो
भूल सब जायेगा तुम्हारा दम्भ बल का।

एकबार और लालसा है इस मन में
देख भर पाती उन पावन पदाब्जों को
आँखें मूँद देखती रही हूँ सदा जिनको;
सींचती रही हूँ आँसुओं से निज मन में
जिन चरणों को, एक बार और देखूँगी।
संकट में आज पड़े हाय उन स्वामी को
भूल यदि जाऊँ, भूल जायेगी धरित्री भी
सहज क्षमा का भाव और संग अपने
लेकर समायेगी रसातल में लोक को।
तोड़ कर नाता आज जननी जनक से
जीवित रहो हे वत्स! मेरी यही कामना,
जाती हूँ स्वयं मैं आज सेवा हेतु स्वामी की।
रण में समाऊँगी समाती है दवाग्नि ज्यों
घोर अटवी में, जब मारुत के बल से
जलते हैं वृक्ष, लता, कुंज भस्म होते हैं,
वैसे ही जलेंगे वीर कौरवों के दल के
कृत्या सी रचूँगी साज नाश का समर में।
देखना है कैसे वसुसेन किस बल से
और किस कौशल से मारता है रण में
मेरे प्राणपति को कि उनके अनुज को
जब तक हूँ जीवित मैं।''

काटे ओठ दाँत से

दानवी ने आँखें मूँद, किन्तु पल भर में
देखने लगी जो निर्मिमेष, पद्मराग से
चूने लगे मोती श्वेत, इन्द्र नीलमणि के
मंजुल कपोल सजे मोतियों की माला से।
रुकती थी साँस कभी तीव्रतर होती थी।
रक्तिम कपोल, ओठ, नासिका के छोर थे।
दहक रही थी अग्नि ज्वाला उन आँखों में।
मर्मान्तक पीड़ा में अधीर यथा दानवी
संज्ञाहीन किम्वा हतचेत सी खड़ी रही।

टूट के गिरा हो असुरारि के कुलिश से
पक्ष मैनाक का, गिरा त्यों वीर क्षण में
आतुर अधीर जननी के पद प्रान्त में।
और आर्त्तवाणी में पुकार कहने लगा,
"माता ! यह कैसा कहाँ युद्ध है कि जिसमें
लड़ने चली हो तुम छोड़ हाय ! मुझको ?
जीवित रहूँगा भला विलग तुम्हारे मैं ?
जानती हो तुम तो कि छाया में तुम्हारी ही
जीता रहा अब तक मैं, सजग न होती
जो बाँध कर रखती न चिन्ता प्रेम जाल में
मुझको, तो निश्चय ही सर्पदंश विष से
किम्वा केहरी के नखघात से मरा था मैं।
बालहठ मेरा दु:खदायी कितना रहा

कितना उठाया कष्ट मेरे लिए तुमने ?
भाग कभी जाता था अकेले जब वन में,
पर्वतों में या कि सरिता के तीर, लोभ में
पक्षियों के और भृंग शावकों के साथ में
मंगल मनाने को, परन्तु परछाँई सी
पाता तुम्हें पीछे था। समर्थ जब आज हूँ
तोड़ सकता हूँ दंत मदमत्त गज का
जीवित मृगेन्द्र को उछाल मृग शिशु सा
खेल करता हूँ देखती हो तुम जननी !
कौन रिपु बोलो जो कि तात को समर में
मारने चला है ? दो निदेश अभी रात को
भेजूँ यमलोक उसे चीर अस्थिजाल को।
किन्तु हाय ! जानता नहीं मैं कौन तात हैं।
परिचय मिलेगा भला कैसे कहो उनका ?
भूल गये कैसे तुम्हें, और कैसे भूले वे
मुझको, बताओ अपराध क्या हमारा था ?
देखने की लालसा भी उनको हुई न क्यों
पुत्र और पत्नी को कठोर ऐसे क्यों बने
पूज्यपाद ? कहती हो राजपुत्र वे जो हैं,
फिर क्यों रहे हैं हम दोनों गिरि वन में ?
किसने सुना है कब बोलो पिता राजा हो
किन्तु पुत्र उसका वनों में रहे घूमता
दानवों के बीच सदा दानव कहाने को ?

मरता हूँ हाय मैं अभागा आज लज्जा से
दानवों के पुत्र भी पिता का प्रेम पाते है
और मैं नृपेन्द्र सुत जाना नहीं मैंने है
कैसा प्रेम होता है जनक का कहूँ मैं क्या ?
और रोश करती हो तुम भी तो जननी
उन पर तो रोष नहीं देखता तुम्हारा मैं ?
भूल गये तुमको वे भूलो तुम उनको।
लौट चलें आओ फिर दानवों के देश को,
ब्रह्मपुत्र देखने को चित्त है ललचता,
कूदने की चाह हो रही है महानद में
आता यही मन में कि ग्राह को पकड़ के
जल में किलोलें करूँ, डूबूँ, उतराऊँ मैं,
लहरों के शीश चढ़ मोद में लपक के
छूलूँ वृक्ष शाखाएँ, लटकती जो जल में
पर्वत शिखर से कि उनको पकड़ के
उतर पड़ूँ मैं नगराज की तलेटी में।
देखो यह यमुना बही जो यहाँ जिसमें
देह डूबती ही नहीं, तृप्ति नहीं होती है,
देखने में कोई कहीं दानव न आता है
मल्लयुद्ध करता मैं जिससे विनोद में।
देखा नहीं कोई यहाँ गंधगज जिसके
शीश से द्रवित मद शीश पै लगाता मैं !
लाई किस देश में मुझे हो कहो जननी !

पर्वत जहाँ हैं नहीं, जल का अभाव है,
रोक नहीं पाते वृक्ष तपन पतंग की,
सूखी सब भूमि, कहीं फूल है, न गुल्म हैं
सुनते नहीं हैं कान गुंजर भँवर की,
मधुचक्र मिलते नहीं हैं कहीं तरु में।
और यह अटवी कहो मैं इसे क्या हूँ
दिन में तो छाया कहीं खोजे मिलती नहीं
छिप कर रहना हो चाहती परन्तु क्या
छिपने का कोई ठौर पाया कहीं तुमने ?
और छिपने की बात जानता नहीं हूँ मैं
क्या भय तुम्हें हो जहाँ संग संग मैं रहूँ ?
किन्तु यहाँ रहने की इच्छा नहीं मेरी है,
और आगे बढ़ना भी चाहता नहीं हूँ मैं।
कौन जाने आगे कहीं वृक्ष भी न होते हों
फिर तो रहोगी कहाँ ?''

आई हँसी दानवी
रोकने लगी जो वेग आहा बढ़ता गया
मानस विलासी रस हास्य के प्रवाह का।
फूटा स्रोत सुख का, चरम लाभ पाया हो
आँखों में तरंगें उठीं मोद के सलिल की।
कंटकित रोम हुये पुलक समाई जो
डोली देह वल्लरी वसंत की प्रभाती में
डोलती है माधवी ज्यों दक्षिण पवन से।

हाथों में उठाया अहा! खींच पुत्रधन को
अंक में समेटती पुलक में पसीजी सी
बोली मोदवाणी में, तरंगें अहा! बोली हों
मोदमयी यमुना की, राधावर मुरली
बजने लगी हो जब तीर पर उसके।
"पुत्र! यदि जाना चाहते हो तुम लौट के
खेलना अभी है शेष ब्रह्मपुत्र नद में
तुमको, तो जाओ, विदा सुख से मैं देती हूँ।
आई हूँ यहाँ मैं इस दारुण समर में
प्राणनाथ जीवन की रक्षा लिये मन में।
मेरे हीनभाल में लिखा हो वत्स, चाहे जो
चाहती नहीं मैं अब जीना एक पल भी।
जानती नहीं मैं कल कालान्तक रण में
जीवित रहेंगे प्राणनाथ या कि मुझको
करके कलंकिनी सुहाग धन मेरा ले
वरण करेंगे। परलोक? नहीं रोना है
वत्स! अब मुझको न छिप के रहूँगी मैं।
मान के लिए ही उन मानधनी स्वामी के
रोती मैं रही हूँ और छिपती रही हूँ मैं।
पाण्डुसुत भीमसेन विश्रुत जगत में
विजयी बली वे, देवतुल्य रूपधारी वे,
मार जरासंध को बचाये प्राण जिसने
कारागृह बन्दी एक सहस नरेशों के।

फैली यह कीर्ति कथा दानवों के देश में
और अनुरक्त में तभी थी हुई उनपै।
लोकत्राणकारी नरकेशरी को मन में
पूजने लगी मैं किन्तु मेरे ही अभाग से
भाई जो हिडिम्ब दानवेन्द्र बली मेरे थे
सह न सके वे नरश्रेष्ठ की सुकीर्त्ति को,
और जैसे दैव की भी प्रेरणा यही रही।
दानवों के बीच दंभपूर्ण मेघवाणी में
बोले महावीर,

"दानवों की यही विधि है
मारते रहे वे नरसिंह कहीं जो मिले।
मार जरासंध को यशस्वी भीमसेन है
आज बना; किन्तु उसे मार के समर में,
लेना प्रतिशोध मुझको है मित्रवध का।
पाया सदा आदर था मैंने जरासंध से
रोकी नहीं जिसने अहेर दानवों की थी
दंडनीय जिसने न माना नरबलि को
और नर मांस भोजी दानवों की विधि में
बाधक बना न कभी, किन्तु भीमसेन तो
सुनते हैं कृष्ण की विडम्बना में पड़ के
रोकने लगा है दानवों की नरबलि को।
छेड़ कर दानवों को मारता सदा है जो

भागकर दानव हैं आ रहे शरण में
मेरे, दैत्य कुल को अभय दान देना है
मुझको कि आप मरना है जूझ रण में।''

उत्सव मनाया दानवों ने तब हर्ष से
मांस और मदिरा की आहुति दी अग्नि में,
नाचे और गाये, दैत्य बाजे बजे घोर वे,
काँप उठी जिनसे धरा थी भयभीत सी।
चलने लगे वे, राह घेर मैं खड़ी हुई
हाथ जोड़ बोली, ''हे सहोदर! हो जाते तो
किन्तु छोड़ते हो मुझे किसकी शरण में?
आदर करेगा कहो मेरा कौन भाई हे!
जब तुम रहोगे नहीं?''

हँस कर बोले वे,
''डरती है क्यों रे, वह भीमसेन सामने
मेरे क्या अड़ेगा पलमात्र जो कि रोती है?
रक्तपान उसका करूँगा कंठ काट के।
तो भी डरती है यदि, मेरे साथ चल के
देख निज आँखों से कि कैसे उसे खेल में
मारता तुम्हारा बली भाई दानवेन्द्र है।''
स्नेह से हिला के वहीं मेरी शीर्षचूड़ा को

हाथ धर आगे बढ़े और तीन मास में
पहुँच गये वे पार गंगा के विपिन में
कहते जिसे हैं कुरु उत्तर, अदय हो
और हो अभय मारने वे लगे खोज के
मानव कुमारों को ! न आई दया उनको
भागे नरनारी आर्त्तनाद करते हुये,
सूने पड़े ग्राम और सूने जनपद थे
कितने न जाने।

एक संध्या को अहेर से
अस्ताचलगामी रवि हो रहा था आये वे
अटवी के बीच जहाँ बैठी थी अधीर मैं।
बोले अब आओ चलें इन्द्रप्रस्थ पुर को
मानव विहीन यह धरती यहाँ की है
मिलते नहीं हैं अब मनुज कि मारूँ मैं।
होता कहीं भाइयों के संग भीमसेन जो
और साथ माता के समीप वनवास में
सूचना मिली थी तुम्हें अबला से जिसकी
आई थी यहाँ जो पुत्रप्राण भीख माँगने
किन्तु जब काटा शीश मैंने असिधार से
उसके तनय का, न माना अनुरोध भी
मैंने था तुम्हारा उसे प्राणदान देने का।
तुमसे कहा जो उस नारी ने विकल हो
लेंगे प्रतिशोध भीमसेन इस हत्या का

आये हैं इधर ही वे—'

वत्स ! देखा मैंने जो
उत्तर की ओर अंशुमाली विभा फैली हो,
विस्मय विभोर देखती ही रही आँखें ये
कह सकती है नहीं वाणी से विहीन जो
और नेत्रहीन वाणी चाहती है कहना।
देखती रही मैं वह रूप नरसिंह का
उन्नत ललाट, स्कंध, वक्ष, भुजदंड थे
काली तेजवाली लटें घेरती थीं ग्रीवा को,
स्वर्ण कम्बु जैसे पड़ा इन्द्रनील जाल में।
आँखें वे सरोज पर बैठे युग्म भृंग हों।
वंकिम अधर पुट नासा और भृकुटी,
देखती रही मैं हाय घूम कर भाई ने
देखा उन्हें और ललकार कर बोले यों
''कौन है रे निर्भय चला जो सिंह भूमि में
मानव विहीन किया मैंने इस भूमि को
हार थका आज कोई मनुज मिला नहीं,
उष्ण रक्त तेरा अहा! पीकर मैं जिसको
तृप्त हो चलूँगा इन्द्रप्रस्थ 'किस हेतु से'
बोले नरसिंह हँसी लीक लसी ओठों में।
रोष से अधर काट ज्वाला फेंक आँखों से
बोले दानवेन्द्र, 'भीमसेन वध के लिए।'

"आया हूँ यहाँ मैं यही सुनकर तुमको
हो न अब और कष्ट, कामना तुम्हारी जो
पूरी करूँ" कह कर हँसे जो नरकेशरी।
सिहर उठी मैं लगी धरती निरखने।
हाय ! दैव क्या है आज होनी थरथर मैं
काँपने लगी जो प्राणनाथ मृदुवाणी में
बोले "दैत्यराज यह अबला अधीर हो
काँप रही देखो चलो आओ दूर चल के
लालसा तुम्हारी करूँ पूरी नरवध की,
शस्त्र मैं उठाता नहीं नारी दृष्टि पथ में।"
किन्तु क्रूरकर्मा बली भाई कहने लगे
मारूँगा तुझे मैं यहीं और निज आँखों से
देखेगी तुम्हारा बध मेरी यह भगिनी,
ब्रह्मपुत्र पार से चली जो यहाँ तक है
संग संग मेरे, रक्त तेरा मैं पिलाऊँगा
इसको भी दारुण ये बातें सुन भाई की
प्राणान्तक पीड़ा से अधीर बनी मन में
कामरूप देवी को मनाने लगी हाय ! मैं
मारें नरसिंह इस दानव दुरन्त को।
रक्तपान कैसे करती मैं प्राणधन का
जिनके चरणों की चाह दासी बनने की थी ?
टूटे बली भाई नररत्न पर वेग से
वज्र सी चलाई गदा दायें घूम वे गये

धरती पर आकर गिरी जो धाँय ध्वनि से।
देखा इतने में नररत्न खड़े दूर थे
हँसते हुये जो हटे पीछे और कहते
'ले चला तुझे मैं दूर पापी! प्रण मेरा जो
टूटा नहीं अब तक है टूटेगा न आज भी
देखेगी न भगिनी तुम्हारी मुझे लड़ते।'
वैनतेय गति में वे आगे बढ़े पीछे से
दौड़े यमराज के समान दानवेन्द्र थे।
धरती पर माथा टेक रोने मैं वहीं लगी
आई निशा। अंधकार चारों ओर छा गया,
वज्र से भी दारुण सुनाई पड़नें लगीं
दोनों की गदायें, टकराईं बारबार जो।
छूटीं चिनगारी उठीं लपटें भयावनी,
टूटकर वृक्ष गिरे और पद चाप से
बार बार काँपी भूमि, भागे जीव वन के
भय से विकल गज भागे घोर रव से,
भागे सिंह, भागे मृगयूथ, एक साथ ही,
भूले जाति द्रोह वनजीव, छोड़ नीड़ों को
पक्षी उड़े व्योम में। सुनाई पड़ा हाय रे
घोर अट्टहास दानवेन्द्र का विपक्षी को
मार कर जैसे, मैं अचेत गिरी भूमि पै।
जाना नहीं मैंने तब, कितने विलम्ब से
मूर्छित रही मैं पड़ी भूमि पर, भाल में

मेरे यथा चंदन का लेप चढ़ा जागी मैं,
देखा व्योम मध्य सुधाकर सुधाधार से
सीच रहा धरती को फैली मंजु चाँदनी
और देखा देवदूत किम्वा पुण्यफल हो
मेरा देहधारी, वहीं मेरे पार्श्व तल में,
शीश पर मेरे धरे सरसीरुह कर को।
सहमी उठी मैं गिरी पावन पदाब्जों में
आँसू चले हर्ष के न रोके रुके, देह में
सिहरन डोली, बली बोले मृदु स्वर में
'देता हूँ अभय मैं भीमसेन देवि! तुमको
काम नहीं भय का सम्हालो चित्त अपना।
स्वप्न में भी होगा अपकार नहीं नारी का
मुझसे कहीं भी, देवि, देख कर मुझको
द्रवित हुई थी तुम भूलता नहीं हूँ मैं।
पाई शक्ति मैंने अनजान उन आँखों से,
देखा एकबार जब तुमने, मुझे लगा
पान किया आज मैंने दुर्लभ अमृत है।
फूली देह बल का उभार बढ़ा अंगों में
और तब दानव का शीश गदाघात से
मैंने है विदीर्ण किया भूपर मरा है जो।
किन्तु यदि सत्य ही जो मेरे रक्त पान की,
कामना हो तुमको तो प्रस्तुत सदा हूँ मैं।
हाय! हाय! करती मैं शीश धर हाथों में

बोली उन अग्रज ने झूट कहा, देव के
मरने के पहले मैं मरती अवश्य ही
देखने की साध जिन चरणों की मन में
मेरे थी समाई उन्हें देख धन्य मैं हुई।
कहती जो उनसे मनोरथ मैं अपना
शत्रु नाथ के वे भला जीवित क्या मुझको
छोड़ते जो आज इन आँखों कों जुड़ाती मैं?
अंक में समेट के दया के सिंधु बोले यों,
"हँसकर बताया यह देवि भेद आँखों ने
आते ही तुम्हारे, मृगनैनी नेत्रशर से
और क्या क्या कहने लगे वे हँसे मोद में
प्राणनाथ और हँसी मैं भी संग उनके
और क्या कहूँ मैं पुत्र कैसे कहूँ तुमसे
चाहती नहीं थी कहना मैं किन्तु जाने क्या
होगा कल रण में इसी से कहा मैंने है।
जान ली है तुमने कहानी पिता माता की,
तुमसे छिपा है नहीं शेष अब कुछ भी,
जाओ लौट मेरे तुम प्राण दैत्य देश को।
और पुत्र मोह छोड़ मैं भी चलूँ अब तो,
प्राणधन जीवन की रक्षा हेतु या जो हो
संग संग उनके मरूँगी रण भूमि में।"

बोला बली हाथ जोड़, "माता कहती हो क्या

जान लिया मैंने तात मेरे नहीं दोषी हैं,
जीवित हूँ जब तक मैं जननी जनक हैं
निर्भय सदैव मेरे, मुझको निदेश दो
जाऊँ मैं समर में, परन्तु कहाँ जाना है
जानता नहीं हूँ और लड़ना है किससे ?
मुझको मिलेंगे कहाँ पूज्यपाद उनसे
जाकर क्या कहना मुझे है कहो जननी ?

छाती से लगाया दानवी ने पुत्रधन को
बोली सविषाद "हाय ! दैव क्या इसीलिए
पालन किया था जननी ने सुत रत्न का
किन्तु अब लाभ क्या विषाद से कि रोऊँ मैं ?
प्राणनाथ मेरे नरकेशरी समर में
विजयी सदैव, पुत्र उनका अजेय है,
दोनों एकसंग जो रहेंगे कल रण में
कैसा बली होगा वह कर्ण जो कि मारेगा
उनको ? परन्तु सुना कालदूत उसको
कहता है लोक हाय ! दुर्निवार वाणों से
फूँकता है वृक्ष, वन, पर्वत निमेष में।"

बोला वीर साहसी अमंद धीर वाणी में,
"छोड़ो यह चिन्ता, कहो तात, से कहूँगा क्या ?

कहना तुम्हें है कुछ माता ! पूज्यपाद से ?
"जाओ वत्स ! जीवित मैं देखूँ फिर तुमको
कामना यही है अब और प्राणपति को
दे रही हूँ अन्तिम सहारा आज अपना,
फिर क्या कहूँगी उनसे मैं? इस युद्ध की
सूचना मिली थी दानवों से यहाँ आई मैं
और अभी मैंने नदी तीर पर कानों से
अपने सुना है बना सेनापति कर्ण है।
तीन दिन तीन रात मेरे साथ वन में
प्राणनाथ थे जब चली जो बात वीरों की
शत्रुओं के दल के अधीर होते देखा था
मैंने उन्हें नाम से ही कर्ण के परन्तु क्या,
वीरपत्नी औ वीरमाता जो बनी हूँ मैं
होने को अधीर? वत्स ! जाओ वहाँ कहना,
"दैत्य वाला जननी हिडिम्बा का तनय मैं
नाम है घटोत्कच जनक भीमसेन हैं
पाण्डुपुत्र मेरे, कभी देखा नहीं जिनको
मैंने इन आँखों से न अग्रज को उनके
जानता हूँ धर्मराज धर्म धीर हैं जो वे,
और वीरकुल के शिरोमणि अजेय जो
मझले चचा हैं पार्थ माता ने विनोद में
जिनका सुनाया यशोगान बार बार है,
कैसे कहूँ कौन हैं वे? चरणों में जिनके

शीश अब टेक कर मेटूँ साध मन की,
और वे नकुल सहदेव लघु तात हैं
दोनों कहाँ मेरे कहा माता ने कि प्रेम से
और सदा आदर से मान मुझे देंगे जो?
रूप धरे चरम प्रताप पुण्य बल से
इन सब के हाँ, यदुराज कहाँ कृष्ण है?
कौशल से और मनोबल के सहारे जो
पार करते हैं रहे संकट समुद्र से
मेरे पितृकुल को। प्रणाम करता हूँ मैं
चरणों में उनके। प्रणत एक साथ ही
होता यह दास चरणों में धर्मराज के,
उनके जो बंधु यहाँ बैठे हों शिविर में
और जो जो गुरुजन हों, सब को प्रणाम है।
मुक्त किया माता ने मुझे है मातृऋण से
और दे निदेश मुझे भेजा है कि जिससे
अनृण बनूँ में पितृऋण से समर में,
मारूँ वसुसेन को कि वीरगति को वरूँ।
हाथ जोड़ और शीश टेक कर भूमि से
मौन तुम होना वत्स! आदर से प्रेम से
तुमको उठायेंगे जनक वे तुम्हारे जो;
फूल बरसायेंगी सुरांगनायें व्योम से,
देववाद्य बजने लगेंगे, सुन जिनको
आनन्दाश्रु बैठ के बहाऊँगी अकेले, मैं
पुत्रवती हूँ जो धन्य हूँगी पुत्र गर्व से।''

तीसरा सर्ग

कामिनी निशा के ये कपोल स्वेद विन्दु से
झलक रहे हैं। नत वदना निशीथिनी,
वंकिम भ्रूपात से निशापति को देख के
सकुच रही है पल पल में, विनोदिनी।
पाया है अभी जो दान, प्रेम का, प्रणय का,
यामिनी ने हिमकर से, रति-श्रम भार से
शिथिल शरीर मुक्त वेणी, केशराशि में
मुकुलित नयन वाली, लज्जा में विभोर सी
मुँद रही आँखें मंजु, नींद में ज्यों श्रम से
चाहती विराम। अहा! अमरपुरी में भी
सो रहे हैं देव, और सोईं देव बालाएँ।
शिथिल चरण बजती है नहीं सिंजिनी,
नूपुर की ध्वनि भी नहीं है कहीं कानों में,
हो रहीं उनींदी अप्सराएँ देवपति की
लोक मोहकारी इस दिव्य रंगशाला में।
कल्पना में या कि स्वप्न में भी इस लोक के
जीव चाहते हैं जहाँ एक बार जाना ही,
देखे बिना जिसके न होता कभी पूरा है
काव्यबन्ध कवियों का, प्रेमीजन जिसकी
कामना में भूलते विधान हैं जगत का;
जागते में, स्वप्न जिसके हैं रहे देखते,
मनुज किशोर और मानव किशोरियाँ;
जब से चली है यह सृष्टि और जब से
धन्वी पुष्पधन्वा ने, कुसुम शर साध के,

आसन जमाया उन इन्दीवर आँखों में,
रूपसी की शुकतुंड नासा में, अधर में,
बिम्बा और विद्रुम सदा हैं रहे जिनको
देख कर पीले, उन अम्बुज कपोलों में,
हेमकली कुच में कि नाभि में नितम्ब में,
किम्वा उस नागिनी सी वेणी की लहर में,
देखते ही जिसको अमोघ विष मोह का
प्राण में समाता, धीर मानव अधीर हो
छूट जाता पल में विवेक तप बल से।
पाए कवि कैसे मनोयोग वह जिससे
साहस उसे हो, केलिधाम में समाए जो
सुरपति के, देखे जो कि अमर विलासिनी
अमरी वरांगनायें ऊर्वशी, तिलोत्तमा,
रम्भा और मेनका सरीखी चिर यौवना
देव वनिताएँ, मोद मोह पाता लोक है
छूकर किनारा रूप सागर का जिनके।
डूब गए विश्वामित्र और निमिऋषि भी
डूबे जिसमें थे भाव भोर कवि जन हैं
डूबते सदा ही जहाँ, लालसा में पद्म की
शुभ्र पद्म आसन की, वीणापाणि भारती
मानस विहारिणी बजाती जहाँ वीणा हैं।
पुण्यमयी, तुष्टिमयी आहा! जिस नाद में
मानव का मानस सरोरुह है खिलता,
और तब गन्धरस धार जो कि उससे
चल पड़ती है, लोक रंजिनी, जगत में,
कहते उसे ही कविता की सुधा, जिसको
पान कर मर्त्य अहा मृत्युंजय होता है।

काल और सीमा से विमुक्त मायापति की
माया यथा कवि की अबाध गति कल्पने!
बन्धन कहाँ है तुम्हें?

वैजयन्त धाम में,
पारिजात गन्धवाही वायु मन्द मन्द है
डोल रहा नन्दन का, बरबस कानों में
फूँकता चराचर के मन्त्र मनसिज का,
पुलकित दिगन्त सब ओर गिरि शृंग हैं,
पुलक अधीर लता, वृक्ष स्पर्श सुख से
रागिनी के फैली है अभी जो देव धाम से
अम्बर में, आहा! प्राण स्रोत स्वर लहरी
गूँजती प्रतिध्वनि सी वाणी ज्यों मरुत की
आज खुली, पीकर सुधा की धार धन्य जो
आनन्दाश्रु मोद से बहाता जीव लोक में।

नन्दन किनारे यह रम्य सुरपति की
रंगशाला, भुवन विमोहिनी, रजत की
और शुद्ध सोने की बनी जो, जड़ी मणियाँ
जिसमें असंख्य, दृष्टि पाती नहीं गति है।
विभ्रम में जैसे पड़ी शरद विभावरी
कलश किरीटी व्योम भेदी शृंगजाल से
लिपट रही है, यथा लीला प्रेमकाल में
चाहती निशाकर को बाँधे भुज बन्ध में।
किन्तु जब जाती एक ओर, शशि घूम के
आता दूसरी ही ओर, और इस गति में

एक शशि हो रहा अनेक पल पल है।
लोक लालसा से खुले मंजुल गवाक्ष हैं।
हाथी दाँत के बने जो, गन्ध रस भार से
विनत समीर जहाँ संचरित होता है;
पीकर जिसे ही यथा कल्प तरु कामना
पूरी करता है सभी देव कुल वन्द्य जो;
पूरी करता जो कहीं आज कवि मन की
कल्पतरु साध, बस एक क्षण को मुझे
देता वही दृष्टि और वाणी कालिदास की।
देख भर पाता आज वैभव विलास जो
अमर निकेतन का, और उसी वाणी में
लोक को सुनाता; फिर संकट समुद्र को
पार कर जाती यह जाति और जग में,
गौरव से ऊँचा शीश होता फिर इसका।
चिन्ता चूम पाती नहीं भाल को किशोर के
किम्वा किसी उत्सुक किशोरी के कपोल को।
उन्नत ललाट, स्कन्ध उभरे कुमार जो
धीर बुद्धि, वाणी, बल, विक्रम के निधि से,
और वे किशोरियाँ, बरोनियाँ थीं जिनकी
चूक मात्र से ही गड़ जातीं अरे! मन में;
पद्मराग रंग जो कि आनन् में उनके
रास था मचाता, रँगता था उसी रंग में
कवि जन मानस को।

किन्तु सब स्वप्न है
अब तो हमारे लिए, हाय! रुद्ध वाणी से

कवि कर्मलोक में हमें है मौन रहना;
चाहता इसी से आज वाणी कालिदास की।
अधरामृत पान कर कविता कुमारी का,
नील जलदों को अर्घ्य देकर कुटज का,
झूम रहा आज भी वियोगी राम गिरि पै।
घर्षण से ज्या के, मृगया में भुजदंड जो
पीड़ित हुए थे, पुरुवंशी भाग्यशाली के
कण्व के तपोवन में, सुन्दरी शकुन्तला
लीला पद्मधारिणी को पाकर प्रणय में
पुलक विभोर बने देखा जिन आँखों ने,
और जिन कानों में सुनाई पड़ी गूँज थी
मालविका किंकिणी की, अमृत पयस्विनी
जिसने बहायी थी प्रियम्बदा अधर से,
शशिकला ऊर्वशी के भ्रूविलास लास में
विरही पुरुरवा के नेत्र स्रोतजल से
आहा ! अभिषिक्त कवि वाणी कालिदास की
पाऊँगा कहाँ मैं भला; और अब कैसे मैं
पथ से विरत बनूँ ?

सुरपति सद्म में
सोना चाहती है यथा यामिनी शिथिल हो।
हो चले विरत हैं चरण अप्सराओं के
ताल और लय की उतार पर नृत्य से,
झलक रहे हैं श्रमसीकर कपोलों में,
नासिका के छोर पर, ग्रीवा में, अधर से
आधे खुले आ रही है गन्ध मृगमद की।

पान-पात्र रीते पड़े, मन्द ज्योति दीप हैं
अविरत काँप रहे, देख रूप ज्योति को,
किम्वा मधुधार जो कि अमरी अधर से
चलती रही है उसे पीकर हैं झूमते;
मसृण दुकूल अंग छिपते नहीं हैं वे
दृष्टि जहाँ टिकती नहीं है भला उनकी
कैसी उपमा की खोज? वाणी अरी कवि की
चंचल न होना, उपहास पात्र होगी तू
संयत न होगी यदि।

हाथ धरे रति का
दक्षिण के द्वार से अनंत विश्वविजयी
करता प्रवेश अहा! देवपति धाम में।
वासन्ती प्रभात में हिले हों पद्मदल ज्यों
मारुत से प्रेरित, सहास्य नत मुख हो
जोड़े कर देव वनिताओं ने विनोद में।
हँस पड़े देवपति देख रतिपति को,
आसन को छोड़ उठे और भुज बन्ध में
बाँधा उसे अमर विनोदी हँसने लगे।
काम का धनुष भुजमूल में है रति के,
अक्षय निषंग डोलता है संग वेणी के,
देख यह दृश्य भ्रूचलित अप्सरायें हैं
चन्द्रानन मोर के हँसी का वेग रोकतीं।
बोले सुरपति, "मित्र रीति विपरीत क्या,
तुमने चलाई आज? विश्व मनमोहिनी
रति क्या चलायेगी अमोघ शर काम के?

काँपता रहा हूँ अभी देख कर मित्र मैं
पारिजात कुंज में खड़े हो, रोष मुद्रा में,
तुमने चलाये जो अमोघ शर लोक में।
देखी सखा मैंने नहीं मुद्रा यह रोष की
शंकर समाधि तोड़ने को जब तुमने
कार्मुक टंकार किया और शर जाल से,
बेधकर तीनों लोक चौदह भुवन को,
छोड़ा यह दारुण विशिख था महेश पै।
आहत हुए थे योगिराज, उस पीड़ा को
रोक सके वे भी नहीं कालानल ज्वाला में
फूट कर फैली जो कि भाल के नयन से।
आज यह रोष कहो कैसे किया तुमने?
कामज्वर पीड़ित जगत के विधान क्या
एक भी रहेंगे आज? बोलो जीवलोक में
संयम विवेक छिपने का ठौर भी कहीं
पा सकेंगे?''

बोला बली काम देव राज से,
''कैसे कहूँ आपसे अधीर आज कितना
हो रहा हूँ। देव, यक्ष, किन्नरों के कुल में,
मानव की बात क्या, अमानव विभूतियाँ,
उग्र साधना में सिद्ध दानव तपस्वी भी
कौन वह आत्मजयी आया सृष्टितल में
सफल रहा जो, मुझे रोक, सृष्टि धर्म के
रोकने में, विरत रहा हो आत्मरस से?
स्वप्न में भी आयी नहीं कामना प्रणय की
रति रंग मोह नहीं छाया जिस मन में,

दुर्निवार मेरे शरजाल सदा जिस पै
चूकते रहे हैं, एक मानव जगत में
मनसिज को मार कर, इच्छा मृत्यु आज है।
घूम सब लोक मैं मनोभव की गति से
आज जब लौटा अभी पारिजात बन में,
दारुण विशिख सेज ऊपर मनस्वी का
रूप जो कि देखा नहीं भूल सकता हूँ मैं।
पल मात्र को भी अन्तरिक्ष में निकट जो
उसके रुका था, पुष्पबाण करतल के
झुक गये नीचे, पड़ी ढीली ज्या धनुष की,
रीता हुआ अक्षय निषंग पल भर में।
चिन्ता देवपति को हुई जो लोक विधि की,
चिन्तित उसी से मैं अधीर जीवगति की
रक्षा करने के हेतु पारिजात बन में,
सारे जीव लोक से समेट राग रस के
पुंजीभूत विशिख बनाये और तब से
उन्मादन और शर तापन से भेद के
चंचल करता हूँ रहा चित्त व्रती भीष्म का।
और शर सम्मोहन पुलक विभोर हो
मैंने जो चलाया, अभी पुलकित कंठ से
फूट पड़ी वाणी देवव्रत की "न पीड़ा दो
अम्बा अब विवश पड़ा हूँ शरशय्या में,
छोड़ी रूप माधुरी तुम्हारी व्रतरक्षा के
हेतु से निवारण किया जो धर्म सृष्टि का
पा रहा उसी का भोग, मृत्यु की भी मुझ में
रति अवशेष नहीं, मृत्युंजय होना भी
चाहता नहीं हूँ; किस लालसा से जग में

जीवन की कामना करूँगा ? अनुराग से
हीन तो रहेगा नहीं अचल सुमेरु भी।
जलती अकेली समिधा भी नहीं कुंड में।''
''और इसी जीत में पुरस्कृत हुई हूँ मैं
विश्वजयी मन्मथ के धनुष निषंग से''
बोली रति रानी।

बजी वीणा शारदा की ज्यों।
संग संग हँसने लगीं जो देवबालायें,
अमर विनोदी हँसें; देवपति धाम से
निकली सुधा की धार धोती हुई जग की
तपन मरीचिका।

कटाक्ष शर रति के,
मन्द हास्य रंजित, चले जो कहा काम ने,
''देखो एक बार और इन्दीवर लोचने !
कहते हैं विष की महौषधि भी विष है।
दंड दे रही हो यदि जानो भवलोक में
होंगे अभी और देवव्रत, सुकुमारियाँ,
प्रणय अधीरा भग्नकामा शाप तुमको
देती ही रहेंगी। देवपति के निदेश से
जाना चाहता हूँ अब लोक मायापति के।
चरणों में बैठ कर उनके मिटाऊँ मैं
संशय जो चित्त में बसा है; किस बल से
मनसिज जयी था बना मानव जगत में ?
और आज चंचल हुआ जो चित्त उसका,

भावना में कामना हुई जो राग की
जानता नहीं मैं यह जीत या कि हार है
लोक के विधान की ? बताएँगे इसे वही
लीलामय हैं जो और लीला यह सृष्टि है
जिनकी अगम योग माया में दिनेश भी
घूमता विवश यथा''

देवधाम सहसा
मुखरित हुआ जो हँसे देवपति, उनके
संग संग देव हँसे यक्ष विद्याधर जो
हँसने लगे वे, श्वेत पद्मदल व्योम से
अविरत चले ज्यों खुली वाणी आज विद्या की,
हँसने लगीं जो अप्सरायें विश्व मोहिनी।
साध्य नहीं कवि के लिए जो इस हर्ष को,
कामना के धन को, उतारे शब्दकोष में।
भावना विलासी भावुकों के भावलोक में
संचित रहेगा यह हर्ष इसी आशा में
धन्य हुई आज कविवाणी, देवव्रत की
विस्मय विभूति को निहार भर आँखों से।
वाणी के अनुग्रह से एरी कविवाणी तू
उतर धरातल को देवरस रागिनी
जीवगति संभवा तू जीवगति लोक में
रमण करेगी रागरस उपजावेगी,
कवि कर्म पूरा तभी होगा।

ढली यामिनी,

निद्रावश विवश चराचर जगत में
शिथिल पड़ा है, गतिहीन जीवगति है।
झाँक रहे नभ के गवाक्षों से नखत ये,
मर्त्यलोक सूना पड़ा कर्मलव हीन हो।
मानव का दम्भ जो कि इच्छा मात्र से अरे!
मेरु दंड बनता रहा है भव लोक का
होकर अचेत पड़ा जैसे काल पाश में
हँस रहे देख जिसे दिव्यलोक व्योम के,
जिनकी हँसी है बनी चाँदनी जगत की।
पुण्य भूमि आहा! कुरु भूमि यह जिससे
धारण किए हैं उत्तरीय कीर्तियश के,
सो रहे हैं वीर शिविरों में जहाँ सुख से।
मृत्यु भय जिनको नहीं है और जीने की
लालसा भी जिनकी मिटी है रणभूमि में।
जीवन मरण भेद हीन नरसिंह ये,
समरस भाव से, पराजय के जय के
झूले में पड़े जो गति अगति विहीन से,
जानते नहीं जो अन्य धर्म धर्मयुद्ध से
बढ़कर भी होता कहीं, काल की हथेली में
सोये पड़े।

पश्चिम की ओर रणभूमि है,
वनचर सभीत डोलते हैं मांस लोभ में
रक्त और मज्जा की नदी सी बही हाय रे!
ऐरावत जैसे भीमकाय गत भूमि में
शुंड पीट प्राण छोड़ते हैं और अश्व ये,

सप्तश्रवा अड़ता था वेग देख जिनका,
रथ में जुते ही कहीं और कहीं रास में
प्राणहीन रक्त की नदी में पड़े नक्र से।
चूकते नहीं थे परिहास करने में जो
अन्तक से, विश्वजयी वीर खंड खंड हो
भूपर पड़े हैं। छिन्न शीश छिन्न कर हैं,
और कहीं छिन्न भुजदंड वर्म पहने,
मणिमय मुकुट पड़े हैं, हेमकूट के
अंगभंग जैसे पड़े देवासुर रण में।
चारों ओर फैले रत्नहार, हो अनल की
रसना ज्यों फैली, गिरे कुंडल वलय हैं
नागमणि वाले, अंश जिनमें तड़ित का
लहक रहा है नेत्र तेज से झुलसते
देख जिन्हें, फलक कृपाण असि धार में
चारों ओर तोमर, परशु में परिघ में
अष्टधातु निर्मित गदा में काल डोलता।
एरी कुरुभूमि! रक्त पान कर वीरों का
महिमामयी जो बनी धन्य आज तू जो है,
सावधान देखना कि मान उस रक्त का
मिटने न पाये कभी, वीरयोनि रहना।
शीश पर तेरे पद अन्यथा पड़ेंगे हा!
शत्रुओ के, दस्यु हीन-जन्मा पाप पंक में
ठेल तुझे देंगे पुत्र तेरे, पराधीन हो,
गौरव की यातना सहेंगे भवलोक में।
वीरकुक्षि ऐरी कुरुभूमि! पुण्यभूमि जो
वीरकुलधारिणी री, वीर भवलोक के
वीरधर्म साधन को आए थे शरण में

तेरे, आज सौंप तुझे कीर्तिधन अपना
लोक से सिधारे। कीर्ति कौमुदी जो उनकी
तम में विलीन हुई तब तो धरित्री का
धर्म तेरा भव से मिटेगा, भाग्यहीन तू
अधम उपेक्षिता रहेगी सदा हाय रे,
और तब कीर्ति देवव्रत से तनय की
तेरे लुप्त होगी, रवि जैसे राहु ग्रास में।
देख अरी! देख यह मध्य रणभूमि में
आँखें खोल देख, पुत्र तेरा देवव्रत है,
धीरव्रती, सेज पर वाणों की, अनल की
लपटें चतुर्दिक चली हैं जिसे घेर के,
मृत्युंजय मृत्यु की शिखा में कंठ बाँध के
खेल रहा अंक में समेटे काल बाला को।
देह में जमें हों यथा काँटे घने साही के
वैसे शर भेद के शरीर अस्थि जाल में
जा लगे हैं, फोड़कर स्फाटक ललाट को
वज्र शर अर्जुन के, तीन काल नाग ये
एक में गुँथे से, या कि छूट कर कर से
शूली के त्रिशूल गिर आहा! हिमशृंग पै।
निकल रसातल से मंदाकिनी आप ही,
कामधेनु स्तन से चली हो धार दूध की,
सींच रहीं कंठ, आँखें आधी खुली व्योम में
जा लगी हैं, पलकें टिकी हैं गतिहीन सी।
शान्तरस देहधारी जैसे कालभूमि को
शान्त करने के लिए आया आज आप ही।
चिन्तन की आभा फूट फैलती है भाल से,
तालगत श्वास क्रमसिद्ध चलती है जो

छाती उठती है और बैठती हैं यंत्र सी।
निर्विकल्प जैसे हो समाधि लगी धन्य रे,
देख जिसे आँखें झुकी जा रही हैं भक्ति से।
विस्मय विभोर मन्द वाणी हीन कवि की
शक्ति कहाँ पायेगी कि चित्रित करेगी जो
देव दैत्य मानव असिद्ध, देवव्रत की
सिद्धि यह, मृत्युंजय मानव की कामना
मनसिज जयी हो यदि।

उत्तर की ओर से
आरही है नारी यह कौन मन्दगामिनी,
भय से विहीन, शोक मुद्रा में दबी सी जो
सहमी चली है आ रही जो? पदतल हैं
जैसे जड़े धरती में, चकित बिलोकती
चारों ओर, पैरों के समीप हाथ जोड़ के
रुक गई, आँखें टिकी जा के धरातल से।
बोले देवव्रत "कौन आया यहाँ ध्यान में
बाधा पड़ी मेरे? कुरु पाण्डवों के दल के
वीर जानते हैं सभी आधी रात बाद जो
चाहता नहीं हूँ बोलना मैं एक शब्द भी।
कंठगत प्राण रोकने के हेतु मौन हो
रहने में शान्ति मिलती है मुझे। कौन हो,
बोलो तुम? वाणशय्या शायी देवव्रत से
किसका मनोरथ है शेष"?

मेघमन्द्र सी

गूँजी वह वाणी, लगी थरथर काँपने
अबला खड़ी जो वहाँ बोली शोकस्वर में।
"आर्य ! मैं अभागिनी हूँ कन्या शूरसेन की,
पाण्डु की सहचरी मैं अर्जुन की माता हूँ
कुन्ती, खड़ी दासी घोर संकट की बेला में
आयी मैं शरण में पितामह के, दु:ख जो
आप को दिया है अपराधिनी अभागिनी,
पाप की घड़ी में जन्म मैंने लिया, पाप में
लिप्त यहाँ आयी हो अधीर, यही आशा है
पुण्यव्रती पुण्य की शिखा में आज आप की
भस्म पापपुंज मेरा होगा।" बली बोले यों,
"मर्मान्तक पीड़ा मुझे हो रही है देख के
कुरुकुल राजलक्ष्मी आयी रणभूमि में
मृत्यु खेलती है जहाँ। पौरुष विहीन क्या
कुरुजन हुए हैं अब जो कि तुम अबला
आयी वीरभूमि में मिटाने वीर कुल की
गौरव विभूति देवि? पार्थ की हो जननी,
धर्मराज और भीमसेन सम पुत्रों की
माता तुम धन्य वीरगर्भा किस हेतु से
आयी यहाँ? लौटो, लौट जाओ अभी, और जो
देना हो निदेश मुझे भेजो सव्यसाची को;
भेजो भीमसेन को, या चाहो यदि और जो
मान मुझे देना, भेज देखो धर्मराज को,
यदुरत्न कृष्ण अनुशासन तुम्हारा ले
दास को करेंगे कृतकृत्य, आप आवेंगे
मुझको सुनाएँगे मनोरथ तुम्हारा जो,
निश्चय ही जानों देवि। स्वप्न में भी मुझसे

होगी अवहेलना तुम्हारी नहीं। नारी की
छाया मात्र से भी सदा डरता रहा हूँ मैं।
जानती हो तुम तो कि अर्जुन के रथ में
देख के शिखंडी को, चन्द्रमुखी रमणी
मान उसे, मैंने शस्त्र फेंक मुख फेर के,
और तब पीठ में लगे जो शर मेरे थे,
गांडीव ज्या से चले, शय्या बने मेरे हैं।
कुलबधू मेरी तुम जानती नहीं हो क्या
व्रतधर्म मेरा? रूपनारी का न आँखों से
देखना मुझे हो कभी और वाणी कानों में
नारी की न मेरे पड़े। व्रतभंग दोष से
रक्षा करो मेरी अनुरोध मेरा तुम से
लौट तुम जाओ''।

हो अधीरा रुद्ध कंठ से
बोली पृथा, सफरी पड़ी ज्यों नदी तीर की,
रेती में निरखती हो नीर निज आँखों से,
''जानती हूँ व्रत और व्रतभंग दोष भी
किन्तु हूँ विवश देव! साहस बटोर के
आयी हूँ समीप हतभागिनी कहूँगी क्या
आप से भी कैसे? हाय! कैसे सव्यसाची से,
धर्मराज से या भीमसेन से कहूँगी मैं?
काँपती है वाणी जलती है हाय रसना
कुलबधू आपकी मैं हाय! सुतलोभ में
कहती हूँ कहती कभी जो नहीं प्राण के
लोभ में भी, पुत्रप्रेम अबला के धर्म का

ध्वंस करता है सदा, निन्दा अपयश की
अग्नि भी तो चन्दन की पंक सी है लगती
पुत्र प्राण कामना में''।

बोले व्रती, ''तब क्या
वीर माता भय से अधीर तुम आयी हो?
अर्धरथी कर्ण किस शस्त्रबल से कहो
मारेगा धनञ्जय को जो कि तुम्हें भय हो?
वामन क्या तोड़ कभी लेगा व्योम तल के
तारक समूह या कि शशि को, जो भय से
काँप रही मेरी कुल लक्ष्मी यों अधीर हो?
अर्जुन की जननी डरी जो सूतसुत से
सुन कर लोक क्या कहेगा देवि! सोचो तो?
बाँधा जिस वीर ने अचल सेतु बाणों का
विक्रम समुद्र बीच द्रोण के, जगत के
वीर सभी विश्वजयी मानते हैं जिसको;
देव नर दैत्य रण में जो सदा विजयी
अब लौं रहा है, देवि! मार कर कर्ण को
दिव्य देव शस्त्रों से सुलाएगा समर में।
देव वनिताएँ बलि जाएँगी सुयश से
देवि! हे तुम्हारे, तुम धन्य वीरजननी
हैमवती विक्रम से, जैसे शक्तिधर के।''

''हाय दैव कैसे मैं कहूँगी, किन्तु अब तो
चाहती क्षमा हूँ, कुरुकेतु पुत्र मेरा है,
कालपृष्ठ धारी कर्ण। मेरे भाग्य दोष से

लोक कहता है उसे सूतसुत, आप भी
अर्धरथी कहते हैं कुल के विचार से।
राधा बनी जननी जो अधिरथ जनक है
मेरे पापफल से, बहाया हाय मैंने था
गंगा के सलिल में प्रभाकर के पिंड सा
जन्मकाल में ही हाय ! छाती फटी जाती है।
पापिनी कलंकिनी मैं आयी जो शरण में,
लोकलज्जा भय से बहाया जिस शिशु को,
इन्दीवर नेत्र और अम्बुज अधर वे
कातर हिले जो, लगी काँपने अभागिनी
देवसरि नीर में खड़ी मैं गत चेत सी।
आया जब चेत और दृष्टि चली धार में
लुप्त हो चुका था वह रंभा दंड जिसमें
प्राण सिमटा था हाय ! जननी कुमारी का।
लोकविधि कातरा जो लोक अपवाद से
अब तक छिपाया यह सत्य इस दासी ने,
पापिनी कलंकिनी हूँ किन्तु व्रती माता हूँ,
विधि के विधान से। कहूँ मैं अब और क्या ?
लोक विधि जानती नहीं है कभी जननी
पुत्रमोह प्राण में समाता जब हाय ! रे।
याचना है आज चरणों में वसुसेन के
जीवन की, लज्जा छोड़ आई यह दासी है
जिस फल हेतु, अपवाद का अनल भी
शीतल हो मेरे लिए पाऊँ यदि उसको।
जागी आज जननी की ममता है मन में
मेरे और उल्का सी अधीर यहाँ आई हूँ।
पार्थ से विशेष, यदि मानें सच आप जो

तब तो कहूँगी, प्रेम मेरा कर्ण पर है।
आज, वह सद्य: प्रसूत सुत आँखों में
डोल रहा अंचल में प्राची के अरुण ज्यों।
पातक से मेरे हीन जन्मा रहा लोक में
कुक्षिमणि मेरा, मनस्ताप में जला है जो
विश्व विजयी भी कुलजन्म के विचार से।
होनी तो रुकेगी नहीं किन्तु, देव चाहें जो
आप यदि, कर्ण और अर्जुन कारण तो
रुक सकता है कल, जन्म एक माता से
दोनों ने लिया है।"

"रण रोकने से लाभ क्या
सोच कर देखो देवि!" बोले बली शोक से,
"कारण है कर्ण एक मात्र इस रण का।
जन्मकथा उसकी सुनी जो आज तुम से
हो रहा द्रवित चित्त मेरा, विधिवश है
मानव शरीरी फिर कैसे तुम्हें दोष दूँ?
किन्तु व्यर्थ तुमने बताया यह वृत्त है,
कुरुभूमि लज्जा से धँसेगी इसे सुन के,
कौरवों की कीर्तिकला लुप्त होगी पल में।
फैलेगी कहीं जो यह बात पुत्र पांडु के
युद्ध से विरत जा छिपेंगे घोर बन में,
और महामानी कर्ण पल भर भी नहीं
जीवन की कामना करेगा। विधिवश जो
लोक में उपेक्षित रहा है हीन जन्म से,
अर्द्धरथी मानता रहा हूँ उसे मैं भी जो
एक मात्र कुल के विचार से, नहीं तो क्या

इस भवभूमि ने कहीं भी और देखा है
दान और शौर्य की विभूति, जो कि कर्ण की
समता करेगी कभी ? किन्तु तुम जननी
जिस नरसिंह की न हीन करो उसको।
जानता नहीं है लोक जननी जनक को
विश्वजयी और विश्वदानी वीर कर्ण के,
कीर्तिधनी, कुल और वंश की विभूति से
वंचित भी देवि, निज पौरुष के बल से
और दानव्रत से यशस्वी बना लोक में।
धन्य किया उसने भी धन्य कुक्षि कुन्ती की।
अब तुम न मेटो यह कीर्ति रेख उसकी
मोह में अधीर बनी; नारी मोह पाश में
बाँधकर बुद्धि बल विक्रम विवेक भी
मानव की नीति मेटती है धरा धाम से।
मोहमयी नारी मोहशृंखला से नर को
मुक्त करती जो कहीं तब तो जगत में
स्वर्ग आप आता, और विग्रह अभाव की
लुप्त शिखा होती समरस धीर धर्म से
सुख और दुःख का विभेद मिट जाता ही।
कामना तुम्हें हो देवि! कर्ण के शरीर की;
भूल तुम जाओ वीरकीर्ति वीर सुत की
और भूल जाओ धर्मभावना भी उसकी,
फिर भी तो सोचो भला काया क्या अमर है ?
मानव मृत्युंजय बना है कीर्ति धन में।
मोह हेतु आई जो समीप आज मेरे हो
जीवन की रक्षा चाहती हो वसुसेन के।
युद्धव्रती होवेगा विरत कहो रण से,

कालपृष्ठ मौर्वी में बँधा है प्राण जिसका
खोल उसे देगा वह जननी के मोह में ?
खोल उसे देगा वह मोह में भी प्राण के ?
सम्भव नहीं है जानता हूँ देवि ! उसको,
धर्म की धुरी को, कर्मवीर वसुसेन को।
लौट तुम जाओ और सत्य ही जो सुत है
कर्ण भी तुम्हारा ? फिर भी जो अविचार से
पुत्र मोह वश में पड़ी जो भूल जाती हो
मारे गए वीररत्न कितने हैं विश्व के
इस रणरंग में। क्या जाना नहीं तुमने ?
वीरहीना आज है बसुन्धरा, गिरे हैं वे
वीरमणि मुकुट कि जिनसे धरा का था
मानदंड अडिग, गिनाऊँ तुम्हें नाम क्या ?
भानुमती पुत्रशोक में है पड़ी पृथ्वी में
और है सुभद्रा भी गिरी तो पुत्रशोक में।
दोनों पुत्रवधुएँ तुम्हारी, भला तुम क्यों
चाहती हो और एक पुत्र पाना जग में ?
कैसा यह स्वार्थ और कैसा अविचार है ?
सृष्टि की विभूति भोगने को तुम्हें कामना
हो रही है कैसे जब लीक कुरु वंश की
मिट रही लोक में है विधि के विधान से ?
जी रहा धनंजय है विश्वजयी फिर भी
पुत्रवधू उसकी बनी जो बालविधवा
देखती नहीं क्या इसमें ही लिपि होने की,
जोकि अभी और फलप्राप्ति हेतु आई हो ?
रोका नहीं तुमने क्यों कृष्ण और कृष्णा को
दोनों ने जलाया जब कालानल रण का,

वासुदेव बनकर चले जो संधिदूत थे।
जानती हो तुम तो कि बुद्ध बँधी उनकी,
कृष्णा की विमुक्त वेणी पाश में कहूँ मैं क्या ?
कौरव सभा में संधितन्त्र खोल बैठे वे
रोष और विस्मय से काँपी आप धरती।
पाँच क्षेत्र माँगे चार क्षेत्र चार सीमा के
एक अभी शेष, जैसे वामन ने बलि की
पीठ नाप ली थी डग आधे में, अमर्ष से
कुंठित सुयोधन ने पीठ दिखलायी थी
हँसकर। हँसे थे सभी पारिषद, मैं भी था
बैठा वहाँ, कुंचित ललाट पर कृष्ण के
क्रूर दुर्दैव का भृकुटिभंग जैसे था
खेल रहा।

बोले धृतराष्ट्र 'वासुदेव हे !
ठौर कहाँ जा कर बसेंगे सुत मेरे ये,
वारणावत, खांडव के साथ बृकप्रस्थ भी
और इन्द्रप्रस्थ भी तो माँग रहे तुम हो
फिर क्या है शेष कुरुभूमि में बनेगा जो
पाँचवाँ विभाग पाण्डुपत्रों का कि जिससे
तोष मैं तुम्हें दूँ ! और भेजूँ कहाँ पुत्रों को ?
बन्द नेत्रवाली सती गाँधारी कहेगी क्या ?
कुलद्वेष नीति जो चली थी भाग्यदोष से
शान्तनु के कुल में जने थे पुत्र कुन्ती ने
जब और जैसे। पर मैं तो सदा उनको
पुत्र मानता ही रहा, कन्या है द्रुपद की

अग्निशिखा कौरव अरण्य की, जलेगा जो
शान्त नहीं युक्ति से हुई जो यह जान लो।
राजसूय यज्ञ में युधिष्ठिर के मैंने जो
भेजा था सुयोधन को, और मित्र भाव से
कर्म सभी करता रहा जो किन्तु, अन्त में,
अन्धपुत्र उसको बनाया जब कृष्णा ने,
मर्माहत पुत्र, अपमान में अधीर हो,
द्यूत की सभा में शकुनी के कूटमन्त्र में
जा पड़ा जो पांडवों के अग्रज भी जिसमें
अन्ध अविवेकी बने, हारे धन धरती,
हार गए चार भाइयों को निज देह भी
हार कर हारे जब द्रुपद सुता को भी।
सत्य है, सुयोधन ने बस प्रतिकार के
भाव से, बुलाया उसे द्यूत की सभा में था,
और मन्दबुद्धि ने दी संज्ञा उसे दासी की।
नारी ने किया था अपमान नर उसका,
बदला चुकाने चला निश्चय ही वत्स हे!
जान लिया मैंने कुरु वंश अब डूबेगा;
सूचना मिली जो, पूज्यपाद देवव्रत का
लेकर सहारा जब आया द्यूतधाम में
विष बुझे शब्द द्रौपदी के पड़े कानों में,
दे रही थी प्रतिफल जो मुझको अभागा मैं
जीवित था सुनने को अपशब्द उसके।
राज्य धनधाम पांडवों का सभी देना मैं
चाहता तभी था, पर प्रतिहिंसा रूपिणी
काल की शिखा सी पांडवों की वशीभूत सी
करती जो बोली याज्ञसेनी, सिर थाम के

बैठ गया धरती पर हतबुद्धि सा जो मैं।
पुत्रबधू मेरी, छोड़ शील और लज्जा को,
राजनीति मुझको सुनाने लगी। मौन मैं
सब सुनता ही रहा और जब अन्त में
उसने सुनाया,

'कौरवों के दानरूप में
राज्य हम लेंगे नहीं, पौरुष के बल से
पांडुसुत वीर यदि होंगे रणभूमि में
काट कर शीश शत्रुओं के पाद पीठिका
जब वे बनाएँगें, बनेंगे अधिकारी वे
कुरुभूमि भोग के रहेंगे शत्रुहीन हो।'
हाय! हाय! करता रहा मैं कुरुकुल के
केतुव्रती देवव्रत कामना विहीन जो।''

मौन हुए वीरकुल गौरव जो पल में
आँखें मुँदी, श्वासक्रम धीरवेग में बढ़ा।
कुंचित भृकुटि, वक्रनासिका, अधर जो
दन्तों तले आ पड़ा, यशस्वि यथा पीड़ा को
दारुण शरों की रोकने में लगे रोक के
प्राण का प्रवाह; शिला जैसे पड़ी हिम की
वैनतेय पंख जिसमें हों गड़े।

भय से,
काँपती सी आयी मन्दवाणी तब कुन्ती की,

"जा रही है दासी, हाथ जोड़ क्षमा माँगती
देव से, दिया जो कष्ट आज अविवेक में,
सत्य ही है कृष्ण और कृष्णा इस युद्ध के
कारण बने हैं। पुत्र मेरे परवश हो
मन्त्र में पड़े हैं जब कृष्ण और कृष्णा के
तब तो नियति अवलम्ब अब मेरी है।"
"किन्तु क्या विभव और सुख भोग लिप्सा से
मुक्त तुम हो सकोगी भाग्यवश जननी?"

वीरकुलकेशरी अधीर कर्ण बोला यों
उतर पड़ा हो यथा मंगल के लोक से
मंगल शरीरधारी देव अंश से बना,
"फिर क्या नियति का सहारा तुम्हें मोह में,
मोह के समुद्र में पड़ी जो विधिवश हो।
आकर सुनाया अभी वृत्त तुमने जो है
लोक महिमा की निधि पूज्य पितामह को
सुनता रहा हूँ, था सुनाया स्वयं तुमने
मुझको भी गंगा के किनारे और तुमको
मैंने था भरोसा दिया अर्जुन को छोड़ के
आहत करूँगा नहीं और किसी भाई को।
जानती हो तुम तो कि पुत्र मैं तुम्हारा हूँ
किन्तु ज्ञान मुझको हो कैसे तुम जननी
मेरी भी? परन्तु बात मान के तुम्हारी मैं
छोड़ता रहा हूँ भीमसेन को समर में।
बार बार करके पराजित, निरस्त्र जो
भग्नरथ, भग्नकेतु, प्रत्यंचाविहीन भी

जी सका है, अब तक सो जानों अनुकम्पा के
कारण ही मेरे। तुम माता हो कि अन्य हो
पूजनीया मेरी हो सदैव, जाति नारी की
मातृभाव से ही पूजता मैं रहा, श्वास है
जब तक शरीर में सदैव मातृभाव से
पूजता रहूँगा महिमा की निधि नारी को।
हीनजन्मा राधा ने उठाया जब मुझको
गंगा के सलिल से लगा के मुझे छाती से
स्तनदान मुझको दिया जो सुना मैंने है
फूटी धार पय की थी उनसे पला था मैं।
वन्ध्या बनी पुत्रवती पय की विभूति से।
हीनजन्मा नारी जहाँ, जीवन की मूरि हो,
पूत पयोधर से जिलाए परशिशु को,
स्नेहमयी धरती का भार जिस मन में,
कैसे फिर शंका वहाँ नारी में कुलीन जो?
कहती हो जन्म तुमने था दिया मुझको
पुण्यमयी, पद में तुम्हारे हूँ प्रणत मैं
जननीमय मुझको पिला जो यह लोक है
केवल प्रसाद से तुम्हारे भगवति हे!
किन्तु अब रोको निज वाणी, यह पुत्र जो
सामने खड़ा है एक मात्र सुत राधा का
जानो इसे। राधा सुत लोक कहता है जो
कुलबल विहीन, पुरुषार्थ का सहारा है
मेरे लिए उसमें भी, किन्तु पुत्र कुन्ती का
बन कर गिरूँगा पुरुषार्थ से भी जननी!
कुल तो मिलेगा नहीं जानती हो तुम भी।
अशुभ रहा है यह लोक शुभे! बल दो

जिससे कि पाऊँ वह लोक शुभकारी मैं।
मेटने चला था कभी लोक का विधान जो
कहता ही आया सदा पूजित है गुण से
इस भव-भूमि में मनुज, कुल वंश की
चलती विडंबना रही है अब तक जो
मिटकर रहेगी, पुण्यपर्व वह आयेगा
मानव समान सुखभोगी दुख भोग से
छूट कर सहज बनेगा अधिकारी जो
देवपद का भी। भाग्य उसका सराहेंगे
देवता भी मोद मान, किन्तु अभी तुमने
जो कुछ कहा है पूज्यपाद से, उसी में है
अग्नि-लिपि होनी की, सदैव इस जग में
कुल और वंश का विधान जय पावेगा।
ऐसा जो नहीं हो फिर एकरूपा सृष्टि क्या
चलती रहेगी? नहीं सम्भव है जय भी
हो जहाँ पराजय का भोग, कुलजन्म से
पूजित रहेगा नर, पुष्टिफल पावेगा,
वंश के विधान से; विधान अन्ध विधि का
पूरा इसमें ही सदा होगा। इस हेतु से
सोच लिया मैंने नहीं कामना करूँगा मैं
जीवन की और अब कामना विहीन हो;
युद्धधर्म रक्षा के लिए ही, भव बन्ध के
बन्धन सभी मैं काट फेंकूँगा निमेष में।
वचन दिया जो कुरुराज को निबाहूँगा
अन्त तक लड़ता रहूँगा उसी पक्ष में।
तोड़ पतवार नाव सिन्धु में बहाऊँगा,
काल की लहर उसे बोरेगी अतल में।

चाहता क्षमा हूँ कटु शब्द जो कहे हैं ये।''
कहकर झुका जो वीर कुन्ती के चरण में,
रोने लगी जननी अधीरा, मर्मभेद के
आँसू चले, फूटी ध्वनि वेदना की जिससे।
रोने लगे देख जिसे तारे व्योम तल के,
होकर द्रवित मन्द जिससे समीर भी
बहने लगा जो, गई सींची आप धरती
आँसुओं से, सृष्टि यथा मोह में द्रवित हो
माया-बन्ध खोलने लगी जो, मुक्तभाव से
खुल गए दिव्यचक्षु जैसे वहीं कुन्ती के।
मुग्ध मन हाथ फेरती जो रही कर्ण के
शीश पर बोली;

''धन्य पुत्र, धन्य जन्म से
तुमने किया जो मुझे, आज पुत्रफल भी
पा गयी मैं वत्स! तुम राधा के बने रहो,
युद्धधर्म निर्भय हो पूरा करो जिसमें
नीति की विजय हो''।

''परन्तु किस भाँति से''
बोला बली, ''सोचो अब शत्रु समझूँगा मैं
माता के सुतों को इस हेतु अब जान लो
विधि का विधान है कि पाऊँ वीर गति मैं।
फिर भी अमोघ शक्ति वासव की कल जो
अर्जुन न आये रोकने को मुझे तब तो
निश्चय ही जानो है निरापद समर में

तनय तुम्हारा, जब काल का वरण मैं
चाहता हूँ करना स्वयं तो फिर मुझको
कौन रख लेगा? अब जाओ तुम जननी!
आया था यहाँ मैं पूज्यपाद पितामह के
चरणों में बैठ कर लेने शुभ कामना
और क्षमादान जो मैं पौरुष के दम्भ में
भूल गया उनकी विभूति और रण से
विरत रहा मैं जब सेनापति वे रहे।
इसमें भी जैसे निर्देश था नियति का
माता! अब जाओ अविलम्ब, और मुझको
अवसर दो।''

कुन्ती उठी और हाथ जोड़ के
चल पड़ी जैसे कुछ भूली हुई पीछे को
रुकती सहमी सी जब दूर दृष्टि के हुई,
शीश चरणों में झुका भक्ति में विभोर सा,
बोला बली, ''चाहता क्षमा है अविनय की
सूतसुत कुरु कुल केतु से, निदेश हो
दास को जो छूटे परिताप से, की जिसने
पुण्य चरणों की अवहेलना।''

दिगन्त में
गूँजी यथा व्योमवाणी बोले व्रती भीष्म यों
''वत्स! मनस्ताप हो रहा है मुझे आपही
अर्धरथी अभिधा दी मैंने वीरकुल के
गौरव किरीट को जो जन्म के विचार से।

करते मनस्वी नहीं चिन्ता कभी गत की
नरसिंह ! भूलो भूत, आवरण माया के
खोल कर देखो विश्वरूप तुष्टकाम हे !
यह भवलोक सेतु रूपी बना, इससे
पार करते हैं सुधी, किन्तु हत्प्रज्ञ जो
करते इसी में रचना हैं जब गेह की
गेही बनने को; मन्दभाग्य असफल हो
देते हैं सदैव दोष विधि के विधान को।
तुम हो मनस्वी, वीतराग, तुम्हें अब क्या
वत्स ! उपदेश करूँ ? आओ देवव्रत की
बाँहें अभी वाण से बिधी हैं नहीं उनसे
एक बार बाँधू तुम्हें, वाणीहीन मन है।''

कालपृष्ठ धारी बढ़ा आगे वाणशय्या के
जाकर समीप जब बैठा महीतल में,
धीर देवव्रत का भी दायाँ हाथ प्रेम से
होकर अधीर हिला शीश पर उसके।
आनन्दाश्रु वीर के चले जो, कंठ आप ही
नीचे झुका और भाल जाके टिका वक्ष से
मृत्युंजय भीष्म के। सुधाकर भी नभ में
मोद-मग्न जैसे हो विवश धरातल के
उतरा समीप। धरा डूबी सुधा-धार में।

चौथा सर्ग

अनिल सराग, सिहराता सा दिगंत को
बह रहा मन्द-मन्द, अन्तिम चरण है
यामिनी के, चपल रहे जो निशाकर के
संग-संग, शिथिल पड़े हैं, निशापति भी
ले रहा विराम ज्यों प्रतीची के क्षितिज में।
क्षीर सिन्धु लीन धरातल व्योमतल है,
क्षीर सिन्धु से हो कढ़ी कौस्तुभ सुमणि ज्यों
अम्बर में, आहा! मोदमूरि मृगपति है,
धो चुका कलंक अंक से जो सुधाधार में।
लोक हितकारी हित साधना में लोक की
पाप मुक्त जैसे हुआ, गौतम के शाप से
आज अभी छूटा, कालिमा है मिटी जिसकी।
देखने में आती नहीं अंक में मयंक के
अपयश की रेखा, कुरुभूमि यशधारा में
धुल गई, आहा! अभिषेक कर जिसमें
दिव्य देह धारी हँसता है सोम व्योम में।
मंजुल किरनकर जग में पसार के
मोहिनी कला का रसदान कलानिधि है
दे रहा, खुले हैं पंख कल्पना के स्वप्न के।
छोड़कर शय्यातल भावना मनुज की

रच रही कितने अनोखे नए लोक ये।
कामनाएँ पूरी सभी, लालसाएँ पूरी हैं,
प्रेमिक को प्रेमिका मिली है चिर संगिनी,
रंक को मिली है निधि, रोगी देह सुख में
भूला परिताप सभी, यौवन के रंग में
जग की जरा है रँगी, रीढ़ झुकी सीधी है।
उभरे उरोज, तने वक्ष, तनी ग्रीवा हैं
अधरों में लालिमा चली है किसलय की।
उत्फुल्ल आँखें, नील इन्दीवर में पड़ीं
अम्बु की पंखड़ी, बरोनियाँ तनीं हैं जो
मनसिज के जाले पड़े, भौहें मीनकेतु की
बन के शरासन चली हैं विश्व जीतने!

अगम अगाध कामना के उर्मिमाली को
पार कवि कैसे करे? शक्ति कहाँ पाए जो
स्वप्न - सिद्धि जग की समेटे काव्य-बंध में।
स्वप्नसिद्धि मोह में पड़ा जो कवि-कर्म के
अगम अकूल पारावार में विवश हो
चाहता है सोम की तरी को चढ़ जिस पै
पार कर पाए। हंस-वाहिनी की वीणा के
तार क्या जगेंगे नहीं ससस्वरवाही वे?
स्वर्ग की विभूति धरा भोगती है जिनसे,
सफल सदा है मर जीवन भुवन में

जिनके प्रसाद से, प्रशस्त कविकुल का
पथ जिनसे है रहा, वाल्मीकि, तुलसी,
कालिदास, माघ, और भारवि की आँखों को
ज्योति जिनसे थी मिली, भव के विभव जो।
संशय अधीर मन उन पद चिह्नों में
पीछे छोड़ जिनको चले है पूर्व जन ये
भुक्ति और मुक्ति क्या न पाएगा कि भय हो?
साधन वही हैं और सिद्धि भी वही तो हैं
कवि कर्म लोक के।

मनोहर शिविर है;
शिखर खड़ा हो गन्धमादन अचल का
हिमधौत जैसे या कि नीरनिधि में खड़ा
ऊँचा हिमखंड हो उठाए शीश गर्व से,
बोध में विभूति के। सुगन्धि सिक्त होता है
छूकर समीर जिसे वायु वाहकों से जो
निकल रहा है, झालरें हैं लगीं मोती की
जिनमें, अटकती है दृष्टि और पलकें
निर्निमेष होती हैं विलोक मोदमग्न हो।
करतीं प्रवेश जिनसे हैं अहा? शशि की
किरणें, परन्तु यथा तारे व्योमतल के
जल रहे हेमं दीवटों में जो प्रदीप हैं,
सह नहीं पाते यह बाधा अधिकार की

हिलते कभी हैं और आगे कभी बढ़ते,
ज्योति दीप्त और कभी होते हैं विरोध में।
वातायन और द्वारपट में लगी हैं जो
माला सुमनों की, यथा मातली की वल्लरी
पुष्पहार ऊपर उठाए मन्द वायु का
आवाहन करती हो स्पर्श सुख पाने को।
सो रहीं चतुर्दिक दिशाएँ, धरा व्योम भी
सो रहे हैं मायामयी निद्रा आप सोयी है
मायाविनी, माया पट खोल भव लोक में।
सोरहा शिविर में सुयोधन अनुज है,
दूध फेन जैसी मंजु शय्या कलधौत की
किम्वा राजहंस के खुले हों पंख व्योम में,
बीच में शिविर के बिछी जो, सुशासन है
सो रहा उसी में, सुखनींद बाधा भव की
भूली सभी, जीवन की तुष्टि वीरवर को
जैसे मिली, आनन से आभा सुख मोद की
निकल रही है, भाल मृगमद राग से
आहा! अनुरंजित सुगन्धि दान देता है।
पुष्ट भुजदंड, पुष्ट वक्ष, जानुतल हैं
पुष्ट, श्वास क्रम में गंभीर धीर गति है।
मानता नहीं है अवरोध परिधान का
रक्तवेग जैसे प्रस्फुरित अंग अंग हैं,
नींद में भी पौरुष परुष गति वाला है।

किस फल हेतु कामना में किस सिद्धि की
कल्पने री ! मुझको दिखाती यह दृश्य है
हो रहा द्रवित चित्त एरी देख जिसको ?
भारत के निन्दित चरित्र सुशासन से
लेना तुझे क्या है ? कवि न्याय ? युग बीते ये
गणना विहीन अवहेलना ही लोक की
मिलती रही है जिसे, नरपशु व्यास ने
जिसको बनाया, अन्धकूप कवि पथ का
बनता रहा जो सदा, कैसे कवि न्याय का
होगा अधिकारी वह ? हाय ! कहती है क्या
पारस के छूने से सुवर्ण होता लोहा है,
और रवि किरणें कहाँ हैं नहीं पड़तीं
करतीं अपावन को पावन सदा जो हैं ?
रति और विरति नहीं है कवि कर्म में
निर्विकार मानव कहाँ है जिसे पाने को
सुलभ सहज अनुकम्पा कवि छोड़ दे।
अशुभ नहीं है जहाँ होगा वहाँ शुभ क्या ?
अपयश नहीं हो यदि यश कौन खोजेगा ?
जीवन की कामना टिकेगी भव लोक में
जब लौं टिकी हैं मृत्यु, भावी गति में पड़ा
यश और अपयश का भाजन मनुज है।
और कवि कामना बँधी जो काव्य-बंध में
कैसे मुक्त होगी ? गिरि दुर्गम, अरण्य हों,

पथ में पड़ी हो मरुभूमि भय दायिनी;
फिर भी पथिक को तो पार करना ही है
अन्यथा न पूरा पथ होगा कभी उसका;
काव्य सिन्धु पार करना है जिस कवि को
लेना उसे होगा रस अमृत गरल का,
लेने उसे होंगे रस रुचि के अरुचि के।
मृत्युजयी होने के लिए जो भवलोक में
लोक विष पीते विषपायी कवि जन हैं,
मृत्युंजय शंकर बने ज्यों कालकूट से
मृत्युंजय होते, शिव साधना से जिनकी
लोक लाभ पाता भावभूमि अमरत्व की।
गुण और दोष के समन्वय में नर की
सृष्टि चलती है रही।

इन्दीवर आँखें ये
नींद में मुँदी हैं, या कि चन्द्रप्रभा धारी जो
कंठ में पड़ा है रत्नहार, विष्णुनाभि से
निकले मृणाल दंड सा जो, रवि रश्मि सा,
किम्वा उस बासुकी के कंचुक सा, श्रम से
सिन्धु के मथन काल छूटा जो शरीर से,
या कि जब पितृगृह सागर को छोड़ के
देवी इन्दिरा थीं चलीं पति अनुराग में,
आनन्दाश्रु उनके चले जो बने रत्न थे,

निर्मित उन्हीं से रत्नहार यह, किरणें
फूट कर आनन पर फैलीं रश्मिजाल को
सह नहीं पाते नेत्र बन्द वे इसी से हैं।
आधे खुले ओठ दशनावलि की रेखा यों
देख पड़ती है पद्म में हो पड़ी चपला।
बंकिम भृकुटि, शुकतुंड जैसी नासिका,
चलती सुधा की उर्मि कम्पित अधर से
किम्वा लसी लीक है हँसी की मोद दायिनी।
निद्रा की विभूति, भर निर्विकार निद्रा में
ऐसे पड़ा, शान्त रस में हो लीन चन्द्रमा,
दिव्य चन्द्रलोक के महोदया सदन में
सो रहा हो जैसे चन्द्रकान्त पर्यंक में।
सो रहा हो आए पति प्राणा यथा रोहिणी
पति प्रेम डोर में बँधी सी, अहा! वासन्ती
वासन्ती समीरण में सिहर रही हो जो
विकसित कुमोदिनी सी, पति अनुरागिनी
आयी जो सुशासन की प्रेयसी शिविर में
मंजु कवि कल्पना सी, वाणी की विभूति सी,
अंग अंग जैसे पद्मराग करिदन्त से
विधि ने बनाए; भाग्यमूरि सुशासन की
आयी अहा! शिविर समीप द्वारपट का
मणिमय तोरण हिला जो यथा कमला
रत्नाकर रत्नकिरणों में लीन मुख की

छवि दिखलाए क्षीरनिधि से निकल के।
किम्वा देवसरि में खिला हो देवलोक का
पुंडरीक लाभ और लोभ नर योनि क्या
देवयोनि का भी बने, ऊषा देह धारिणी
आयी यथा प्राणाधार रवि के जगाने को।
शील और विनय बिखेरती शिविर में
आगे बढ़ी शय्या के समीप रुकी कामिनी,
देखने लगी जो, निर्निमेष देखती है ज्यों
पद्मिनी अरुण को, समुद्रबेला शशि को,
अथवा मयूरी मेघमाला को गगन में।
उलझ गए हों नेत्र प्रियतम प्रेम के
पंक में, विवश सी रुकी जो रही रूपसी
राजहंसिनी हो रुकी जैसे मानसर में
आनत शिरोधरा लगाए हिमखंड से।
चंचल तरंगे राग सिन्धु में उठी हों ज्यों
तामरस अधर विकम्पित बने जो वे
काँपी कवि वाणी! पद्मराग रंगवाले वे
भुवन विमोहक कपोल मणिसीपी में
झलक रहा हो मदिरा का रस प्राण को
स्निग्ध करता सा अहा! तिल के कुसुम सी
मलयानिल वाही नासिका जो अंगुरीय हो,
भारती की वीणा बजती है धन्य जिससे।
कुंचित अलक राजि चन्द्रानन घेर के

नीचे को चली जो वासुकी का वंश पीता हो
अमृत सुधाकर के अंक से लिपट के।

जलनिधि समान रूपनिधि जो अगम है
पार कर लेगी कवि वाणी किस भाँति से?
भावना अधीन कविवाणी, अनुभव में
होती लय सर्वदा है विज्ञ जन जानते।
शेष कवि मन का अशेष विज्ञ जन के
अनुभव में होगा, अनुभूति निधि वाणी में
आती नहीं पूरी कभी। भ्रू विलास रस से
परिचित अकेला मन, आँखें जो कि देखतीं
परिचित न होतीं कभी। चन्द्रमुखी चन्द्र के
रच रही जैसे प्रतिबिम्ब प्रतिपल है।
कुवलय की वृष्टि यथा हो रही शिविर में
रूपसी के नेत्र अनायास घूम जाते जो।
फूली हुई मालती लता सी अनुरागिनी
पतिरति अनिल अधीरा झुकी नीचे को
प्रियतम पदों में, पलकों से लगी चूमने
पति चरणों को, पुंडरीक कर जिसके
प्रेमिक पदों में रमे, आहा! कर रति के
रमते हैं जैसे मीनकेतु की विपंची में।
आधी मुँदी आँखें मंजु पंख लालसा के वे
सिमट गए हों, झुकीं पलकें कपोल जो

सिमट गए हों, झुकीं पलकें कपोल जो
रूपसी के प्रेमिक के पदतल से लगे।
मोद की लहर चली स्पर्श सुख पाने से,
सींची सुधा रस में गयी हो हेम वल्लरी।
रोम रोम जागे, अनुराग रंग छाया जो
देह किरणों में लगा रँगने शिविर को,
रंजित प्रदीप हुये स्वर्ण दीवटों के वे
और अनुरंजित वे अम्बुज चरण थे
प्रेमिक के। प्रेयसी कपोल राग रस से
अभिषेक जिनका हुआ हो भाग्यशाली जो।
त्रिभुवन में लाभ और होता क्या कि जिसकी
कामना करेगा नर मानस?

पुलक में,
होती सी अनस्थिर हिली जो, अलकावली
हिल पड़ी जैसे कामना की उर्मि डोली हो।
भौंहें हिलीं, अधर हिले वे हिलीं पलकें,
हर्ष का पवन चला, माला यथा मन की
टूटी और लोचनों से मोती झरे जिसके।
किम्वा देवसरि के किनारे मंजु सीपी दो
उगल रहे हों यंथा मोती भावलोक के
कवि कामना के भाव निधि से अलभ जो।
धोती रही प्रेमिक चरण अनुराग में

आनन्दाश्रु से जो सती, प्रेमिक नयन से
पलकों का बन्धन खुला जो मुग्धमन हो
पीने लगा प्रेयसी के रूपसुधा रस को
अविचल नयन से कि धीर क्रम श्वास के
बन्धन में बाँधे वीरवर ने शरीर को,
कामिनी के। भाल से भृकुटि से कपोल से
स्वेद चला। शिशिर सरोरुह नयन वे
प्रेमिक के भीगे अनायास गद्गद् हो
चन्द्र किरणों से चन्द्रकान्त ज्यों पिघलता।
अधर प्रवाल हिले वाणी हिली कंठ में।

''अनुचर को धन्य करने के लिए नभ से
जीवन की मूरि यथा चन्द्रकला आई हो
अमर बनाने मुझे देव लालसा के जो
मुक्ताहार दास के चरण में चढ़ाती हो
देख इसे ईर्षा क्या न होगी देवकुल को?
मानव के भाग्य से कुपित देव होते हैं,
और इसी हेतु से विरत भाग्यफल से
रहते सुधीजन हैं कर्मफल मात्र से
तुष्टि मिलती है जिन्हें। प्राणेश्वरि! तुम भी
कहती यही हो रही और इसी भय से
कृपण रही हो प्रिये! प्रेमदान देने में।
नेत्र और प्राण जिस लाभ को ललचते

दे रही वही हो चरणों को तुम भूल से।
चन्द्रमौलि मौलि का मयंक कहीं नन्दी के
शृंग पर आसन जमाए भला सोचो तो
कैसी हँसी होगी'' ?

हँसा वीर बाहुबन्ध में
बाँध प्रिया कटि को, उठाये श्वेत गज ज्यों
मन्दाकिनी नीर में बनज राजि, वीर ने
वैसे ही उठाया सुन्दरी को रतिहार सा,
अंक में समेटता सा, प्राण में छिपाने का
करता उपक्रम हो जैसे लगा फेरने
शीश पर पद्मपाणि चेतना विगत सी
कामिनी के। मनसिज के अंक में पड़ी हो ज्यों
भुवन विमोहिनी अनंग सखी किम्वा हो
मृगपति के अंक में शशांक प्रिया रोहिणी।
प्रेमिक के कंठ को अजस्र अश्रुजल से
सींचती रही जो सती निश्चल शरीर हो
छू गया हो जैसे मर्म बोला बली शंका में।

''रोती ही रहोगी प्रिये। मन में टिका है क्या
बोरना है देवि ! मुझे आज अश्रुधारा में ?
अनुचर से दोष क्या बना है दंड जिसका
दे रही हो दारुण ? कहूँ क्या नहीं जानता।

चाहता है प्राण चले छोड़ के शरीर को
भीम गदाघात से कि अर्जुन के शर से
छोड़ा नहीं, जिसने शरीर छोड़ जाएगा
प्राणेश्वरि ! बोलो भीख माँगता कृपा की हूँ
कारण कहो तो इस विषम विराग का ?
तोष तुम्हें देने के लिए हे देवि ! नभ के
चाहूँगा कि तारे तोड़ लूँ मैं और क्या कहूँ ?
जीवन की मूरि तुम मेरी, तुम्हें छोड़ के
अन्य कामना ने नहीं पाया ठौर मन में।
बीतने लगी है अब यामिनी प्रतीची के
अंचल में ज्योति मन्द तारापति हो रहे
रोग से ग्रसित जैसे पांडुर मुखश्री है
प्रेयसि ! निशाकर की, पीली पड़ीं किरणें।
सूचित करती हैं जो कि प्राची के दिगन्त से
हेमरथ ऊषा का चलेगा अंशुमाली की
चिर अनुरागिनी जगाएगी जगत को,
प्राणमयी प्राण सी लुटाती भवलोक में।
रवि के विजय की पताका व्योमतल में
वीरकुल वैभव सी ऊषा अब आएगी
और वीर लोक के लगेंगे कर्मसिद्धि में।
ऊषा तुम मेरी प्रिये ! कर्म की पताका हो
शोकतप्त ऐसी ही बनी जो रही, तब तो
मुझको मनोबल मिलेगा कहाँ जिससे

कर्मसिद्धि मुझको मिलेगी रणभूमि में ?
वीरकुल गौरव किरीट कर्ण सेनानी
खिन्न मन देख मुझे रण में कहेंगे क्या,
और क्या कहेंगे शस्त्रधारी रणभूमि के
हतप्रभ सा देख मुझे, पूज्यपाद भाई के
चरणों में साहस की निधि क्या लुटाऊँगा ?
प्राणमयी ! प्राण बल तुमसे न पाऊँ जो
निश्चय ही जानो वीरजन्म फलहीन है
मेरा प्रिये ! कैसे भीमसेन से लड़ूँगा मैं
कौरवों के शत्रु उस दारुण कृतान्त से ?
शोकमग्न रूपसी रहोगी बसी मन में,
मोदमयी मूर्ति जो कि मन और प्राण को
मोदमग्न करती रही है सुधारस से
सींचती रही है इस जीवन के तरु को,
मेरे भाग्यदोष से बनी जो हा ! विषादिनी
जान लिया मैंने दुर्दैव यही चाहता
असमय में सूखे यह विटप।''

अनल की
ज्वाला में घिरी सी भय कातरा मृगी हो ज्यों
देख कर पारधी के खींचे कालधनु को,
बोली सती वाणी यथा सूखे कंठतल में
अटक रही हो --

"नाथ ! आज इस युद्ध में
जाना तुमको है नहीं दासी यही चाहती।
कामना यही है चरणों में इसी हेतु से
आई यह किंकरी है और अश्रुजल से
धोती रही प्रियतम के अम्बुज चरण है।
जिन चरणों की रति नारी की सुगति है
अबला के बल जो बने हैं भवभूमि में
मूरि जो मनोरथ के, अबला हृदय से
लगते जभी वे भाग्यद्वार खुल जाते हैं
कामिनी के, मिटते अभाव सभी मन के,
पाकर पुनीत पति पद कल्पतरु को।
जानती हूँ नाथ ! क्या कहेंगे किस भाँति से
तोष मुझे देंगे वीर व्रत के व्रती जो हैं।
किन्तु हाय ! कृत्या की जटा सी जटा कृष्णा की
काल नागिनी सी डसती है इस मन में।
पाऊँ जो निदेश अभी जाऊँ प्राणपति के
अग्रज समीप याचना मैं करूँ उनसे,
पूरी वे करेंगे कामना जो इस मन की
पुत्रसम प्रेम जिनका है मिला नाथ को
और सदा कन्या के समान इस दासी को
मानते रहे जो। ताप निकले शशांक से
या कि अग्नि शीतल हो हिमकर किरण सी,
सिन्धु सूख जाये, रवि तम में विलीन हो

किन्तु कृपासिन्धु कुरुश्रेष्ठ स्वप्न में भी क्या
अनुज बधू की कामना से मुख मोड़ेंगे?
देंगे वे निदेश यदि सेनापति कर्ण के
चरणों में जाकर मनोरथ सुनाऊँगी,
विश्वजयी वीरकुल गौरव किरीट वे
कौरवों के पोत इस सगर समुद्र में।
कालपृष्ठधारी तारकारि सम लोक के
जीतने की शक्ति, जिन हाथों की सुनी गई
और जिन हाथों के अधोतल में देव भी
याचना के हेतु कर खोल खड़े होते हैं।
पूरी हुई देवकामना भी जिस दानी से
तो फिर अकिंचन मनुज का अभाव क्या
पूरा जो न होवे दान वीर की विभूति से?
धवल बनी है यह भरत बसुन्धरा
जिसके सुयश से मनीषी प्राणदान से
होगा नहीं विरत कहीं भी यदि याचना
उसकी भी याचक करे तो।''

''किन्तु प्रेयसी।
करती अनुग्रह रही हो अब तक जो
कैसे उसे ग्रहण करोगी तुम आपही?''
कहकर हँसा जो वीर, कामिनी को करके
झूले में झुलाता हुआ।

"पौरुष से हीन क्या
आज यह दास है कि कामना तुम्हारी जो
पूरी पर पुरुष करेगा भला सोचो तो ?"

आई हँसी। मन की तरंगें चलीं जिनको
रोकने में अक्षम सा, मलय मरुत सा,
पुलक विभोर भाल, भृकुटि, कपोल को
प्रेयसी के पंकज अधर, कम्बुकंठ को
मोह में विकल चूमने जो लगा, रूपसी
पुंडरीक पाणि में छिपाती चन्द्रमुख को।
करती निवारण सी बोली --

"रात बीती है
प्राणनाथ ! ब्रह्मबेला कैसे तुम हो रहे ?
जब से चला है यह युद्ध तुम दासी से
आँखें भी चुराते रहे, क्षीरनिधि में कहो
लहरें प्रलय की चलीं क्यों ?"

करि धूम के
पथ धरता है यथा अंकुश की चोट से
संयत बना जो वीर, अधर कपोल की
लाली मिटी, रतनार आँखें श्वेत हो गईं,
धीमी पड़ी साँस और कम्प तन से मिटा।

अनिल विकम्पित पयोदधि समीर के
रुकने से जैसे धीर होता। मृदु स्वर में
बोला नरसिंह —

''प्रिये ! देखती नहीं हो क्या
चलता समीर जब काँपता प्रदीप है ?
रोती हुई रूपसी पड़ी हो जब अंक में,
आँसुओं से सींचे प्रियकंठ कामना में जो,
पति अनुरागिनी, अधीर पति मोह के
हेतु से बनी हो भयकातरा कुरंगिनी
काँपती हो माधवी लता सी जो बसन्त में,
संयम टिकेगा वहाँ कैसे हीन नर का ?
वज्र से हृदय तो बनाया नहीं विधि ने ?
और फिर दारुण समर में नियति की
लीला क्या रहेगी कौन जाने ? नर मन की
तुष्टि जो चरम सदा संयम नियम के
बन्धन में रहती नहीं है प्रिये ! चिन्ता क्या ?
मनुज विकारी यदि होता नहीं तब तो
माया हार जाती प्रिये ! आप मायापति की।
फिर भी कहूँगा यदि स्वप्न में भी तुमको
छोड़ कर कामना रमी हो अन्य नारी की
मेरे इस मन में, तो कामुक की गति जो
होती, मुझको भी मिले लोक परलोक में।

प्राणेश्वरि ! रोको यह चिन्ता और मोद की
मूरि तुम जैसी सदा अब लौं बनी रहीं
फिर भी दिखाओ वही मूर्ति मनभावनी।
सौरभ बिखेरता है पद्म यथा ऊषा को
देख कर, देख तुम्हें मेरा मन मोदता
सौरभ विखेरे और निर्भय हृदय से
रण में प्रवेश करूँ, जैसे रवि व्योम में
करता प्रवेश है अबाध गति --''

वासन्ती

याचना से आग्रह से बोली ''पर आज तो
जाने नहीं दूँगी प्राणनाथ ! स्वप्न देखा है
दासी ने अभी जो हाय ! याद कर उसको
कंठगत प्राण हो रहे हैं प्राणधन हे !
कैसे कहूँ कहना ही चाहूँ हाय ! शब्द के
साथ ही क्या कंठ छोड़ प्राण भी न जायेंगे ?
किन्तु जो विधाता कहीं वाम मुझसे बने
और प्राण अधम न छोड़ें कंठतल को
हृदय बनेगा किस भाँति पवि ? जिससे
तुमको सुनाए हाय ! स्वप्न जो कि देखा है
और जिस भय में विवेक भूल आई है
प्रियतम पदों में ब्रह्मवेला में अभागिनी।''

बाँध पतिपद भुजबन्ध में ज्यों जल में
बाँधती मृणालिनी मराल युग्मपद है,
शीश टेक चरणों में जैसे मर्मभेदिनी
वेदना में व्याकुल सी, वाणी रोक कंठ में
काँपने लगी जो सती दावानल में पड़ीं
काँपती रसाल तले जैसे मंजु लतिका।

भाल पर रेखा पड़ी टेढ़ी पड़ी भृकुटी
पलकें तनीं जो हिले अधर अधीर हो,
बोला वीर, "प्राणेश्वरि! स्वप्न भय में पड़ी
कायर बनाना यदि चाहो फिर तब तो
वेणी बाँध लेगी वह कृत्या जो द्रुपद की।
किन्तु क्या रहेगा प्रिये! शेष जिस बल से
पूजित रहोगी तुम, गौरव तुम्हारा जो
भू पर गिरेगा! वीरबालाएँ कहेंगी क्या
देख तुम्हें, कैसे तुम रवि को निहारोगी?
वीरव्रत तोड़ कर मेरा सुख पाने की
कामना तुम्हारी तुम्हें लोक में उपेक्षा का
भाजन बनाएगी। सुमुखि! वीरबाला हो
वीरधर्म जानती हो।"

बोली सती "तब तो

स्वप्न बस सुन लो हे प्राणेश्वर! और जो
चाहो करो चिर अनुरागिनी चरण की
दासी यह लोक परलोक में बनी रहे।
वीरधर्म भग्न करना मैं नहीं चाहती,
वीर वनिता का यश मेरा रहे लोक में,
किन्तु जानती मैं नहीं अबला को प्राण हे!
नर वनिता हो रही या हो रही देव की
द्रवित बनी जो नहीं हाय! कहूँ कैसे मैं
पति के अमंगल से स्वप्नदृश्य आँखों में
प्राण और मन में बसा है हाय! प्राण के
संग निकलेगा।''

यथा रुक गई साँस भी
और द्वन्द्व जीवन से जैसे मृत्यु का चला।
शब्द के प्रवाह में प्रवाह बहा प्राण का।
धीर बनती सी सती बोली यथा यन्त्र से
ध्वनि निकली हो —

''रणभूमि में कृतान्त सा
देखा भीमसेन को गदा को बार बार जो
कालदंड जैसे महाकाल का चलाता हो,
अग्नि की लपट चलती हो क्रुद्ध आँखों से,

खंड खंड भूमि हो रही हो पद तल की,
अन्तक चला ज्यों जीवकुल के निधन को
नृत्य करता सा हाय! और ललकारता।
देखा कितना हा! और हाय! कितना सुना
अशनि निपात ज्यों अजस्र गिरि श्रृंग में
हो रहा हो वैसे ही गदा का घात होता था
हाय! रे अभागिनी के प्रियतम शरीर में।
और तब देखा धराशायी वक्ष चीर के
रक्त से भरी थी अंजली जो कालरिपु की,
भागा जब रक्त लिए, प्राण लिए जाता हो
और जब द्रौपदी के शीश पर अंजली
खोलकर अधम खड़ा जो हुआ कृत्या सी
हँसने लगी जो।"

गतचेत गिरी रूप सी
पति चरणों में, करिशुंड से निकल के
नीर में पड़ी हो पद्मिनी ज्यों या कि चित्र में
अंकित हो रूप कल्पना जो चित्रकार की
लोक में अलभ्य, भाग्य रेखा सुशासन की
जैसे गिरी, साँस रुकी, स्फटिक शिला की ज्यों
मूर्ति हो बनायी गई अर्चना के हेतु से।
निश्चल शरीर गतिहीन रूपसी का जो
प्रेमिक पदों में पड़ा शशि हो निशान्त का,

किम्बा स्वर्ण वल्लरी गिरी हो भूमि तल में।
स्तब्ध हुआ वीर अनायास वज्रपात हो
विश्व डूबता हो तमराशि में, गगन के
तारे और तारापति टूट महासिन्धु के
गर्भ में गिरे हों। हतबुद्धि जड़वत् सा
देखता रहा जो चल पलकें अचल थीं
भूलीं जो निमेष, नेत्र जैसे मणिखंड थे
हिम की शिला में जड़े छूकर तुहिन को
फूले पद्म सूखे यथा दोनों पल भर में।
किन्तु दूसरे ही क्षण जैसे चेत आया हो
साँस में समायी गति ढीली पड़ीं पलकें,
आँखों से अजस्त्र चले आँसू, कर आप ही
प्रेयसी के शीश, स्कन्ध, और वक्षतल में
लोटने लगे जो, मन जिनसे उतर के
प्रेयसी की देश में समाया अनुरागी का।
हाथों में उठाया उसे और भयभीत सा
अंक से लगा के यथा माला पारिजात की
धारण करने के लिए धीरे से उठाता हो,
उत्सुक हो देखने लगा जो। यथा कल्याणी
देवी वहाँ आई आप धीर गज गति से
भानुमति आई कौरवेश्वरी, ज्यों गंगा हों
ग्रीष्म की निदाघ हारिणी सी, कृश तनु था
सजल नयन युग्म वारिज शिशिर के

पलकें झुकी थीं और भाल पर चिन्ता की
रेखा सी बनी थी, शान्त चन्द्रानन देख के
भोर के निशाकर का जैसे भ्रम होता था,
आनन की ज्योति पर छाया थी विषाद की।
देवासुर रण में अकेली शची सुन्दरी
देव पराभव से अधीरा हो जयन्त को
खोजती सी आई।

पिकी कंठ से चला हो ज्यों
ग्रीष्म रजनी में करुणा का स्वर व्योम को
करता विकम्पित सा, बोली मन्द स्वर में।
"जाना नहीं देवर! तुम्हें है अब रण में
जाकर निवेदन करूँगी कुरुराज से,
सुन लिया मैंने जब स्वप्न निज कानों से
वासन्ती सखी का, अभी तुमने सुना है जो।
जानते हो पुत्री सम प्राण में बसी है जो
मेरे और पुत्र का निधन जिस मुख को
देख कर भूलने का यत्न अब मेरा है,
उसका अमंगल भी दैव क्या दिखाएगा?
राज्य और धन के लिए ही क्या जगत में
जन्म हमने था लिया जो कि अभी रण में
हम हैं निरत जब लक्ष्मण चला गया,
और हम डूबे शोकसिन्धु के अतल में?

युद्ध ही अकेला भला कर्म क्या मनुज का ;
इष्टदेव और पितृदेव परलोक के
किसके सहारे से टिकेंगे पुण्यधाम में ?
उनको तिलोदक भी देगा कौन वत्स ! हे
पुण्यव्रती जनक तुम्हारे चक्षुहीन जो
और सती जननी जो नेत्रहीन आप ही
स्वेच्छा से बनी है सती धर्म की विभूति से
कर्म अभी शेष क्या नहीं हैं पिता माता के
प्रति भी तुम्हारें, जो कि एक मात्र रण को
मानते हो कर्म तुम ? व्यर्थ उपदेश मैं
देना नहीं चाहती न आई यहाँ सुनने
वीरधर्म देवर से पुत्र प्रेम जिनमें
जाकर टिका है पुत्रहीना इस नारी का।
बाँधकर रखना तुम्हें है बाहुपाश में
निश्चय है तुम भी न तोड़ उसे जाओगे।
लड़ना ही चाहें यदि अग्रज तुम्हारे वे
और वे लड़ेंगे, उन्हें चन्दन, कपूर से
मृगमंद से, अक्षत से फूल और जल से
पूजकर आपही मैं भेजूँगी समर में।
विजय मिले जो राज्यभार तब तुम को
देकर चलेंगे हम वन में, परन्तु जो
दैव विपरीत बना जैसे रहा अब लौं
तब भी अकेले तुम्हें वत्स ! मैं बचाऊँगी

डूबने न दूँगी वंश आर्य धृतराष्ट्र का।
छोड़ यह राज्य, धन, धरती नगेन्द्र की
पुण्यमयी भूमि में बसेंगे बनवासी हो।
पर्वतदरी को राज सद्म सम मानके
परिजन बनाएँगे बनेचर किरातों को
शम्बरों को यक्ष और विद्याधर कुल भी
सुलभ रहेंगे हमें कुल के प्रसाद से।
होते पर प्रिय हैं विपत्ति मिट जाती है
फिरते हैं भाग्य के भी दिन भव लोक में।''

नाद से विवश यथा होता फणिधर है
मन्त्रमुग्ध एक टक वीर देखता रहा
भानुमती चरणों में, आगे बढ़ी सुन्दरी
और पतिप्राणा उस बासन्ती सती को जो
मूर्छित पड़ी थी पति अंक में पकड़ के
बैठी पर्यक में, शची ने यथा रति को
अंक में लिया हो लगी भाल और शीश में
हाथ फेरने जो फिर बोली अनुराग में।

''जागो अब चेत धरो सजनी! शपथ से
कहती हूँ जाने नहीं दूँगी इन्हें रण में।
देखती रही मैं तुम सारी रात जाग के
चन्द्र को निहारती रही हो अभी मैंने ही
तुमको लिटाया पुष्प शय्या में पकड़ के,

और जब नींद तुम्हें आयी, गई सोच के
अब तो सबेरे तुम्हें आकर जगाऊँगी,
फिर भी न जाने चित्त कैसे रहा शंका में
और फिर लौटी जब देखा भूमितल में
आभूषण टूटे। यहाँ आई मैं अधीर हो।
देखकर मूर्छित तुम्हें हे मंजुभाषिणी
वज्रसार हृदय न टूटा, पुत्रशोक में
टूटता वही है अब, जागो कभी खेद का
अवसर भी तुमको मिलेगा नहीं स्वप्न में।
मौन हुई राज महिषी जो लगी देखने
अपलक शिविर में, दया की दिव्य किरणें
चारों ओर फैलीं; उन आँखों से निकल के।
मूर्तिमान जैसे अनुराग आप होता था,
हील और याचना की क़िम्वा चली लहरी।
प्रेमिक को देखा और देख प्रेमिका को जो
बंद हुए नेत्र, यथा दम्पति को आँखों में
बंद कर निर्भय बनी ज्यों, महामाया की
आँखों से समायी गति अगति जगत की।

शीश झुका पांडवों के अग्रज शिविर में
बैठे हैं विषाद और शंकामग्न, पास ही
बैठा है किरीटी यथा हर्ष शोक दोनों से
होकर विमुक्त, रोषमुद्रा भीमसेन के

आनन में फैली, कृष्ण रोकते हँसी को हैं
दाँतों तले ओठ को दबा के, याज्ञसेनी की
साँस में बसी है गति जैसे फणिधर की,
छाती पर फैली अलकावली हिलाती जो
बार बार अंशुक हिला रही है कंठ से।
दोनों ओर ग्रीवा के समीप खुली वेणी को
हाथों में लपेट, लिपटें, हों युग्मपद्म से
उभय फणीश, तान भौहें कहने लगीं।

"माधव तुम्हारी हँसी विष सी शरीर से
प्राण हर लेना चाहती है भय मुझको
दे रहे हो व्यर्थ तुम। विधवा बनी थी मैं
द्यूत की सभा में जहाँ पाँच पति मेरे ये
अचल बने थे शिलाखंड से, पकड़ के
केश जब पापी मुझे खींचे लिए आता था।
वेणी उस दिन जो खुली थी एक वस्त्रा की
अब तक बँधी है नहीं, विधवा की वेणी में
और इस वेणी में विभेद कहाँ पाते हो?
जानती जो दुर्जय धनुर्धर जगत में
कालपृष्ठ धारी है अकेला सुत राधा का
तब तो स्वयंवर में बरती उसी को मैं।
जिसका निवारण किया था हीन जन्म से
मैंने और रोका जिसे लक्ष्यभेद से भी था।

नर्माहत वीर अपमान विष पीने से
ऐसा लगा कालकूट पीकर महेश हों।
देखने लगी हूँ अब भूल वह मेरी थी।
धरती को धारण किया था ज्यों बराह ने
दन्त के वलय पर, उठाता वीर वैसे ही
रमणी का भार। कामना भी यही नारी की
सर्वदा रही है वीर रमणी बनी रहे।
विधवा बनी थी तभी, विधवा बनी हूँ मैं
वेणी बँधती है नहीं और जिसे पाने को
छोड़ा वसुसेन को स्वयम्वर सभा में था,
जाना उसे निश्चय ही होगा आज रण में
और दुर्दम्य उस अधिरथ तनय को
मारना ही होगा बली जिससे विपक्षी हैं।
कौरवों की कीर्ति का पताका बना लोक में
घूमता रहा जो, उसे काट कर भूमि में
डालना ही होगा; देव दैत्य रण विजयी
अर्जुन का साहस जो छूटे तब अबला
जाकर लड़ूँगी मैं अकेले कालरिपु से।
बीती यह सारी रात चिन्ता और तर्क में,
चाहती हूँ उत्तर मैं, बोलें धर्मराज या
भीमसेन बोलें, लगी जिनकी समाधि सी
जिनके बल से मैं सदा गर्वित बनी रही
बोलें वही पार्थ, मुझे जाना है समय में?

तब तो चलूँ मैं और साज रण के सजूँ।
बीती अब रजनी दिनेश दूती ऊषा है
अंचल से पूर्व के चली जो रागरंग में
रँगती दिगंत को, ज्यों कीर्ति की पताका हो
ऊँची उठी व्योम में यशस्वी वसुसेन की।
देख कर मुझको समर में कहेगा क्या
वीरकुल केतु ? जिसे रमणी बनाने की
कामना में लक्ष्यभेद हेतु से उठा था जो''।

बाँधने लगी जो कंठ दोनों ओर वेणी से
घेरकर ''हाय। हाय !'' कहता अधीर हो
आगे बढ़ा अर्जुन प्रिया के पाणि पद्मों को
हाथों में समेट बोला,--

''वासुदेव ! मुझको
रोका तुमने था यही दृश्य क्या दिखाने को,
और क्या सुनाने को रहा हूँ जो कि सुनता ?
जो कुछ कहा है अभी कृष्णा ने विराग में,
सूतसुत विभव बखानती रही है जो,
शब्द ये रहे हैं या कि शूल ? हास्यरेखा से
रंजित फिर भी हैं अभी अधर तुम्हारे ये।
प्राणेश्वरि ! जानती नहीं है यहाँ आते ही

मौन रहने का मन्त्र तुमने दिया था जो
कान से लगा के ओठ जैसे गुरुमन्त्र हो,
और उसी निष्ठा में बना मैं मौन बैठा था
जैसे हो समाधि लगी। सत्य ही प्रिया के ये
शब्द हैं अडोल, फिर भी तो तुम्हें अन्त में
दारुण विषाद से बचाना प्रेयसी को था।
अनुचर रहा जो बना अब तक तुम्हारा मैं
और यथा दास सदा शीश पर स्वामी का
लेता है निदेश, उससे भी बड़ी निष्ठा से
मानता रहा मैं मित्र! जैसे वेदवाणी हो
मेरे लिए आज्ञा जो तुम्हारी। पर आज तो
टूटा वह धैर्य और टूटी वह निष्ठा है।
विचलित बना है महासिन्धु मर्यादा की
सीमा तोड़ बोरेगा धरित्री को अतल में।
द्रौपदी ने वरण किया था मुझे भूल से,
करके निवारण जो अधिरथ तनय का,
और जिस हेतु से न वीर रमणी बनी,
करना मुझे है परिहार उस भूल का।
आज इस रण में बरेंगी देव बालाएँ
मुझको कहीं जो वसुसेन विजयी बना।
किन्तु यदि गर्व नहीं सहज प्रकृति से
कहता हूँ विमुख बना था जिन शस्त्रों से
देवरथी चित्ररथ और जिन शस्त्रों के

बल से अड़ा था उस मायावी किरात के
सामने समय में भी, भीष्म और द्रोण का
पारावार पार किया मैंने जिन शस्त्रों से,
खंड खंड उनसे न होगा क्या समर में
अर्द्धरथी राधासुत, और तब लोक की
वीर वनिताएँ द्रौपदी के भाग्यफल से
विनत वदन क्या न होंगी ?''

भय शंका में
काँपती जो आई आर्तवाणी द्वारपाल की,
वैनतेय कर में पड़ा ज्यों नाग शिशु हो
क्रन्दन मचाता, आर्तनाद प्रतिहार का
गूँजा जो, शिविर में लहर चली शंका की।
आगत विपत्ति में अधीर वीर दोनों ही
पलमात्र में ही उठे आगे बढ़े रोष में।
नाची रणमुद्रा, चढ़ीं भौंहें, तनीं पलकें
रक्तवर्ण भाल से हुताशन लपट सी,
चल पड़ी। कालदंड सी जो भीमसेन की
दारुण गदा थी हिली ऊपर, किरीटी का
गांडीव डोला यथा वासुकी की कुंडली
आधी खुली, त्योंही वीरतनय हिडिम्बा का
मरकत शिखर सा हटा के द्वारपट को
और द्वारपाल को गिरा के भूमितल में,

जैसे गिरे शाखा छूट कुंजर के कर से
हाथ जोड़ आगे बढ़ा। वीर रस आप ही
वीर वेश धारी दुर्निवार काल शस्त्रों को
लेकर चला हो, भय विस्मय में वीर जो
दोनों बढ़े आगे थे सहम कर पीछे को
ऐसे हटे, जैसे देवराज देव सेनानी
पथ दिखलाएँ मौन अञ्जन दिगेन्द्र को।
अपलक निहारते रहे वे यथा मन्त्र के
वश में पड़े से, बली बोला मृदुस्वर में
शीश से लगा के कर दोनों हाथ जोड़ के
मेघ से चली हो ध्वनि जैसे वारि वर्षा में।

"दैत्यबाला जननी हिडिम्बा का तनय मैं
नाम है घटोत्कच, जनक भीमसेन हैं
पांडुपुत्र मेरे। कभी देखा नहीं जिनको
मैंने इन आँखों से न अग्रज को उनके
जानता हूँ धर्मराज धर्मधीर वे हैं जो,
और वीरकुल के शिरोमणि अजेय जो
मझले चचा हैं पार्थ, माता ने विनोद में
जिनका सुनाया यशोगान बार बार है।
कैसे कहूँ कौन हैं वे? चरणों में जिनके
शीश अब टेक कर मेटूँ साध मन की।
और वे नकुल सहदेव लघुतात हैं

दोनों कहाँ मेरे, कहा माता ने कि प्रेम से
और सदा आदर से मान मुझे देंगे जो?
रूप धरे चरम प्रताप पुण्यबल से
इन सबके हाँ, यदुराज कहाँ कृष्ण हैं?
कौशल से और मनोबल के सहारे जो
पार करते हैं रहे संकट समुद्र से
मेरे पितृकुल को? प्रणाम करता हूँ मैं
चरणों में उनके। प्रणत एक साथ ही
होता यह दास चरणों में धर्मराज के
उनके जो बन्धु यहाँ बैठे हों शिविर में
और जो जो गुरुजन हों सबको प्रणाम है।
मुक्त किया माता ने मुझे है मातृऋण से
और दे निदेश मुझे भेजा है कि जिससे
अनृण बनूँ मैं पितृऋण से समर में
मारूँ वसुसेन को कि वीरगति को वरूँ।"

धरती पर माथा टेक दोनों हाथ जोड़ के
मौन हुआ वीर, ज्यों अगस्त्य ऋषिराज को
देखकर शिखर झुका हो विन्ध्यगिरि का।
कन्धे में पिनाक, पाश जैसे हो वरुण का
दारुण, निषंग कटि देश में, गरुड़ ज्यों
पंखों को समेट पड़ा, वासव के वज्र सी
अग्निगर्भा भीषण गदा थी कंठमूल में

दंड जिसका था दबा, जैसे काल रसना
डोलती हो काल असि पीठ पर वैसे ही
डोलती थी कोष में, परशु, पाश, शूल थे
बाँहों में अटकते से फैले भूमितल में।
अचल बना जो रहा वीर शीश टेक के
भू पर, परन्तु अभी वाणी भीमसुत की
गूँज रही जैसे थी शिविर में, ज्यों चित्र में
अंकित से देखने युधिष्ठिर लगे उसे,
कृष्णा देखती ही रही विस्मय में डूबी सी।
अर्जुन के नेत्र उसे देखकर पल में
घूमते जो अग्रज की ओर, भीमसेन की
आँखों में झलकते थे अश्रुविन्दु पद्म में
झलमल करते हैं यथा सीकर शिशिर के।
बोले वासुदेव हँसी अधर कपोल में
नाच उठी--

"भीमसेन! मोह के समुद्र में
डूबने का अवसर नहीं है मूर्तिवत् हो।
क्यों हो खड़े? आगे बढ़ो देखो महाभाग हे!
दिग्गज तुम्हारा धराभार के उठाने को
आया। कहो अब तक छिपाया कहाँ तुमने
इसको था? चिन्ता मिटी मेरी, पूर्वकाल का
उदय हुआ हो भाग्य जैसे इस काल में।

धन्य दैत्यनन्दिनी तुम्हारी प्रेयसी हैं वे
जननी बनी हैं जो कि ऐसे वीरसुत की।
अपर खगेन्द्र, या कि तारकारि दूसरा,
किम्वा इन्द्रजीत, इन्द्र विजयी समर में
निर्भय बनाने तुम्हें आया काल रिपु से।
निश्चय ही कर्ण का निवारण समर में
तनय हिडिम्बा का करेगा, दैत्यनन्दिनी
वीर जननी की कीर्ति फैलेगी दिगन्त में।
सुनते रहे हैं अनुकूल जब दैव हो
संकट टिकेगा कहाँ? देखा वहीं आँखों से।
अंग अंग आयस के किम्वा वज्र के बने
देखो इस पुत्र के तुम्हारे। किस लग्न में
तुमको मिली थी कहाँ दैत्यबाला सुन्दरी?
और किस लग्न में सती के अवधान में
आया यह रत्न? इस भूतल में जिसकी
समता नहीं है कहीं।''

जैसे स्वप्न से जगा
मोह की भँवर में पड़ा सा, यथा लोहे को
खींच लेता चुम्बक है वैसे ही तनय ने
खींचा यथा आकुल जनक को निमेष में।
पलकें गिरीं जो खुलीं देखा भीमसेन ने
बाहों में उठाया बली पुत्र को पुलक में

छाती से लगाके सिर सूँघ, अश्रुजल से
सींचने लगा जो सुत शीश, मोह मन का
बह चला; सींचे गिरिश्रृंग मद वारि से
जैसे गन्ध कुञ्जर, निमीलित नयन थे।
चू रहे थे मोती युग्म सीपी से निकल के,
किम्वा सरसिज से निकलते थे जल के,
सीकर अजस्र। निधि स्वप्न की भिखारी कां
जैसे मिली।

कृष्णा उठी और धरातल को
मोद किरणों में रँगती सी चली पल में।
धर्मराज और यदुरत्न दोनों साथ ही
आसन को छोड़ उठे, तब तक द्रौपदी
पति को अलग करती सी, पद्मपाणि से
शीश और कण्ठ सहलाने लगी मोह में
होकर द्रवित। घटोत्कच को मिला हो ज्यों
जननी का स्पर्श सुख जिसमें अधीर हो
चरणों में लोटने झुका जो पर द्रौपदी
बाँहों में सँभालती सी बोली--

"वत्स ! तुम को
पाकर बनी मैं आज पुत्रवती। फिर भी

किस अपराध से तुम्हारी उन माता ने
मुझको भुलाया और आप नहीं आई क्यों'' ?

मौन रहा वीर जैसे भावनिधि में पड़ा,
मौन द्रौपदी थी हुई, मौन धर्मराज थे,
अनुज यशस्वी उनके थे वहाँ दोनों ही
वाणीहीन अपलक टिके थे नेत्र मोद में
डूबे यथा। मंद मुसकान अधरों में जो
कृष्ण के बसी थी कामना की मंजु लहरी
फैली हो धरातल में। हिमऋतु निशान्त का
काँपता समीर चला काँपे जीव जग के।

पाँचवा सर्ग

सप्तर्षि मण्डल किनारे ध्रुव लोक के
जाकर लगा है रजनी के अवसान में,
कवि मन मानस के जैसे भाव रत्न ये;
हारी कवि वाणी, नहीं बाँध जिनको सकी।
बीती अब यामिनी, निमेष यथा तारों में
लुप्त हो रहे हैं। परिजन के विछोह में
द्रवित सुधाकर की सूखी गिरी किरणें।
श्रीहत मयंक अपरा के श्वेत पट में
आनन छिपा रहा है, किंवा नीर निधि में
पश्चिम दिगन्त के चला है हाय! डूबने
होकर अधीर, धरती को अश्रु जल से
सींचकर, वे ही हिम विन्दु सब ओर हैं
फैले लता, वृक्ष, वनराजि पल्लवन में
गिरि शिखरों में। नत शीश सृष्टि तल है
शोक में निशाकर के, किंवा अंशुमाली का
उदय समीप जान धरती झुकाती है
शीश निज भक्ति से। झुके हैं पद्मसर में
गिरि शिखरों में झुके भूरुह, लतायें हैं
नीचे झुकीं।

आहा ! यह प्राची के कपोल में अरुण लगा रहा है कुंकुम। दिनेश की चिर अनुरागिनी चढ़ी है हेम रथ में ऊषा। दिनमणि का विजय केतु व्योम में बढ़ता अबाध ज्यों विजय की श्री जगत को मोद से लुटा रहा है अरुण ! दिनेश के पथ की मिटी है सभी बाधा; मिटा तम है, विजयी के यश से विपक्षी मिटते हैं ज्यों मिट गये तारे, तेजहीन शशि नभ में काँप रहा भय से कला से हीन देख के रवि का उदय। सकुची है कुमुदावली खिल उठी पद्मराजि, शोक में उलूक है चक्रवाक नाचा हर्ष में हो पंख खोल के उड़ चला रिझाने चक्रवाकी को पुलक में। अस्त हो रहा है सोम दिनमणि उदय है, विधि का विधान यह कैसा एक साथ ही हर्ष औ विषाद खेलते हैं धराधाम में? मिलता नहीं है ठौर तम को गुफा में भी टिकने का जैसे अपकारी टिकते नहीं।

आहा ! बढ़ी ऊषा रँगती सी अनुराग के रँग में गगन को कि सोने के सलिल में बोरती दिगन्त को। प्रभाती देवबाला सी

जागी अब, इन्दीवर नेत्र खुले जिसके,
अरुण वनज बने कर पद तल हैं,
विकसित मालती बनी है देह वल्लरी
चञ्चरीक राजि अलकावली खुली है ज्यों,
पक्षि कुल कलरव अलाप से ज़गत को
गिरि, वन, व्योम को सचेतकर, मोहिनी
सज रही स्वागत के हेतु दिनमणि के।
जग को जगाता यथा हिमके प्रभात का
मन्थर समीर चला, मालती पराग को
लोक में बिखेरता, कँपाता पल्लवन को।
हिलतीं लतायें, वृक्ष राजि सब ओर हैं-
हिल रहीं, काँप कर फूल अविरत हैं
चूते भूमि तलपर पराग गन्ध फैली है।
भौंरे गूँजते जो मधुमत्त सब ओर ये
रवि का विजय गान चारण सुनाते हैं।
शीतवाही मन्थर समीर संग जिनके
काँप कर आप धरातल को कँपाता है।
पादपों के पत्र सिमटे हैं शीत भय से,
पंख को समेट शिखी शीश को छिपाये हैं,
ले रहे जँभाई सिंह देह को समेट के।
शिशिर समीर या कि तीर अन्तरिक्ष से
चलते अलक्षित चराचर को बेधते।
हिम विन्दु भूतल से व्योमतल फैले हैं

रवि किरणें हैं बनी शशि की किरण सी
शीत के प्रताप से। क्षितिज में दिनेश है
उठ रहा ऊपर को ज़ैसे नीर निधि से
बड़वानल ज्वाला चली।

तूर्य भोर के बजे।
वीरभूमि आहा ! कुरुभूमि जलनिधि सी
ध्वनि पूर्ण सहसा हुई जो, वीर जाग के
दिनचर्या में लगे, अग्नि अग्निहोत्र की
प्रज्वलित होने लगी, सामगान नभ में
गूँज उठा हविधूम जैसे स्वर्ग लोक की
रचता निसेनी अहा ! फैला व्योम तल में
त्रिदिव निवासियों को, किंवा कुरुभूमि की
कीर्ति कथा जैसे हो सुनाने चला व्योम को
पारकर यज्ञधूम प्राविट पयोद सा।
बन्दी जन गाने लगे हर्ष ओज स्वर में
द्वार द्वार शिविरों के वीर विरुदावली।
गरज रहा हो सिन्धु जैसे महाध्वनि से
वायु से विकम्पित चलीं हों यथा लहरें
बोरती धरा को, रण भूमि ध्वनि पूर्ण है।
बाजे बजते हैं, कहीं होता वेद गान है
और कहीं इष्टदेव पूजा में निरत हो
स्तुति पाठ सस्वर सुनाते वीर जन हैं।

गज बोलते जो यथा होती मेघ ध्वनि है
हय हींसते हैं दुही जाने के लिये अहा !

गाये हैं रँभाती बोलते हैं वत्स जिनके।
घंटे बजते हैं ध्वनि शंख और है।
जनरव में डूबे पट मण्डप समर के।

कितना कहेगा कवि? कितना सुनायेगा?
एक संग आतीं जो अनेक ध्वनि कानों में
शब्द में उतारे कवि कैसे एक साथ ही?
काव्य के रसिक भारती के भाव लोक में
पायें पंख कल्पना के, और मन्द कवि से
चित्रण में जो कुछ है छूटा उसे आप ही
भावना की आँखें खोल देखें।

हर गिरि सा
हिमश्वेत उन्नत शिविर बसुसेन का--
नीर में रँगा है यथा सोने के, पड़ीं जो ये
छूट रवि मण्डल से आहा! अभी किरणें।
विश्वजयी वैरिन्दम कर्ण युग्म हाथों में
सोने का कलश है उठाए, शीश नत है
जल विन्दु चू रहे हैं मोती ज्यों अलक से।
भाल पर, नासिका, कपोल, कण्ठ वक्ष में

फैले सब ओर जलकण देह भीगी है।
स्नान कर आया अभी वीर इष्ट देव के
पूजन के हेतु अर्घ्य दे रहा है रवि को।
सामने शिविर के धरी जो हेमपट्टी हैं
जिस पर पड़े हैं जपा पुष्प, लाल पद्म ये
और अर्चनीय वस्तुयें हैं धरीं विधि से।
हवन हुताशन समीप हेमपट्टी के
जल रहा हेमपात्र में है। होम द्रव्य का
अग्नि देव भोग करते जो रह रह के,
उठती शिखा जो हँसी जैसे अग्निदेव की
उठती धरातल से बल रस देने को
आहा ! दिनमणि को।

दिनेश अन्तरिक्ष में
आगे बढ़ा पार कर क्षितिज प्रदेश को।
घूमता सा जैसे चक्रगति में अरुण का
गोल पिण्ड लालिमा विहीन अब श्वेत हो
भास्कर परिधि में लसा जो पूत किरणें
नाचीं महाभाग बसुसेन के ललाट में,
शीश पर नाचीं, हिला वीर गद्गद हो।
एकटक देखा वीर मणि ने दिनेश को
पद्म नेत्र डूबे अहा ! जैसे भक्ति जल में।

आधी मुँदी आँखें मुख मण्डल से मोद की
दिव्य रश्मि माला चली, रवि कर जाल को
बाँधने को जैसे प्रेमबन्ध में कि भक्ति में
होती सी विभोर कामनायें भक्त मन की
पल में समर्पित हुई थीं इष्ट देव को।
युगल चरण जुटे भूतल में सहसा
रक्त परिधान हिला, दोनों हाथ शीश के
ऊपर हिले जो अहा! हाटक कलश से
अर्घ्यधारा नीचे चली जैसे भगीरथ के
पुण्य से चली थीं सुरसरि अधोतल में
गोमुख से आहा! ज्यों अटूट पुण्यधारा सी।
किंवा रत्नमाला वह चाँदी और सोने के
सूत्र में पिरोई गई पद्मराग मणि की
गोमेदक बीच बीच में थे लगे जिसके।
शीश टेक भूतल से हाटक कलश के
छोड़ धरातल पर, उठा जो हाथ जोड़ के
एक पग ठाढ़ हुआ निष्ठा और भक्ति से
देख रवि मण्डल को बोला—

"हे जगत के
मूलाधार! पद्मपति! लोक त्राणकारी हे!
पोषक अकेले इस सृष्टि के, उदय हो
तुमने मिटाया तमतोम धरातल से।

प्राणमयी धरती के प्राण तुम! पल में
तेज, बल, बुद्धि, और विक्रम के निधि हे!
लोक जो जगा है और कर्म सिद्धि पाने को
कर्म में निरत हो रहा है सो तुम्हारी ही
केवल कृपा से। मिटी आहा। निशा यम की
कर्मवेला आई हे अनादि सखा! सृष्टि के
कर्म के सनातन हे साक्षी! अब तुमसे
दास क्या निवेदन करेगा सम भाव से
जीवन का दान तुम देते जीव तल को।
जानते हो अनुचर के मन में बसा है जो
इष्टदेव मेरे इस भूतल में तल क्या
कोई भी कहीं है जो कि छूटे देवगति से?
चिर विजयी हे! यह दास पराजय के
भय से विमुक्त रहे जब तक कर में
शस्त्र रहे मेरे। नहीं मानव अमर है।"

मौन हुआ वीर किरणों में अंशुमाली की
ऐसे खिला पद्म ज्यों खिला हो देवसरि में,
किंवा खड़े ध्यान मग्न सनत्कुमार हों
ज्ञान की विभूति से मिटा हो भ्रम मन का।
शुद्ध चित्त अन्त:करण की विभूति में
आनन रँगा हो या कि देव कुल सेनानी
शक्तिधर आहा! खड़े शक्ति की उपासना

करते हों, किंवा मूर्तिमान आप तप हों।
कौशेय केशराशि डोली कण्ठ देश में
और अक्ष माला हिली वक्ष पर साथ ही
फरकीं भुजायें, खुले नेत्र और मुख के
मण्डल से फूटी दिव्य आभा दिनकर के
मण्डल से जैसे बनी मूर्ति यह तेज की।
तप्त हेम द्रव से रचे हैं गये किंवा ये
अंग अंगपति के निरखने में जिनके
अक्षम हैं आँखें।

कुरु वीर हाथ जोड़ के
पंक्ति बद्ध देखते जिसे हैं या कि नेत्रों से
रूप सुधा पान करते हैं नर सिंह की।
घूमीं जब आँखें और देखा वीर वर ने
शस्त्र से सुसज्जित खड़े हैं कुरुदल के
वीर सभी आग्रह से देखते हैं उसको,
बोला मृदु स्वर में —

''दिनेश की उपासना
सद्यः सफल हुई मेरी बन्धु जन के
दर्शन से आहा! यह धन्य अनुचर है।
देखता हूँ दिन मणि बढ़े हैं अब व्योम में

शान्त फिर भी है रणभूमि अब तक जो
नित्य रहती है बनी अगम समुद्र सी।
जानते हैं फिर भी विपक्षी सूतसुत की
धर्म और कर्म निष्ठा चिन्ता नहीं मुझको।
याचक जुटे हैं दान कर्म अभी शेष है
चाहूँगा कि आज इस जीवन का दान भी
याचक को दूँ मैं।''

याचकों की जय ध्वनि से
गूँज उठा अम्बर दिगन्त जिस ध्वनि में
डूबने लगा हो। सूत, मागध, विनय से
गाने जो प्रशस्ति लगे आँखें लगीं पृथ्वी से
वीर कुल केशरी की। शील और नय के
भार से विनत शीश दोनों हाथ जोड़ के
मौन जो मनस्वी रहा, फूला देवतरु ज्यों
पुष्पभार से था झुका।

द्रोण सुत मोद में
आगे बढ़ा और स्वर बन्दियों के स्वर में
एक कर बोला —

''अंगराज ! त्रिभुवन में

तुम हो अकेले वृष या कि देव पति हैं
तीसरा नहीं है कहीं कोई जिसे जग में
वृष अभिधा हो मिली। वृष हे जगत के!
वासव बने हैं वृष जैसे वारिवर्षा से
वैसे ही अकेले तुम इस नर योनि में
वृष बने एहे महादानी! जलधारा ज्यों
चलती अजस्र मेघमाला से धरित्री का
ताप मिटता है मिटा वैसे ही भुवन का
रंक ताप, पाकर तुम्हारी दानधारा को।
त्रिदिव निवासी इसी कारण से तुमको
वृष कहते हैं रहे और इस जग में
दानी सदा नाम ले तुम्हारा यही बन्धु हे!
धारण करेंगे असिधारा दान व्रत की।
दान कर्म पूरा करो सारी रात जाग के
वैरी अभी सोच नहीं पाये किसे रण में
भेजें रोकने को तुम्हें, जितने विलम्ब से
रण में चलोगे तुम उपकृत होंगे वे''।
देख पर विस्मय से जैसे हँसी रोक के
बोला बली --

''विप्रवर! कैसा? कहते हो क्या?
लोकजयी अर्जुन के होते कभी उनको
चिन्ता यह होगी!''

अट्टहास गुरुपुत्र का
फैला एक पल में धरा में और व्योम में
हँस पड़े बन्दी हँसे याचक पुलक में।
यूप रूप बाहु को उठा के लगा रोकने
वीर यह हर्षनाद। बोला धीर स्वर में —

"गुरुपुत्र ! करते नहीं हैं अवमानना
वीर कभी वीर प्रतिद्वन्द्वी की इसी से मैं
अर्जुन की निन्दा सुनता हूँ नहीं तुम भी
जानते इसे हो फिर कैसी यह बात है।"

हँसकर बोला द्रौणि "निन्दा नहीं करता
अर्जुन की मैं भी। अभी चर ने सुनाया है
धीर कुरुराज से कि कुन्ती और कृष्ण हैं
रोक रहे अर्जुन को आज दृष्टि पथ में
आने से तुम्हारे और द्रौपदी का हठ है
अर्जुन न रोके तुम्हें • तब वह आपही
आयेगी समर में लड़ेगी वीर तुम से।"

कानों पर हाथ धर बोला सुधा वाणी में
अंगराज, "कृष्णा से पराजित सदा हूँ मैं।

सत्य ही जो आये कहीं कृष्णा आज रण में
तब तो उतार मैं धरूँगा शस्त्र भूमि में,
कालपृष्ठ भूतल में डाल, वक्ष खोल के
रथ से उतर उसे अवसर दूँगा मैं
पूरी प्रतिहिंसा करे नारी मुझे मार के
वीर धर्म मेरा रहे चिन्ता नहीं प्राण की।
होनी में वितर्क क्या करूँ मैं गति दैव की
जो हो मित्र! याचक अधीर हो रहे हैं ये
आओ इन्हें तुष्ट कर जीवन के फल की
तुष्टि मैं ग्रहण करूँ।"

आगे बढ़ा वीर जो
शिविर समीप द्वार तोरण में झुक के
एक पद भीतर पड़ा जो पद दूसरा
बाहर अभी था, जय ध्वनि अंगपति की
आई शतकण्ठ से घुमाया शीश वीर ने
तोरण के रत्न लगे शीश से ललाट से
और उलझी थी केशराजि मणिजाल में।
क्षीरसिन्धु शायी विष्णु रत्नाकर रत्नों में
उलझ पड़े हों यथा। देखा कुरुराज हैं
कुश और कलश उठाये आप हाथों में,
श्रेणी बद्ध सूत धरे सोने के कलश हैं
कन्धे पर, छत्र और चामर है कर में
विनत सुशासन के, आप कृपाचार्य हैं

देवगुरु जैसे हों उठाये दिव्य औषधी
मणिमय पात्र में श्रुवा है धरी जिसमें
सोने की, मरीचिमाला जैसी मणिमाला है
लोक में अलभ्य कृतवर्मा युग्म कर में
मोद में लिये है जिसे, शकुनी उठाये हैं
औदुम्बर आसन चढ़ा है अहा! जिस पै
हेम जाल जैसा पीत कौशिक वसन है।
हाथ जोड़ बोला बली —

"आये गुरुजन जो
सेवक को मान देने आप अभिषेक से,
सेवाधर्म लोक में सदैव हिमगिरि से
गुरुतर रहा है और गुरुतर रहेगा भी,
किन्तु हो रहा है अब रण में विलम्ब जो
सोचकर हो रहा अधीर यह दास है।
क्या कहेंगे वैरी रणभूमि अब तक है
सोई पड़ी फिर भी निदेश तो निदेश है
सेवक का तेज, तप, धर्म, बल स्वामी के
केवल निदेश में रहा है। कुरुराज हे!
शीश इस दास का झुका जो सदा आप के
पूज्य चरणों में उसे पूजकर आप ही
चाहते जो उद्धत बनाना हाय! गर्व से,
प्रस्तुत है दास यह विधि अभिषेक की

अब अविलम्ब करो पूरी, रवि साक्षी हों
और काल रण में कृतार्थ यह दास हो।''

आगे बढ़ बोला ''तपपूत इस भूमि से
लोक भार धारिणी धरा से बढ़ कर क्या
होता कहीं आसन है अन्य अभिषेक का।
नीचे धरती हो और ऊपर दिनेश हों --''

वाणी रुकी, पुलक अधीर गनगन सा
काँपा वीर, तुरत निदेश दिया आँखों से
धीर कृपाचार्य ने, धरातल पर वेद के
मन्त्र से गिराया श्रोत्रियों ने जल आप ही
क्षीर कुरुराज झुका कुश के बिछाने को।

औदुम्बर आसन बिछाया शकुनी ने जो
और फिर डाला पीत पाटम्बर जिस पै
अस्खलित स्वर से सुनाने सामवेद के
उद्गाता मन्त्र लगे, ऋग और यजुर का
पाठ चला, अध्वर्यु कष्ट से चली हो ज्यों
वारिधारा पावस के सघन पयोद से।
स्वर भेद सिद्धि के लिये जो कर क्रम से

संचरित होते कभी ऊँचे और नीचे थे
सप्त स्वर मूर्त हो रहे थे पल पल में।
विग्रह के हेतु कृतीकर्म के, समासों का
विग्रह स्वरों में करते थे कृतीजन वे,
लिंग और बचन, विभक्ति वेद विधि के,
सिद्ध हो रहे थे स्वर सिद्धि में कि जिनसे
कर्म सिद्धि पूरी रहे।

विनतानन कर्ण की
आँखें धरती में लगीं, भाल पर रवि की
किरणें लगीं थीं, भक्ति विनय सलिल में
डूबा रहा वीर, देह धारी शान्त रस ज्यों
भक्ति में विलीन उतरा हो भूमि तल में।
नाची हँसी नासिका, कपोल में, अधर में
मोद का सलिक्त भरा आँखों में, पुलक में
होकर अनस्थिर, सुयोधन ने बढ़ के
हाथ धर चाहा उसे आसन समीप में
लाना, तभी जैसे सहसा हो जगा नींद से
वीर ज्यों चकित और विस्मित सा पल में
देख कुरुराज को, समेट अंग देह के
चरणों में आतुर यशस्वी पड़ा।

मन की
गति को दिखाये कवि कैसे मूक मन से ?
किसने सुना है कब प्राण को हिलाती सी
रागिनी बजी है मञ्जु वीणा की धनुष की
ताँत से, धुनी हो गई रुई सदा जिससे ?
प्रेम से भरा जो मन बन्धन में शब्द के
आता कब ? अनुभव की विधि ही निराली है
वाणी विधे हारती रही है सदा जिससे।
कालपृष्ठ धारी महाराघव समर के
सागर का, सेवक का धर्म धन्य जग में
जिसकी महिमा से पड़ा भूतल में, शीश है
कुरुपति के चरणों में वीर जन भूले से
अपलक नयन से निहारते हैं जिसको।
बोला वसुसेन हाथ जोड़।

"सूतसुत की
कीर्ति क्या बढ़ेगी अभिषेक से यशस्वी हे !
हीन जन्मा दास यह वेद के विधान से
पूजित जो होगा धरा लज्जित न होगी क्या ?
अभिजात गौरव टिकेगा कहाँ सोचो तो ?
कुल और वंश का विभव जो कि नर को
पूजनीय अब तक बनाता रहा डूबेगा।
पूछो पूज्यपाद कृपाचार्य से बतायेंगे,

सूतसुत ज्ञात कुल शील जिसका नहीं
कैसे अभिषेक कहो होगा! आज उसका
वेद के विधान से? विधान यह कैसा है
कैसे भूलते हैं गुरुजन आज इसको?
कैसे भूलते हैं उस शस्त्र की परीक्षा को
गुरुजन, बनाये गये हीन जहाँ मेरे थे
शस्त्र जो बने थे उसी धातु से कि जिससे
अर्जुन के शस्त्र बने। जन्म के विचार से
अपमानित होना पड़ा, लक्ष्य भेद से भी जो
अधिकार छीना गया मेरा जन्म दोष से
द्रौपदी स्वयंवर में। सोचकर जिसको,
किन्तु व्यर्थ सोचना है कुल और जन्म के
वश में रहा है जहाँ पौरुष जगत का।
वेदविधि ऐसी ही रही है अब तक जो
आज उसे तोड़कर निन्दा अपयश का
भाजन बनूँ मैं, जब जीवन सरित का
देखता हूँ सूखा अब नीर, पड़ी रेती है।
शास्त्र और वेद विधि, विधि है कुलीनों की
ग्रहण करूँगा उसे कैसे अकुलीन मैं?
सेवक के धर्म की अकेली एक विधि है
सेवा में निरत रहे प्राण ले हथेली में
निर्भय हो साधे स्वामि काज तन मन से।
कुरुराज! काम नहीं मेरे अभिषेक का।''

बोले कृपाचार्य "नरसिंह! आज लज्जा के
पंक में ढकेलो नहीं मुझको यशस्वी हे!
सिद्ध तुमने है किया निश्चय ही नर का
पौरुष है पूज्य, जन्म दोष निट जाता है
कर्म की विभूति से। मिटाया दोष तुमने
शस्त्र से, दया से, दान, व्रत और सत्य से।
वीर मणि और दान मणि इस जग के
तुम हो अकेले वृष। देवता भी तुम से
दान ले चुके हैं महादानी माँगता हूँ मैं
दान तुमसे कि अविलम्ब अभिषेक की
विधि करो पूरी। हीन जन्मा देव ऋषि के
चरणों में शीश झुकते हैं देव पति के।
ब्रह्म ऋषि कह कर उठाया था वशिष्ठ ने
कौशिक को आप ही उठो हे! क्षत्रि कुल के
गौरव किरीट! जानता है दैव तुमको
कौन जाने क्षत्रिय हो किंवा विप्र अंश से
जन्म है तुम्हारा या कि शाप ग्रस्त स्वर्ग से
भूपर पतित वन्दनीय तुम देव हो,
वसु हो, प्रजापति हो, किंवा लोक पाल हो।
लोक के रहस्य लोक सत्य धर तुम हो।
लोक सत्य धारण करते हैं सदा वेद भी,
शास्त्र विधि मानती रही है लोक सत्य को।

युग धर्म ऊपर रहेगा शास्त्र धर्म के
अन्यथा मिटेगा शास्त्र स्वीकृति से युग की
वंचित हो। स्वप्न में भी याचक को तुमने
सुनते हैं विमुख किया है नहीं फिर क्यों
विमुख करोगे मुझे? माँगता हूँ अब मैं
दान अंगराज से दिनेश देखते हैं ये
दानव्रती! दानरूप अब अभिषेक की
विधि को निबाहें और संगर समुद्र में
कौरवों के पोत बन पार करें उनको।
निर्भय सदा है देव सेना शक्तिधर के
आश्रय में जैसे उसी भाँति कर्ण सेनानी
रण में अजेय करें कौरव अनीकिनी।''
कह कर बढ़ाया विप्रवंश अवतंश ने
हाथ और भाव के सलिल में विवश सा
देखा वसुसेन ने, सिहर कर पल में,
शीश को झुका के देवपति देवगुरु के
लेते हों निदेश यथा शीश पर, वीर ने
धर लिया हाथ कृपाचार्य का सहारे से
उसके उठा जो सुधि भूली तन मन की।
एकटक रवि को निहार कर वाणी जो
आई कण्ठतल में अटकती रुकती सी जो
सुन पड़ी --

"पूज्यपाद मेरे लिये प्राण के
दान से बड़ा है यह दान, जिसे आपने
माँगा अभी फिर भी वितर्क दान में हो क्या?
साक्षी हों दिनेश इस दान के कहा है जो
आपने उसी से धन्य अब यह दास है
पूर्ण काम, कामना के बन्ध सभी टूटे हैं।
हठ करने से मिटता है धर्म दास का
हो चुका समर्पित जो स्वामी के चरण में
लेना ही निदेश उसे होगा सिर आँखों से"

मौन हुआ वीर स्वेद विन्दु कण्ठ, वक्ष में
भाल और नासिका, कपोल पर मोती से
जगमग होने लगे, अश्रु विन्दु आँखों में,
रोकने में तत्पर मुँदी जो मंजु पलकें।
वेग था समाया श्वास गति में कि मन की
भावनायें अन्तः करण को हिलाती सी
बाहर बही थीं, गति श्वास की बनी थीं जो।

बोला कुरुराज "मित्र! कुल और वंश के
ऊपर सदैव पुरुषार्थ अंगपति का
मानता रहा मैं कब आदर में मुझसे
चूक हुई? किन्तु नरसिंह चिन्ता गत की

तुमको भी होवे तब धीर इस जग में और कौन होगा ?''

हाथ धर कर कर्ण का आसन पर लाकर बिठाया अभिषेक के वीर ने। चली हो यथा गिरि के शिखर से मन्दाकिनी धारा, चली धारा पूत जल की हेम कलशों से अभिमन्त्रित सलिल की शीश पर वीर के, गिरी थीं देवसरि ज्यों शंकर जटा में। अभिषेक कर जल से जिसमें मिलाया गया पुण्य तीर्थ जल था, गजदन्त और रत्न निर्मित कटोरे की गन्धपूर्ण बलरस दायिनी महौषधी लेकर पुनीत कृपाचार्य करने लगे तब अभिषेक, घनसार, मृग मद के योग से, यशस्वी अश्वथामा करने लगा वीर अभिसिंचन, ज्यों बालरवि दूसरा उतरा गगन से, दिखाई पड़ा वैसे ही तेज पूर्ण वीर वसुसेन। देख जिसको बोध हुआ, चित्त में बसा है धर्म वीर के, कर्म में प्रताप, बसी इन्दिरा है आँखों में वाणी में सरस्वती समाई अहा ! वायु का

वास पुरुषार्थ में हो। चकित नयन से
देखते थे वीर कुरुपक्ष के यशस्वी को।
पीत परिधान और पीत उत्तरीय था
धारण बली ने किया ; चन्द्रकान्त मणि का
भृत्यजन लाये तभी सिंहासन जिस में
बैठा। कुरुराज ने उठाया हँस पंख सा
किंवा चन्द्रमण्डल सा छत्र, प्रभा पिण्ड सा।
चँवर डुलाने लगा मुग्ध सुशासन जो
चन्दरर किरणें हो गुंथी किंवा सिन्धु फेन हो।
गाने लगे बन्दी यशगान, कृतदर्मा ने
मणिमाला डाली जब कंठ में पुलक से।
भाल पर तिलक लगाया कृपाचार्य ने
सामगान गूँजा, स्वस्ति पाठ चलने लगा।
श्रेणी बद्ध याचकों को दोनों हाथ खोल के
देने लगा दान वीर जैसे सिन्धु तट का
नीर हो उलीचता लुटाता रत्न राशि था।
याचना के पहिले ही निधि से अघाते थे
रंक जन। चाँदी और सोना रत्न वर्षा सी
हो रही थी. धेनु, पट, अन्न, फल दान था।
याचक के गुण, कर्म, कुल और शील की
सूचना भी चाहता नहीं था वीर देने मे।
तपहीन, विद्याहीन, निर्गुण मनुष्य भी
संशय विहीन दान ले रहे थे, मेघ क्या

करता विचार कभी ऊसर, सरित का
जल वर्षा में? दान व्रत में यशस्वी के
मन में न आया भाव पात्र या कुपात्र का।
देखा नहीं याचक की ओर भूल कर भी
दान के व्रती ने दान द्रव्य में समाई सी
आँखें भी लुटा रहा हो जैसे। भर भर के
द्रव्य पात्र ला रहे थे भृत्य मधुचक्र में
जैसे मधु माखी है सँजोती मधुरस को
जाने कितने वे कर दान द्रव्य ढोते थे
यन्त्र में कसे से एक गति एक क्रम से
फिर भी न संचित था होता वसुसेन के
दो कर लुटाते उसे जैसी त्वरा कर के।
रंक जन तुष्ट हुए चारों ओर भूमि पै
स्वर्ण और रत्न धन फैला जिसे लेने की
कामना किसी को नहीं।

. याचक विनोद में
एक दूसरे से कहते थे "अरे! देखो तो
भूपर गिरा रहे हो रत्न द्रव्य, रुक के
ले लो इसे भाई"! किन्तु दूसरा तुरन्त ही
छूटता सा कहता है "ए हो। तब वृष के
याचक बने क्यों जब दान भार ढोने में
तुम हो समर्थ नहीं, जाते ठौर दूसरी

दानी जहाँ देता एक मुट्ठी तुम्हें देख के।
याचकों की जय ध्वनि से गूँजा व्योम, धरती
हिल उठी, जैसे चेत आया लगा देखने
चारों ओर शशि को घुमा के कहीं कोई भी
याचक नहीं था वहाँ, जैसे तुष्टि तप की
ज्ञान या विवेक की मिली हो, खिलीं आँखें वे
पुण्डरीक जैसे दो खिले हों बाल रवि की
किरणों में।

हाथ जोड़ अपलक नयन से
रवि को निहार कर बोला "कर्म पूरे हैं,
पूर्णकाम अनुचर तुम्हारा कुरुराज! है
अब अविलम्ब चलें देखें रणभूमि में
युद्ध कला वैरियों की। पुण्यपर्व आया है
आज इस जीवन में अर्जुन जो रण में
आवे रोकने को मुझे अनुचर कृतार्थ हैं।
तब तो।"

"मिली है मुझे सूचना कि रण में
आ रही है कृष्णा आज वीरमणि तुमको
रोकने को रण केलि में ही आज उसके
दुर्निवार शस्त्र तुम्हें सहने पड़ेंगे वे।"

बोला कुरुराज हँसी रोकने में दाँतों के
बीच में समाया ओठ।

शीश को हिलाता सा
बोला बली "तब तो विजय पाण्डवों की है।
कृष्ण की मनस्विता से किंवा दैव गति से
आये कहीं सत्य ही जो कृष्णा आज रण में
फिर भी रहेगी यह सृष्टि पर होनी की
चिन्ता करते हैं कहाँ वीर जन जग के?"

सिंहासन छोड़ उठा बोला धीर स्वर में
"भेजो फिर राज दूत शत्रुओं का भेद लेने को
आता अभी मैं भी हूँ शिविर में तुम्हारे ही
शस्त्र भर ले लूँ।"

वीर मणि हाथ जोड़ के
कुरुपति को और गुरु पुत्र कृपाचार्य के
चरणों में शीश को झुका के, देवपति हों
जैसे झुके देव गुरु और देव ऋषि के
चरणों में, हर्ष में अधीर धर बाहों में
विनत सुशासन का आलिंगन करके
आगे बढ़ा। नत शीश मण्डप में पटके

जाकर समाया, अन्य जन कुरुराज के संग चले।

शस्त्र से सजे हैं पाण्डु दल के वीर सभी। रत्न मुकुटों से यथा रवि की किरणें निकलती हैं, दुर्निवार तेज से दीप्त हो रही है तट भूमि रणभूमि की। धनुष, निषंग, असि, तोमर, परिघ से, पाश से, गदा से, दृढ़ वर्म से तलत्र से वीर सजे, रोष और हर्ष की तरंगों में डूबते हैं जैसे कभी और उतराते हैं। घूम रहे देखते कभी हैं शिविरों को जो ओर रणभूमि, कभी फेरते धनुष को हाथों में। नचाते कभी ऊपर गदा को हैं। उछल रहा है कहीं कोई जानु वक्ष में ताल मार सिंहनाद कोई कहीं करता। हँसता है कोई अट्टहास करता हुआ। नाना विधि वीर हैं अधीर रण रंग में हो रहा विलम्ब रवि ऊँचे चढ़े व्योम में।

सात्यकी के संग धृष्टद्युम्न एक ओर है अविचल नयन से निहारता शिविर को

अर्जुन के, जिसके समीप वीर दोनों ही
वीर वेश में हैं खड़े। कान लगे दोनों के
सुनने को बातँ हो रही है जो शिविर में।
भौंहें तनी, तर्जनी लगी है धृष्टद्युम्न की
ओठों से, सटा है सात्य की का कण्ठ कन्धे से।
मन्द स्वर पड़ता सुनाई धर्मराज का
अर्जुन की धीर ध्वनि, रोष ध्वनि भीम की
रह रह के आती, हँसते हैं कृष्ण सुन के
व्यंग्य और ग्लानि भरी वाणी याज्ञसेनी की।
मूर्तिवंत मौन वीर तनय हिडिम्बा का

बैठा टिकी आँखें जिसकी हैं भूमितल में।
भौंहें तनी, पलकें तनीं हैं देह भर में
रोम खड़े, भाल पर रेखा बनी रोष की
स्वेद बिन्दु छाये मुखमण्डल में कण्ठ में।

बोली तभी कृष्णा "वासुदेव यही हठ है
मेरा यदि अर्जुन न जायेंगे समर में,
निश्चय ही जाना मुझे होगा कालरण में
देखूँगी कि कैसा बली अधिरथ तनय है?
जिससे डरे हैं पति मेरे डरे तुम हो?
अब क्या पराजय में शेष? कहो मन से
हारे जिससे हो तुम शस्त्र से भी हारोगे।

मन में पराजित पराजित है रण में।
शस्त्रबल काम नहीं आता मनोबल से
हीन हो, अकेला मन जीत या कि हार का
कारण है होता। अब लाभ क्या वितर्क से?
कृष्ण हँसने का नहीं रोने का समय है
आज यह। देव, नर, दैत्य रण विजयी
गाण्डीव धारी जब हारे सूतसुत से
भय से पराजित हुये जो बिना देखे ही
उसको समर में, धरा में है अडिग क्या
बोलो? मानदण्ड, हिला आज धरती का है।
सत्य, तप, बल, कीर्ति धर्म कहो किसकी
महिमा रहेगी भवभूमि में? अभागिनी
व्यर्थ ही प्रगल्भ बनती हूँ भला शब्द से
कायर बने हैं कभी वीर, जो कि आज वे
नारी के विराग से बनेंगे वीर पल में।''

काँपती हो जैसे विष उगल भुजंगिनी,
आहत हो किंवा बिधी सिंहनी हो शर से
लोटती धरा में, मर्म हाथ से दबाती सी
अंगों को समेट पड़ी भूतल में द्रौपदी
फैली अलकावली धरा में, शीश जिसमें
छिप गया किंवा शशि डूबा तम सिन्धु में

मद दन्ति आकुल हो जैसे दवानल में
बिटप उपार, गिरिश्रृंग भग्न करके
देह सुधि भूले, घटोत्कच देह सुधि को
भूल कर वैसे ही उठा जो बन्ध वर्म के
तड़ तड़ टूटे, देह फूली, मद धार ज्यों
कुँज़र कपोल से चली हो चली वैसे ही
स्वेद धार वीर के कपोल, भाल, कण्ठ से,
वेगवती साँस हुई अंग हिलने लगे।
फरके अधर, भुज, आँखों से लपट सी
फूट चली दग्ध सा विकल वीर बोला यों।

"डरता रहा हूँ भूल से भी मुझसे
मर्यादा टूटे यदि छेड़ गुरुजन की
बात जो मुखर बनूँ, चाहता क्षमा हूँ मैं
छोटे मुँह बात बड़ी आय कही फिर भी
आर्त हूँ मैं संयम विवेक आर्त मन में
रहता नहीं है। मुझे रोका जननी ने था
बोलने से अधिक नहीं तो गुरुजन की
होवेगी अवज्ञा हाय! अन्यथा नहीं तो क्या
राजरानी माता जो कि मेरी भूमि तल में
ग्लानि से गिरी हैं, मैं अभागा खड़ा देखता
उनकी व्यथा को? अब तक वसुसेन का
लोटता न होता यदि शीश भूमि तल में

निश्चय ही जननी जनक का कलंक मैं
डूबा आप होता रक्त सरिता में रण की।
सेवक ढिठाई करे कैसे गुरुजन से
जिनके निदेश और पुण्य से बली है जो?
किन्तु, अब संयम की सीमा इस दास की
पार हुई, और कहता हूँ मैं अकेले ही
जा रहा हूँ वैरियों के शोणित से भूमि कण
प्यास को बुझाने उस धन्वीकर्ण रिपु का
शीष काट कन्दुक बनाता अभी लाता हूँ।''

आकुल जो वीर बढ़ा और द्रौपदी के जो
चरणों में शीश टेक रोष रस पीने में
काँपा बली, बालक सा रोने लगा पल में।
अंग अंग देह के हिले वे भूमि कम्प में
हिलते हैं भूधर के भूरुह शिखर ज्यों।

कृष्णा उठी और उसे अंक से लगाती सी
बोली ''वत्स! निर्भय बनी हूँ तुम्हें देख के
लोक में नहीं है कहीं कोई जो कि तुमसे
रण में टिकेगा बली बल से तुम्हारे ही
आज हत होगा वसुसेन पाण्डु पुत्रों का
संकट टलेगा जानती हूँ पर फिर भी

चित्त चाहता है नहीं भेजूँ तुम्हें रण में।
जननी तुम्हारी सती दानवेन्द्र बाला ने
पुत्र मोह छोड़कर भेजा तुम्हें रण में
पतिव्रत निबाहने को धन्य सती धर्म है
पाऊँ यदि चरणों में शीश धरूँ उनके।
पूजनीय जननी तुम्हारी पूजनीया हैं
मेरे लिए। दानवी ने मानवी को धर्म की
महिमा दिखाई वत्स! मेरा अब धर्म है
उनके धरोहर की रक्षा करूँ प्राण से।
नेत्र पुतली सी पुत्र तुमको बचाऊँ जो
तब तो निबाहूँ जननी का धर्म आज मैं।
जानते नहीं हो लोक विजयी जनक के
रहते ही मारा गया हाय! अभिमन्यु था
पांडुकुल दीपक बुझा था दैव गति से।
कृष्ण ने हटाया पार्थ को था उस दिन भी
ऐसे ही समर से हटाते आज जैसे हैं।
अर्जुन के प्राण रखने को बासुदेव ने
वंश ही डुबाया हाय! जानती नहीं हूँ मैं
जीवन का मूल्य क्या अधिक है मरण के
मूल्य से कि जीना अभी चाहते हैं पति ये
मेरे, धरती का सुख भोग और लेंगे क्या?
वंश को डुबाया जब डूबे सब साथ ही।
शेष अब क्या है जिसे पाने के लिये कहो

वीर धर्म बोरते हैं? आज वसुसेन से
अर्जुन लड़ेंगे या लड़ेगी फिर द्रौपदी,
कूट नीति कृष्ण की न आज चल पावेगी।
दैव का विधान जानती हूँ नहीं फिर भी,
दायें हो कि बायें दैव एक भाव से ही मैं
ग्रहण करूँगी उसे आज इस जग को
देखना मुझे है हीन पार्थ या कि कर्ण से।
धरती डिगे जो, रवि डूबे तम राशि में,
सिन्धु सूख जाये, मेरु चाहे मिले धूलि में,
देव धरती में गिरें और धरा हाय रे!
जाकर समाये रसातल में धरा है जो
हठ हा! अभागिनी न छूटेगा देह में
जब तक हैं प्राण यह।''

आसूँ चले मर्म को
पार कर। लोहित थीं आँखें लाल मुख था,
भृकुटी चढ़ी थी दाँत काटते अधर थे,
फैले रन्ध्र नासिका के, घूम कर देखती
अग्नि की लपट फेंकती सी जो शिविर में
कृष्णा उठी।

सस्मित बदन कृष्ण बोले यों,

''याज्ञसेनी हठ से तुम्हारे, या कि मेरे क्या
अर्जुन के हठ से, कि देव धर्मराज के
किंवा भीमसेन के रुकेगी गति दैव की?
पुरुष बली है नहीं, काल बली होता है
कर्म करते हैं सभी किन्तु फल भोग के
भाजन क्या होते हैं समान जन जग के?
अभिमन्यु मारा गया विधि के विधान से
रोकने की शक्ति किसमें थी कहो उसके?
मृत्युजयी भीष्म गति रोकने में मृत्यु की
सफल रहे जो सदा वे भी गति दैव की
रोक जब पाये नहीं, और वाण शय्या में
मृत्यु की घड़ी को गिनते हैं, जो समर में
अडिग बने ही रहे भृगकुल केतु भी
जिनको डिगा न सके, नाम वीर जन में
लीक जिनका है सदा, रोम खड़े होते हैं
भृगुपति के नाम से समर यज्ञ जिनके
भूलेंगे कभी क्या इस जग के निवासी जो
अब मैं सुनाऊँ? धन्य होता वीर कुल है
ध्यान कर जिस भृगुराम का समर में।
वीर हीन धरती हुई थी जिस वीर से,
शस्त्रधर सामने न आया कभी जिसके।
कोप के कृशानु में जलाया कार्तवीर्य को
जिस रणधीर ने धनुष की श्रुवा से था,

पितृ कुल तृप्त करने के लिए रण में
तर्पण करता जो सदा आया रक्तधारा है
अब भी स्यमन्तक में कुंड रक्त के हैं वे,
भृगुपति की कीर्ति कथा जग को सुनाते जो।
क्षात्र तेज जग से मिटा के ब्रह्म तेज की
जिसने प्रतिष्ठा अरे! की थी शस्त्र बल से।
अन्त में निवारित हुई थी शक्ति जिसकी
जिस अपराजित से वे ही देवव्रत हैं
काल के अतिथि दुर्निवार दैव गति है।
द्रोणाचार्य मारे गये वीर विश्व विजयी
रण में गिरे हैं क्या बताऊँ तुम्हें कितने?
जानती हो तुम भी तो हठ से बनेगा क्या?
दैव के अधीन नर लीला नर लोक की
चलती रही है सदा, जीवन मरण में,
जय या पराजय में, यश अपयश में,
नियति प्रधान रही। दैवगति भूल के
नर कामना को या कि पौरुष को नर के
मूल शक्ति मानो, फिर तब तो कहूँगा मैं
पौरुष में और मनोबल में अडिग है
कालपृष्ठ धारी। विश्व विजयी समर में
आज है अकेला दुर्निवार शक्तिधर भी
या कि आप वज्री भी न रोक उसे पायेंगे।
कूटनीति कहती जिसे हो मैं विजय की

नीति मानता हूँ, उसी नीति से समर में
विजयी बने हैं सुत पाण्डु के अकेला है
वसुसेन। होगा हत निश्चय ही वह भी
आज उसी नीति से। परन्तु यदि सत्य ही
मुझसे हुआ हो अपकार क्षमा चाहूँगा।
कहते विपक्षी यह मेरी कूट नीति से
पाण्डव जयी हैं बने और आज तुमभी
दे रही मुझे हो वही दोष। दैवगति है
देखो यही जिससे समान अपराधी जो
शत्रु और मित्र मानते हैं मुझे साथ ही।
काल और कर्म के विवश जीव गति है
इस जगती में। दिन रात यथा क्रम से
आते हैं सदैव अवरोध इनका नहीं
वैसे ही नहीं है अवरोध दैव गति का।
पाण्डवों के हित में विरोध बलराम का
मैंने किया सारा यदुवंश एक स्वर से
कौरवों के पक्ष में हुआ था जो सुधर्मा में
फिर भी अटल मैं अकेले रहा सोच के
शक्ति दम्भ भारत से मुझको मिटाना है।
आत्म बल हारता रहा जो शस्त्र बल से,
जड़ के अधीन सदा चेतन बना रहा,
तब किस आशा से मनुज भव लोक में
धरती के ऊपर नयन भी उठायेगा?

सत्य हो कि नीति हो उसे ही मानता हूँ मैं
जन मन रंजन कि जिससे भुवन में
वैरी बलहीन बनें मित्र बलशाली हों।
फिर भी हुआ हो अपकार स्वप्न में भी जो
मुझसे तुम्हारा, धर्मराज सब जानते
भीमसेन जानते हैं और धनञ्जय भी
शत्रु मित्र जान्ते सभी हैं।''

गुहा गिरि से
रुद्ध ज्यों समीर चला जैसे अवरोध के
हटने से, बोला भीमसेन वज्रघात से
भूधर अनस्थिर हो, किंवा जल निधि में
लहरें चलीं हो, कण्ठ तल को हिलाते जो
शब्द चले, साँस में समीर परिताप का
चलने लगा हो यथा सूखा कंठ पल में।
आँखें रतनार मुख मण्डल में रोष की
मुद्रा लसी दारुण ललाट में विषाद की
रेखा पड़ी।

''वासुदेव! जीवन की कामना
जिसकी बनी हो अभी रोको उसे रण से
कर्ण से बचाओं उसे राजभोग लेने को।

अर्जुन को रोको और रोको धर्मराज को
सहदेव नकुल रहेंगे राज्य भार क्या
चार से चलेगा नहीं? जीना नहीं चाहता
अब मैं मुहूर्त भर चाहते हो रण में
भेजना घटोत्कच को सम्भव नहीं है जो
जीवित हूँ जब तक। अमोघ दैवगति है
कहते तुम भी हो फिर कैसे मैं तनय को
भेजूँ काल मुख में? सुधीजन जगत के
क्या कहेंगे सोचो तुम्हीं? स्वार्थ साधना में जो
भेजें कालरण में हिडिम्बा के तनय को?
यौवन के मद में बनाया जिसे प्रेयसी
और फिर छोड़ दिया कुल के विचार से
हाय रे! अभागा यह पापी भार भूमि का
अब तक बना है, धरा फटती नहीं है जो
ठौर इसे देती पाप टलता जगत का।
होती है नहीं क्या कहो वेदना प्रसव की
दानवी को? या कि पुत्र मोह नहीं होता है?
स्वप्न में भी आया नहीं राजसुख जिसके
राज महिषी भी नहीं होना हीन जन्म से
जिसको कभी है, वनवासिनी का वन में
एक ही सहारा यह पुत्र है इसे भी जो
हठ कर काल के हवाले करूँ तब तो
खोज कर हारोगे अधम मुझ सा नहीं

पाओगे धरा में। पुत्रशोक सा विषाद क्या होता दूसरा है? मणि हीन फणिधर को देखा किसने है कब जीते? शिलातल में मार मार शीश मरता है विष फेंक के।''

गनगन दिगन्त भूमि जैसे उन्माद में डूबी जा रही हो पल, विलप, निमेष में डूबता सा वीर बढ़ा दानव तनय को बाँहों में समेट बोला -

''वत्स! तुमको नहीं राज भोगना है लौट जाओ वनवासिनी माता के समीप पुत्र! आँखें बिछीं जिसकी पथ में तुम्हारे।''

मर्मभेदी शर वीर को जैसे लगा, व्याकुल पिता के बाहुबन्ध से सहसा अलग हुआ। आँखें चक्रगति में घूमीं सब ओर। दव ज्वाला में घिरा हुआ भय से सहम के मृगेन्द्र देखता हो ज्यों फरके अधर पुट, नासा, चढ़ी भृकुटी, रोम रोम काँपा भय विह्वल सा पल में

बोला हो अधीर -

"फिर अब तो विवश हो
एहे यदुपति ! पुण्य चरणों के बल से
आपही अवज्ञा करता हूँ मैं जनक की।
जननी ने आग्राह से भेजा मुझे रण में
दानव बनेचर क्या जाने मर्म धर्म का?
कहते जनक हैं कि लौट अब जाऊँ मैं।
और यदि चाहते नहीं हैं जो जनक ये
संग मुझे लेना अधिकार हाय! सेवा का
मेरा छीनते हैं, इन्हें कैसे मैं पिता कहूँ?
सम्भव है लज्जा इन्हें आती देख मुझको,
पुत्र मानने में मुझे होता अपमान है
गौरव का इनके, नहीं है चाह मुझको
पुत्र इनका मैं बनूँ सुयश कमाने को।
जननी के बल से अकेला बली दास है
अंक से लगा के मुझे यश के सलिल से
शीतल जो होती रही, गर्व बोध जिसको
मुझसे मिला है। उसी माता की शपथ है
पूरी मैं करूँगा कामना जो आज उसकी।
मृग मारता है ज्यों मृगेन्द्र खेल करते
वैसे ही करूँगा वसुसेन बध आज मैं।
गुरुजन ये मेरे यदि रोकने चलेंगे जो,

शत्रु सम इनका निवारण करूँगा मैं।''

शस्त्रों को उठाया बली दानव ने पल में
दायाँ हाथ ऊपर घुमा के काल दंड सा
पल मारते ही गया बाहर शिविर के।
चित्र में लिखे से गतचेत भीमसेन थे,
कृष्णा धरती में गड़ी, जैसे धर्मराज के
आनन में भय और विस्मय की छाया थी।
कण्टकित रोम और सजल नयन थे
अर्जुन के, मन्द मुसकान अधरों में जो
कृष्ण के बसी थी, सुधा जैसे शशितल की
मृतक सँजीवन सी आई भूमि तल में।

छठाँ सर्ग

प्राची के दिगन्त में दिनेश चढ़े ऊँचे हैं।
श्वेत रश्मि निकर कि रविकर असंख्य ये
भूतल को ऊपर उठाते या कि प्रेम से
वसुमती प्रिया के अंग लाभ के लिए अहा!
चलते अजस्र रवि मण्डल से। मोद के
रस में विभोर धरा भूली देह सुधि है।
आगतपतिका सी सती धरती नवेली ज्यों
धारण करती सी नई सज्जा प्रतिपल में
होती कभी श्वेत, कभी पीली पद्मराग सी
होती कभी। नित्य प्रतिपल जो नवीन है।
विस्मय में बुद्धि डूबती है देख जिसको
कहते उसे ही रमणीय, रूप-रस जो
मन को मनोरम बनाता कविजन के।
वाणी की विवशता से अवगत मनस्वी वे
रूप साधना में लीन रूप रस धार में
बोर भव बन्धन को भवरूप होते हैं।
व्यक्ति मिटता है भव व्यक्ति रूप पाता है।
काव्य का, कला का मानदण्ड भव भक्ति से
लेकर चले जो कवि पथ के पथिक वे
जीवन की जय की विभूति परलोक को
दे रहे। अभी है काल अक्षम मिटाने में
उनके बना। मर अमर भुवन में
होता एक मात्र रचना में भव रूप की।
और सब नश्वर है मन्द मति कैसे मैं

धारण करूँगा भव रूप की मरालिका।
मन्दर धरेगा जब निज के विकार में
राग में रमा हूँ लघु सरित परन्तु जो
सुरसरि में जाकर समाते सिन्धु पाते हैं।
विन्दु को भी सिन्धु मिलता है कवि मन की
आशा यह मन्द कवि वाणी व्यास वाणी के
नद में मिली है इसी फल के उठाने को।
शीत और कम्प मिटा भूतल से नभ में
राजहंस पंख खोल पंक्ति में उड़े हैं ये
व्योम की हँसी है लसी किम्वा श्वेत छत्र हैं
देवों के गगन में कि कीर्ति कुरुभूमि की
रूप धरे ऊपर चली है। पद्म फूले हैं
मुग्ध धरती के मुग्ध नेत्र अपलक ये
नभ की विभूति को निहारते कि रवि की
किरणों के आसन बने हैं।

रणभूमि के
दोनों ओर श्रेणीबद्ध हेम रत्न रथ हैं
चंचल तुरंग चपला की गति अंगों में
जैसे हों समेट खड़े नेत्र, कान, ग्रीवा के
कम्पन से कहते कि बस अब पल में
रथ ले उड़ेंगे धरती को अविराम जो
खोद रहे खुर से। सचेत युग्म कर से
रास खींचे सारथी खड़े हैं बार बार जो
टोक कर संयत बनाते, पर जिनकी
उद्धत प्रकृति कब संयम नियम को

मानते हैं? मरकत शिखर से गयंद ये
झूम झूम अविरल बहाते मद धार हैं।
मधुकर निकर मधु लोभी कुम्भ तल में
गूँजता है, सीस हिलते हैं गज राजि के।
हिलते हैं दन्त मद दन्ति के पयोद में
बार बार जागे चंचला ज्यों मणिरत्न में।
दृष्टि को समेटते से हेमरत्न वाले वे
झूल हिलते हैं, क्रम भंग कभी क्रम से
बजते विजय घंट, सूँड नभ तल में
दायें और बायें कभी और कभी आगे को
फणिधर से डोलते करेणुका के कर को
काँपता करेणु बाँधता है जब कर में
आँखें बन्द होतीं अंग सहसा शिथिल हो
ढीले पड़ते हैं गजराज के पुलक में।
करते प्रतीक्षा सी खड़े हैं शिविरों के ये
द्वार द्वार वीर गण वीर वेश धर के।
कन्धे में धनु, कटि भाग में निषंग है
दायाँ हाथ खेलता है जैसे असि मूठ से।
स्वर्ण वर्म जगमग कसे जो वक्ष देश में
रवि की परिधि से मुकुट दीप्त होते हैं।
रण को चले हैं या कि वरने वरानना
अधरों से चलती हँसी है और आँखों में
पुलक सलिल भरा कण्टकित रोम हैं।
स्वेद विन्दु छाये मुख मण्डल में पद्म में
सीकर शिशिर के बसे हों या कि शशि के
मण्डल में फैले सुधा विन्दु कल्पतरु ये
जाने कितने हैं पुष्प भार में विनत से।

मुग्ध मन रण मोद जैसे रतिमोद है
कर्मयोगी कर्म में विभेद करते कहाँ?
रण और रति के समान रस भोगी वे
कर्मरत विजयी जरा के और मृत्यु के।
जीवन के मोह से विमुक्त अमरों से ये
निर्भय समर को खड़े हैं यमराज को
देकर निमन्त्रण उड़े जो केतु पट हैं
पार करते से यथा व्योम स्वर्ण रत्न के
दण्ड में लगे जो लोक और परलोक को
एक में मिलाते यथा किंवा भर नर को
कर्म की विभूति बाँटते हैं देवधाम में।
उद्भासित अम्बर है दिनकर किरण में
केतु दण्ड दहक रहे हैं शिखा अग्नि की
फैली नभ मण्डल में किंवा धूमकेतु वे
अम्बर जलाते तट दोनों रणभूमि के
उद्वेलित प्रलय महोदधि के तट से
होने लगे मेघ ध्वनि जैसी गज ध्वनि है
शंख और भेरी निर्घात ध्वनि भूमि को
व्याप्त कर फैली नभ मण्डल में जिसकी
प्रतिध्वनि गूँजी धरा डोली भयभीत सी।

संग अंगपति के सुयोधन शिविर में
बैठा है विचार मग्न। चन्द्रकान्त मणि का
लालसा सा रम्य लक्ष्य जैसे लालसा का है
सिंहासन, मणि रत्न जाल में पड़े हों ज्यों
दोनों वीर बैठे एक साथ मणि दण्ड से

चारों हेम शृंखला में बाँधे देवसरि के
झाग सा पुनीत श्वेत छत्र जिसमें लगा
किंवा चन्द्र मण्डल वितान तना। व्योम में
पूर्ण चन्द्र और अंशुमाली एक संग हों
भासमान उदयाचल शृंग पर वैसे ही
बैठे वीर दोनों एक साथ तेज किरणें
फेंकते शिविर में कि कार्तिकेय सेनानी
संग में शची पति के बैठे देवधाम में।
वीर रस जैसे देहधारी वीर दोनों ही
शस्त्रों से सजे हैं यथा मण्डल दिनेश के
शीश पर दोनों के किरीट जगमग हैं।
रश्मि जाल में मढ़े जो वर्म दृढ़ सोने के
दीप्त हो रहे हैं वक्ष, कण्ठ बाहु तल में।
कन्धे में पिनाक, ढीली कुण्डली फणीश की
किंवा काल पाश से पड़े हैं कटितल में।
दारुण निषंग डोलते हैं रह रह के
काल असि यम की शिखा सी पड़ी कोश में।
दायें वसुसेन धरे हाथ सुयोधन का
बैठा सिंह आसन में आँखों में सलिल है
स्नेह का समाया अपलक मुग्ध मन से
एकटक आगे देखता है भूमितल में
बैठा जहाँ करबद्ध कुरुपति अनुज है।
आँखें धरती में गड़ीं छाया परिताप की
आनन में फैली धीरता है मिटी मन की
साँस की अधीरता जनाती यही दुख को
सीमाहीन सागर में जैसे सुशासन है
डूब रहा।

रोक कर जैसे वेग मन का
संयत करता सा क्रम स्वर और वाणी का
प्रेम और आग्रह में बोला कुरुराज यों
मानता हूँ भावना तुम्हारी मैं
शत्रु वश दैव जिसे जग में जिलाता है
मृत्यु उसे जीवन है, जीवन मरण है।
सत्य कहते हो पर कैसे मान लेते हो
भय से वृकोदर के रोकता तुम्हें हूँ मैं।
जानते हो तुम और लोक यह जानता है
विजयी बली जो धराधाम के यशस्वी हैं
जानते सभी हैं फिर कैसे तुम से कहूँ
मृत्यु अनहोनी नहीं और गति होनी की
टल सकती भी नहीं फिर किस हेतु से
भय भी समीप आ सकेगा बन्धु मेरे हे!
लोक भय दारुण हो चाहे काल भय हो
प्राण भय किंवा यश- धर्म- नीति भय हो
विचलित कभी क्या मुझे देखा है अनुज ने?
भय से अडिग रहता हूँ कभी मन में
स्वप्न में भी भय को न ठौर दिया मैंने है
वैरिन्दम! आगत विपत्ति और भय में
धर्म की परख बन्धु! होती धीर जन को
लक्ष्मण के बल से बली ज्यों दाशरथि थे
अनुज! बली हूँ सदा बल से तुम्हारे मैं।
त्रिभुवन की शक्ति और श्री है मिली मुझको
पाकर तुम्हें हे भक्त अग्रज के भाग्य से।
चिन्ता नहीं यम की जिसे है भीमसेन की
चिन्ता कब होगी कृष्ण या कि पार्थ की?

सोच देखो जीव जन्म लेता है जगत में
एक दिन मृत्यु में समाने के लिए ही तो
देह तत्व मिलते सदा हैं सृष्टि तत्व में
क्षिति- जल- पावक- गगन में समीर में।
कर्म के अधीन फिर जीव जन्म दूसरा
धारण करता है या कि ब्रह्म में समाता है।
जन्म और मृत्यु बनी सीमा जीव लोक की
जब तक न ब्रह्म अंश पाये ठौर ब्रह्म में
विन्दु सम सिन्धु में समाये तब तक तो
जन्म उसे लेने ही पड़ेंगे मर मर के।
फिर उस मृत्यु में विषाद क्या कि जिसमें
हम हो अधीर बन्धु !'

नेह के सलिल में
डूबे नेत्र, डोला बली पावस पयोद की
वारिधारा शीश धर डोलता विटप ज्यों
अंग अंग डोले, देह ढीली पड़ी पलकें
बन्द कर कर्ण के सहारे टिका आँखों के
पार कर कोर गिरे अश्रु विन्दु मोती दो
ढुलक पड़े ज्यों सरसीरुह से कर्ण के
हाथ पर एकटक विस्मय से देखने
वीर लगा। मर्म का विषाद यथा वाणी में
बह चला। बोला बली विस्फारित आँखें थीं
पलकें तनी थीं स्वेद सीकर ललाट में
सहसा चमक पड़े -

"कुरुराज! दास की
कीर्ति और महिमा तो डूबी, जब आँखों से
आँसू ये तुम्हारे चले, मूल से उखाड़ के
मेरु धरती में गिरा और सिन्धु सूखा है।
आओ चलें देखें अंशुमाली राहु ग्रास में
निश्चय पड़े हैं धूमकेतुमय नभ है
वीरकुल गौरव धँसा है रसातल में।
जीवित मरा हूँ में अभागा सुत शोक में
भूधर से अचल बने जो रहे रोते हो
आज तुम आप ही तो जाने क्या धरित्री की
धीरता मिटी है या कि बेला है प्रलय की
सृष्टि में समाई क्या कहूँ मैं किस फल से
जीवित मृतक मैं रमा हूँ जीव धर्म में।
वाणी गति अब भी बनी है और श्वास की
गति रुकती है नहीं घोर दैव गति में
जन्म लिया मैंने मनस्ताप ही उठाने को!
फिर भी न माना कभी मैंने दैव गति को
एक दिन पौरुष पुरुष का अजेय हो
विधि का विधान मेट देगा धरा धाम से।
लोक का विधाता लोक कर्म बन जायेगा
मुक्त होगा मनुपुत्र माया से नियति की।
दैव विधि मानव की विधि को उठायेगी
भाग्य का विधाता आप होगा नर जग में
किन्तु अभी दूर वह दिन है इसी से तो
रो रहे हो भाई तुम दैव गति में पड़े
मानते सदा हो दैव गति को कहूँ मैं क्या?
और कहूँ कैसे जब भीष्म व्रती भीष्म भी

दैव गति मानते हैं वीर भव लोक के
जय में पराजय में नियति निरत हैं।
लोक श्रम कैसे मैं अकेले मेट पाऊँगा
सम्भव है आये कभी दिन वह जग में
जन्म लें सुधी वे जो कि दैव और होनी की
माया फाड़ फेंके समधर्मी जन मेरे वे।
तब तक तो देखता हूँ दैव वश जग में
जीना पड़ा मुझ को भी कर्म लाभ लेने को।
सम्भव नहीं है समुदाय भिन्न व्यक्ति जो
धारण करेगा जीव धर्म समुदाय से
मुक्त व्यक्ति होता है विमुक्त देह धर्म से।
और अब देह धर्म मेरे क्या बचे हैं जो
कामना करूँ मैं समुदाय के विभव की!
कैसे तुम्हें शंका हुई अनुज विनय में?
बैठी यह बात भी तुम्हारें मन में कहो
कैसे आज अनुज तुम्हारे सुशासन ये
चित्र में लिखे से शिला खण्ड में गड़े से जो
मूर्ति सम जैसे गड़े धरती में बैठे हैं
मानेंगे निदेश नहीं जायेंगे समर में।
रोको उनको जो तुम भाई भक्त दूसरा
ऐसा कहाँ जग में है फिर यह चिन्ता क्यों?
कैसे तुम्हें शंका हो रही है दो निदेश और
निश्चय है अनुज तुम्हारा अग्नि कुण्ड में
मोद में समायेगा यशस्वी वीर विनयी।''

मौन वसुदेव हुआ आँखें कुरुराज के
आनन पर जाकर टिकीं ज्यों पलहीन सी

साँस रोक एक टक देखने लगा बली।
रक्तिम कपोल, भाल, नासिका, अधर थे।
दारुण विषाद चला अतल प्रदेश को
पार कर फैला मुख मण्डल में। रवि के
मण्डल में जैसे पड़ी छाया राहु ग्रास की।
आग्रह में जैसे मनुहार करता हुआ
बोला कुरुराज,

"बन्धु हाय! मैं अभागा हूँ
कारण बना जो वीरमणि के विषाद का
सूझता नहीं है विपरीत दैव गति में
पथ मुझको हे अवलम्ब कुरुदल के
आर्त का विवेक टिकता है कहाँ? तुम क्या
जानते नहीं हो फिर रोष परिताप में
आप ही पड़ो जो कुरुपोत रण-सिन्धु में
देखता हूँ तब तो अतल में समायेगा।
बोलो तुम्हीं मित्र! इस विषम समय में
करना मुझे है जो बताओ अब आप ही।
भानुमती राजमहिषी जो पुत्र-शोक में
शूल गड़ा जैसे शिला खण्ड में, अचल सी
अब तक बनी जो रही, आँसुओं से दास के
पद धो चुकी हैं देवि कातर नयन वे
उत्फुल्ल अम्बुज वे अम्बु बरसाते हैं।
मन जलता है ज़ले अनल अवाँ में ज्यों
अनुज बधू को देख छोड़ कर तन को
प्राण कहीं और जा लगे हैं हाय! जिसके।
भ्रम कितना मैं करूँ? भूलूँ कहो कितना?

कितना कठोर इस मन को बनाऊँ मैं?
पार करते हैं जो मनस्वी नदी, नद को
पौरुष के वेग में समाते सिन्धु में हैं जो
डूब क्या न जाते वही नारी नेत्र जल में।
शूल के प्रहार से अधीर नहीं होते जो
शूरों में परम शूर चलदल से पल में
हिल पड़ते हैं जब लोचन से जल जो
चलता अबला के। फिर भी मैं मनोबल से
करता निवारण कहीं जो कुरु देवि की
बात यह होती उन आँसुओं को पीता मैं।
पीकर विषाद मान भंग कर उनका
वीर-धर्म भाई का बचाता। जब मृत्यु से
यम बचता नहीं आप प्रजापति भी
वसु और रुद्र, विष्णु कालवश होते हैं।
दिन, मास, वर्ष, युग, कल्प, महाकाल में
हो रहे विलीन विन्दु सिन्धु में समाता ज्यों।
खोज कर बोलो वह विन्दु एक पाओगे
सिन्धु में गिरा जो अभी पल यह बीता जो
जाकर समाया। महाकाल में क्या उस को
फिर पा सकोगे? यह साँस गति डोर है
जीव गति काल खींचता है धरे जिसको।
जान कर भी जो मैं अजान बन्धु होता हूँ
नीर पर नींव जो उठाना चाहता हूँ मैं
पंख हीन पार करने जो चला नभ को
जीव की परिधि में विकारी नर मैं घिरा
मोह से द्रवित हाय! प्रज्ञा हीन अब हूँ।
अनुज बधू को अभी देखा कुरुदेवि के

अंक में, तुषार गिरा जैसे पद्म राजि में,
दव में गिरी हो या वनस्थली वसन्त की।
कन्या सम मेरी जो न अभय किया उसे
लोक-धर्म और क्या बचाऊँगा भला कहो
तिल जो उठा न सका कैसे मेरु शृंग को
धारण करेगा वही? आज रणभूमि में
दूनी शक्ति और सिद्धि दूनी मैं दिखाऊँगा।
जान नहीं पायेंगे विपक्षी कुरुदल में
अनुज नहीं है कुरुराज का समर में।
अवसर वृकोदर को मिलने न दूँगा मैं
खोजता फिरे जो खोजता है रहा अब लौं
जैसे वह नित्य ही सुशासन को। आज तो
सुविधा से साँस नहीं लेने उसे दूँगा मैं।''
लोट कर कर्ण के शरीर पर मोद में
हँस पड़ा वीर। बही स्रोतस्विनी मरु में
या कि शशि दूज का अमा की निशा में लसा।
पुलक अधीर रोम कण्टकित कर्ण के
कुसुम कदम्ब के ज्यों पीत वर्ण वाले वे
मन में अरिन्दम के इन्दु अनुग्रह का
जैसे सुधा धार बरसाने लगा शब्द में
बह कर चली जो जीव ताप हरती हुई।
बोला बली,

''बन्धु! काल पृष्ठ इस दास के
कर में बना है जब तक काल से भी क्यों
भय तुम्हें होवे। वीर धर्म फलहीन है

मेरा। यदि चाहो तुम भी तो आज रण से
दूर रहना तो तुम्हें दास की शपथ है
एक तुम जाओ और रोको सुशासन को
निर्भय रहेगी कुरु सेना आज रण में।
प्रत्यंचा अमोघ मेरी काल पृष्ठ काल है
लोक भावना है यही दम्भ करता नहीं।
वीर-व्रत और दम्भ साथ चलते नहीं।
विनय विहीन वीर भार धरती का है।
पूज्य पितामह ने जो अर्ध रथी कह के
हीन मुझको था किया और प्रतिशोध में
सोष्म मन युद्ध से विरत मैं बना रहा
सेनापति जब तक रहे वे देखता हूँ मैं
वीरधर्म मेरा तभी टूटा अविनय से।
अब अविनीत और दम्भी क्या बनूँगा मैं
चेतना बनी है जब तक? अनुग्रह जो
करते रहे हो कुरुराज इस जन पै
कामद हे मेरे कल्पतरु! इस दास की
कामना यही है लो विराम, युद्ध श्रम को
मेटो पट मण्डप में आज पर्यंक में।
सेवक का धर्म बन्धु रण में निबाहूँ जो
तब फिर उऋण बनूँ राधा-पूत-पय से।
मेरे लिए लोक में महान और क्या है जो
धारण करेगा इस जन के सुयश को?
राधा जननी की और अधिरथ जनक की
शपथ मुझे है जो न आज रणभूमि में . . .''

सहसा अधीर, कर संचारित करके
मर्माहत बोला सुशासन, "गुरुजन को
छेड़ कर कहता हूँ प्रण या शपथ से
आग्रह से किंवा मनुहार या निदेश से
निश्चय ही रोकना मुझे है जो समर से
रोक कर मुझको चलाना कुरुवंश है
दैवगति रोकने चले हैं गुरुजन जो
एकमात्र रोक कर मुझको बनेगा क्या?
काँपा बली, कम्पित हृदय, सुधि देह की
भूली यथा, आँखें मुँदीं साँस गति भी रुकी
मन का विषाद छाया मुख की परिधि में
व्याप्त हुई दारुण विराग के अतल में
लीन रहा वीर या कि डूबा रोष जल में।
आहत मृगेन्द्र छोड़ता है प्राण बन्धन ज्यों।
सिंहासन छोड़ बली दोनों बढ़े साथ ही
विस्मय विलीन किंवा मोह में द्रवित से
झुक कर उठाना जब चाहा उसे दोनों ने
अंगों को समेट पड़ा भूधर धरा में ज्यों
चाहता समाना या उपेन्द्र और इन्द्र के
बीच में है सुप्रतीक दिग्गज झुका हुआ
भक्ति वश बाहों में उठा के लगा छाती से
सिर सूँघता सा सुधा धार बरसाता सा
बोल कुरुराज-

"बन्धु! तब फिर करूँ मैं क्या?
विनयी बली हो नीति धर्म जानते भी हो

बोलो तुम्हीं जैसा जो कि करणीय मेरा है।
सूझता नहीं है पथ नेत्र ज्योति मेरे हे!
पथ दिखलाओ धर्मसंकट में मैं जो हूँ
पार मुझे उससे करोगे तुम्हीं। भाई का
धर्म भी यही है इस जग में अनुज से
बढ़कर सहारा और होता क्या कि जिसकी
आशा मैं करूँगा? जग उदधि अगाध में
गिरि शृंग मेरे तुम। दाशरथि के लिए
विनयी बली ज्यों मिले लक्ष्मण अनुज थे
तिनके मनोबल से भक्ति और निष्ठा से
जिनकी अमोघ शस्त्र सिद्धि से समर में
शक्राजित मारा गया देव दैत्य विजयी
ध्वस्त हुई लंका वह सोने की जलधि की
शीर्षचूड़ा थी जो। भाग्यफल से मिले मुझे
भव की विभूति तुम मेरे बन्धु तुम को
पाकर अभाव मिटा मेरे नर जन्म का।
लोक का विभव बन्धु तुम में समाया है
अनुज तुम्हीं हो अब सुत भी तुम्हीं तो हो
राज्य, धन, धर्म, सिद्धि, साधन भी तुम हो।
हठ करने से कौन जाने क्या नियति की
गति या अगति वत्स! स्वप्न में सती ने जो
हन्त! हन्त! जो कुछ है देखा सुना।''

बोला सुशासन यो
मन की व्यथा में हिली वाणी कण्ठ तल से
जैसे अवरुद्ध चले शब्द मर्म भेदी ये।

''हन्त ! हन्त !! स्वप्न की विडम्बना में पड़ के
वीर धर्म छोड़ने को कहते सुधी जो हैं
छोड़ूँगा उसे मैं अबला के नेत्र जल में
देखता हूँ डूबा लोक धर्म कुरुजन की
गौरव कहानी गई कुरुराज आप जो
दारुण तनय शोक में जो नभपति से
अविचल बने थे वही विचलित होते हैं
देखकर नीर अबला की उन आँखों में
विधि ने बनाया जिन्हें रोने के लिए सदा।
नारी कब रोती नहीं सुख या दुःख में
हर्ष या विषाद, भय, शंका, स्नेह, क्रोध में।
मायाविनी नारी नर निष्ठा मेट देती है
आँसुओं की धार में। विवेकी जन लोक के
डूब मरते हैं जहाँ कैसा अविवेकी मैं
रख फिर सकूँगा अब यश के शरीर को।
फिर भी अमर तो न आज बन जाऊँगा।
मरना ही होगा मुझे खेद वश मन में
केवल यही है वसुसेन जहाँ सेनानी
कायर वहीं मैं बनूँ। हाय ! स्वप्न नारी का
और कब कामिनी नहीं है स्वप्न देखती ?
जागते या सोते राग-रस के सलिल में
मोह की विडम्बना में स्वप्नमयी नारी है
जिसने बनाया इस संसृति को स्वप्न है।''

आई तभी भानुमती जैसे मंजु मुरली
टेर उठी सप्त स्वरा, नभ अविकारी ज्यों

सिहर उठा हो तो विकारी नर मन की
गति क्या कहेगा कवि? भाव के अतल में
वाणी जो समाई रसना को फिर उसका
रस मिलता है नहीं। वाणी देव कुल की
कहते हैं भाव के अतल में समाई जो
आई नहीं ऊपर इसी से देवयोनि में
जन्म नहीं लेते कवि। भारती विवश हो
छोड़ कर लोक अमरों का मर लोक में
रस और राग की बहाती सुधा धार हैं।
निर्निमेष, भाव का सलिल भरे आँखों में
कुरुराज मुग्ध सा निहार उसे पल में
एक टक ऊपर शिविर लगा देखने।
विषम विराग में विलीन यथा आँखें वे
स्तम्भ में शिविर के जड़ी थी गतिहीन सी।
सस्मित नयन कर जोड़ वसुसेन ने
देखा उसे और फिर नीचे देखने लगा।
आगे बढ़ी राजमहिषी जो सुशासन का
हाथ धर बोली -

"सुनो देवर! जगत के
वीर जो बली जो विजयी जो हैं समर के
नारी नहीं जननी बनी है कहो किसकी?
निन्दा कामिनी की करते हो पर माता भी
लोक ही वही है अबला का बल नर को
दैव ने दिया है बली नर उसी बल से
नारी तुम्हें मन और प्राण में सँजोती है।

जीती है तुम्हारे लिए और मरती भी है।
जन्म से ही नारी जननी है बनी उसका
पद क्या मिटेगा? नर होता सदा शिशु है।
कैसे मैं बताऊँ तुम्हें कैसे जान पाओगे?
कामिनी के मन में धरा का भार होता है।
शील का, दया का, अनुराग, अनुग्रह का
सिन्धु जहाँ अगम, अगाध क्षीर निधि सा
करते कलंकित उसे जो अविवेक से
दोष नहीं देती मैं तुम्हें हे वत्स! नारी के
भाग्य में दिया था यही विधि ने कि पति को
प्राणाधार पति को छिपाये रहे प्राण में।
पति ही की कामना में जागे और सोये जो
भूली रहे निज को भी प्रियतम चरण के
लाभ में। परन्तु क्या सुना है नहीं तुमने
और क्या न देखा है कि नारी कभी भूल से
लेती नहीं पक्ष अबला का, जाति भाव की
गति भी न जाने क्यों समायी नहीं उसके
मन में। नहीं तो बहुपत्नी की प्रथा जो है
कैसे चल पाती? अपदस्थ एक होती क्यों?
और कैसे दूसरी को पद वह मिलता?
देवर! अबला का जन्म निन्दित बनाते हो
निन्दा करते हो कामिनी की और माता की।
माना अभी वासन्ती बनी है नहीं जननी
किन्तु उसी कामना में सोचो यदि तुम को
आज रोक लेना चाहती है यदि रण से
और फिर रोकती सती है कहाँ तुम को?
दारुण जो स्वप्न वत्स! देखा पति प्राणा ने

कैसे जानते हो तुम उसमें नियति की
प्रेरणा नहीं है फिर कैसे अपराधिनी
बोलो तुम्हीं प्रेयसी तुम्हारी बनी! पति की
रति अपराध बनी कब से जगत में?
हठ यह मेरा अपराधिनी तुम्हारी मैं
बन कर रहूँगी किन्तु लीक कुरुवंश की
मिटने न दूँगी अवलम्ब हे जनक के
जननी के आश्रय अकेले भवनिधि के
पलकें तुम्हारी परिताप से तनी हैं ये
आँसू भरी आँखें दीर्घ श्वास वक्ष तल का
कवच हिला रहा है हिलता हृदय है
मेरा हाय! देख जिसे देवर! अभागिनी
माँगती है भीख हठ छोड़ो परिताप में
चाहते जलाना हमें किस अपराध से?
माता, पिता, प्रभु और गुरुजन की वाणी में
तर्क या वितर्क शंका करते सुधी नहीं।
शास्त्र का बचन भी यही है गुरुजन की
वाणी सदा मंगल की मूरि शुभ दायिनी
होती भद्र! लोक का विधान बना ऐसा ही।
और जहाँ युद्ध में रहेंगे कर्ण सेनानी
काल पृष्ठ धारी इस जग में अजेय जो
जिनके बल से है बली कौरव अनीकिनी
एक तुम जाओ या न जाओ जो समर में
देखती नहीं मैं वीर-व्रत टूटता है क्या?
अवसर कहाँ है यहाँ लज्जा या कि निन्दा का?
शस्त्र नहीं धारण किया जो वसुसेन ने
विश्वजित अभिधा मिटी क्या कहो इनकी?
सेनापति काल में यशस्वी देवव्रत के

शत्रुंजय बैरियों को भूलेगा तुम्हारा क्या
विक्रम कि निन्दा वे तुम्हारी स्वप्न में करें।
फिर यदि चाहते नहीं हों कर्ण सेनानी
संग तुम्हें लेना आज रण में क्या उनका
तोड़ के निदेश तुम जाओगे समर में !"

गन गन काँपा बली आँखों में अनल की
लपट उठी ज्यों जली बल्लरी यथा पल में
साँस रोक बोला,
"देवि ! चाहता यही हूँ मैं
सेनापति रोकें मुझे, वीर वेश तज के
धनुष, निषंग, असि, कवच, वलय को
चरणों में डाल अभी उनके, उठाऊँ मैं
दण्ड औ कमण्डल। कहो तो परिव्रज्या में
फिर क्या निदेश देवि ! मानूँगा तुम्हारा मैं।
अग्रज का मानूँगा कि सेनापति कर्ण का ?
किसका चलेगा वश तब इस जन पै
और क्या अभागिनी बनी जो भाग्य दोष से
मेरी परिणीता फिर माया में प्रणय की
स्वप्न या कि लोचन सलिल रूप, राग में
रोक मुझे लेगी? देवि ! तो फिर लो अब मैं
मानता निदेश हूँ तुम्हारा कुरुराज का
सेनापति कर्ण का निदेश मानता हूँ मैं
देवि ! मान जाता हूँ निदेश कामिनी का भी
गुरुजन सुखी हों सभी भाग्यवती नारी हों
मेरी। अब लोकधर्म बन्धन से कर्म के

मुक्त महाभाग मैं बना हूँ भाग्यफल से!
जिस पद हेतु तप करते तपस्वी हैं
तापते हैं पंचानल वृष की तरणि में
शीत की निशा में जल शयन रचाते हैं।''
सीस को हिलाता वसुसेन ज्यों विनोद में
हँस कर बोला-

''प्रिय दर्शन! विराग की
साधना क्या कौतुक बनेगी बाल मन की
राग रस में जो नहीं डूबा और जिसने
कर्म की कला से बन्ध खोले नहीं कर्म के
प्रजनन से जीवन के ऋण से न छूटा जो
सृष्टि नद का है वह ग्राह, धरा उसका
भार नहीं चाहती उठाना, गिरि वन का
भार जो धरे है सुख मोद में समायी सी।
भय दे रहे हो हमें परिव्राज होने का
सम्भव अभी है आत्मघात भय से हमें
चाहोगे बनाना भीत, लोक विधि मेखला
खोल फेंकते हो जो अमंगल अशुभ का
वरण करोगे आप, जानते नहीं हो क्या
शक्ति से विहीन शिव शव मात्र होता है।
नारी शक्ति रुपिणी है कर्म की पताका है
शूरों में समर्थ शूर सोते जिस अंक में
विग्रह अभाव, दम्भ, ज्ञान मिटते जहाँ
और फिर व्यर्थ का वितर्क तुमसे करूँ?
सेनापति पद से निदेश तुम्हें देता हूँ।''
तब तक आई ध्वनि जैसे स्वर लहरी

गूँजी हो दिगन्त में पिकी की पी जिसे यथा
विह्वल मरुत डोला सिहर उठे सभी।
"सेनापति निग्रह निदेश का करें अभी
अन्यथा बनूँगी अपराधिनी. यहाँ भी मैं
चाहती नहीं मैं वीर-व्रत प्राण पति का
टूटे अबला के भय कातर हृदय के
मोह में, खुले जो मेखला है मर्यादा की।
जायेंगे समर में कि परिव्राज होंगे वे
दोनों पथ इनके खुले हैं अवरोध मैं
अब न बनूँगी चलें चांह जिस पथ से।
गुरुजन खड़े हैं जहाँ बनती प्रगल्भ हूँ।"

आई सती वासन्ती शिविर में। शिशिर के
भोर का मयंक हो कि सिक्त सरसिज हो।
सिमट रहे थे अंग झलमल वस्त्र से
विनतानन रूपसी समायी जो शिविर में
अम्बुज से मोती चू रहे हों अविरल ज्यों
उन्मीलित लोचन गिराते अश्रुजल थे।
चाहते थे छूना यथा दोनों कान कुण्डली
भौहों की बनी थी, मीन केतु : शर जाल सी
जैसे तनी मोहमयी अडिग बरोनियाँ।
आई सती बोली हाथ जोड़-

"अपराधिनी

पति की बनूँगी नहीं, दैवगति में भला
वश अबला का क्या चलेगा वीरमणि भी
रोक नहीं पाते जिसे। भाग्य से विधाता ने
वीर पति मुझको दिया जो वीर बाला का
धर्म जब डूबेगा धरा भी क्या न डूबेगी?
याचना है मेरी जेठ! कन्या को क्षमा करें
आत्मजा सी मुझ पर कृपा है रही जिसकी।
सेनापति मानें अनुरोध अब दासी का
मेटें परिताप यह परिव्राट मन से
हो रहे जो देह से, रहें वे वीर रण में
बैरियों से जूझें। आप काल क्या समर में
विचलित करेगा उसे नारी रति जिसके
मन को चली हो छोड़। अमर अजय हैं
वीरों में समर्थ वीर प्राणनाथ मेरे हैं।
कातर बनूँगी नहीं जल इन आँखों में
अब न रहेगा शिला जैसी ठोस बन के
सहन करूँगी शीत, आतप कि वर्षा को।
निग्रह परिग्रह समान सदा नारी के
हित में रहेंगे कामना जो आज उनकी
बाधक अभागिनी बने जो उस पथ में
मेरे मनोयोगी पति का जो किस बल से
पत्नी पद धारण करेगी।''

कण्ठ तल में
वाणी सहसा जो रुकी देखा मंजु घोषा ने
अपलक शिविर में खड़े जो वीर जन थे

चित्र में लिखे से या कि मन्त्र मुग्ध जैसे वे
एकटक देखते उसे थे अचरज में।
भूली जिनकी थी सुधि मन और वाणी की।
देह गति भूली स्वप्न लोक में समाये से
साँस रोक जैसे बली विस्मय विराग के
सिन्धु में पड़े थे तभी भानुमती बोली यों-

''भद्रे ! नहीं बनते प्रगल्भ गुरुजन से
कैसे भूलती हो? शील, विनय विसार के
आग्रह करती हो या निदेश किसे देती हो?
देखती हैं आँखें किन आँखों को कहो भला
लोकजयी वसुसेन सेनानी जहाँ खड़े
आप कुरुराज भी जहाँ हैं खड़े तुमको
आना चाहिए भी वहाँ मन्त्रणा में रण की।
राजमहिषी मैं पर माता सी तुम्हारी मैं
आप ही खड़ी हूँ कुरु विधि तोड़ती हो क्यों?
देवर को आज पलकों में मुझे लेना है
आज या कि कल या कभी भी उन्हें रण में
जाने अब दूँगी नहीं कुरुवंश डूबेगा।
देखती हूँ रोका नहीं मैंने यदि उनको
कुरुजन के वंश की परम्परा मिटेगी हा !
पितृकुल कैसे पितृलोक में अभय हो
वास भी करेगा सखि?''

बोली तभी वासन्ती

पंचम में जैसे पिकी बोली या कि रागिनी
भैरवी ने पाये शब्द ''देवि ! पितरों की क्यों
चिन्ता हमें होवे हीन पुण्य से उन्हीं के क्या
डूबता नहीं है कुरुवंश ? पुण्यहीन वे
पायेंगे शुभाशुभ का भोग स्वर्ग च्युत हो।
आयेंगे धरा में सृष्टि फिर से चलायेंगे।
सृष्टि तो रुकेगी नहीं कुल वंश जग में
मिटते रहे हैं पर सृष्टि क्या मिटी कभी ?
मनु पुत्र कैसे देवि ! भूल कर मनु को
मानव के मूल उस एक ही पितर को
कुल और वंश के विभेद रचता रहा।
कुरु कुल मिटेगा पर मनु शतरूपा का
कुल तो चलेगा सदा। भेद बुद्धि नर की
रण और विग्रह का कारण बनी है जो
लोक से मिटी जो नहीं एक दिन तब तो
लोक ही मिटेगा इस भारत में, बच के
जीवित रहेंगे जो मिटेंगे अन्य रण में।
मिटना ही देवि ! फल जिसका धरा में है
उसके रखने की भला चिन्ता से बनेगा क्या
कुरुवंश डूबे या कि भव निधि में बहे
होनी में चलेगा क्या हमारा ? हत्‌भागिनी
बन कर कलंकिनी हा ! तोड़कर पति का
वीर धर्म, माता ! किस पुण्य फल से कहो
नारी का चरम लाभ जननी बनूँगी मैं।
गान्धारी सती जो सती धर्म में धरा सी हैं
उनके चलाये भी न कुरुकुल जो चला
नरसिंह पुत्र एक गुल्म जिनके मरे

और वह कुन्ती . . . . .''

धरती को पद घात से
जैसे हो हिलाता, पद्म पत्र सा पल में
छोड़ता सा जैसे फुफकार साँस का बली
आँखों में लहर लिए बोला कर्ण सेनानी,
'कुरुराज! राजनीति और जहाँ रण में
अबला प्रबला हो बनी-----''

''नरसिंह तुमने''
बोला धीर स्वर में सुशासन, ''अभी कहा
नारी शक्ति रूपिणी है धर्म की पताका है
शूरों में समर्थ शूर होते जिस अंक में
और जाने क्या क्या अभी तुमने सुनाया है
नारी गरिमा का नद सूखता है अब क्यों?
रोष से दहक रही आँखें, साँस रोष में
वेगमयी कैसे बनीं, अधम अधीर हैं।
भौहें तनीं तीर सी बरोनियाँ तनीं हैं ये
रोष किस हेतु? अबला के शब्द नीर से
पाते कभी नेह कभी करुणा उपेक्षा हैं।
विश्वविजयी हे वृष! देखो यही नारी है
महिमामयी जो और मायामयी भी जो है
पुण्यमयी इसको बनाओ या कि पाप की
क्रीड़ाभूमि अवगुण की खानि इस नारी को
चाहे पद जो दो पर क्रोध तो करो नहीं।

प्रस्तुत हूँ बन्धु मैं निदेश सभी लेने को
जो कुछ कहोगे सिर आँखों से उठाऊँगा
अनुचर रहूँगा मैं तुम्हारा सदा पत्नी ने
बन प्रगल्भ जो कहा है क्षमा माँगूगा
उसके के लिए भी। सुनो, सिन्धु ज्यों प्रलय में
क्षुब्ध हो रहा है कुरुक्षेत्र शंख ध्वनि से
अम्बर अनस्थिर है अरिदल मत्त हो
हर्षनाद देखो वह दारुण सुनाता है।
और हत भाग्य हम कामिनी के स्वप्न के
जाल में बँधे से हत् पौरुष बने हैं जो,
टल रही बेला यह रण की अभागा मैं
कारण बना हूँ कुरुजन के विकर्ष का।
कुसुमित बल्लरी है नारी भय, मोह के
माया, अविवेक, अपवाद के सुमन जो
उसमें खिले हैं।''

कुरुराज तभी बोला यों
''वसुसेन आओ चलें छोड़ो इस चिन्ता को
निर्णय करेंगे आप दम्पति समर में
जाना या न जाना आज अनुज यशस्वी को।
राजमहिषी भी जब हार थकीं रोक के
करुणा-दया की मूर्ति आप ही बनी हैं जो
प्राण काँपता है देख चन्द्रानन जिनका।
लक्ष्मण तनय जब डूबा रण-सिन्धु में
फिर भी न नीर बहा मित्र! जिन आँखों से
रो रही वही हैं। शुभ कामना में जिसकी
मन का मनोरथ सुनाया अभी मैंने है

सेनापति पद से निदेश।''

हतप्रभ सा
बोला वसुसेन 'कुरुरत्न अनुचर क्या
स्वामी को निदेश कहो देगा किस बल से।
रोष में अभी जो जला लज्जित उसी से हूँ।
क्रोध मुझे आया बन्धु! अनुज बधू ने जो
पार्थ जननी का नाम निन्दा अपयश की
मुद्रा में लिया था, क्या कहूँ मैं किस हेतु से
सह न सका मैं अपमान वीर माता का
वीर सहते नहीं तुम भी सहोगे क्या?
फिर भी अबला के शब्द कारण हों रोष के
मेरे लिए तब तो अधम, वीर धर्म से
पतित, अभागा भार भू का मुझे होना है।
सूझता नहीं है पथ कोई क्या कहूँगा मैं
दैव की विडम्बना में मन रमता नहीं।
भेजो या न भेजो रण-भूमि में अनुज को
कालपृष्ठ छूटता नहीं है इस कर से
जब तक सदेह काल आये आप रण में
उसका निवारण करुँगा। भय प्राण का
होता नहीं मुझको अभय जो अजेय है
मंत्र जानता हूँ यही। सोचो सुशासन को
रोकूँ यदि आज रण से मैं बन्धु भय से
फिर किस साहस से गाण्डीव धारी के
सामने भी रण में टिकूँगा। दैव गति को
मानता नहीं मैं पुरुषार्थ बल मेरा है।

राजरानी भानुमती रोकें तुम रोक लो
रोके सती वासन्ती।''

अधीर वीर पल में
मन की तरंगों के समान पग डाल के
आगे बढ़ा और जब शिविर निवेश के
बाहर हुआ जो गुरुपुत्र रुद्र दूसरा
वक्री ग्रह किंवा वक्र रेखा में त्रिपुण्ड की
बोला, ''वसुसेन! अरिदल रणभूमि में
सिंहनाद करके हिलाता धरा-व्योम है।
एक संग होती शंख ध्वनि वैरियों की जो
अम्बर को भेद के दिगन्त को हिलाती है।
चर ने कहा है कि अभी दानव महाबली
वज्र देहधारी भीमसेन सुत रण में
पाण्डवों के पक्ष में चला है तुम्हें रोकने।
सुनते हैं वज्र से कठोर अंग जिसके
दीर्घ देह मेरु श्रृंग जैसे गतिशील हों
किंवा मंदराचल समाया हो समर के
सिन्धु में कि अन्तक शरीर धरे आया हो।
काँपते हैं वीर जिसे देख पद चाप से
काँपती धरा है कहो कैसे!''

मोद मग्न हो
हँस कर बोला बली, ''निर्भय कृपा से हूँ
विप्र! मैं तुम्हारी। काल रसना त्रिपुण्ड में

किंवा रुद्र अंश भासमान आज होता है।
भास्कर से देख तुम्हें सामने समर में
दानव तमीचर क्या युद्ध रत होवेगा?
और यह दानव तनय भीमसेन का
अब तक छिपा था कहाँ मानवी प्रणय से
तृप्ति नहीं पूरी मिली जब वृकोदर को
होकर विवश उस भोजन सुभट ने
निज अनुरूप किया दानवी वरण था
कब? वह कैसी दानवी है, कहाँ जिसको
देखा उसे सत्य ही कहीं हो यदि तब तो
दुर्गम अरण्य या कि गिरि कन्दरा में हो
जाऊँ और देखूँ उसे किस गुण, शील से
रूप से कि मोहन से मानव को उसने
मोहित किया था यह तत्व जानने का है।
और कहीं मोहित करे जो यदि तुम को
तब फिर बनेगा कहो कैसे?''

हँसा कह के गुरुपुत्र।
बोला वसुसेन, ''गुरुपुत्र भीमसेन सा
तृषित रहा मैं नहीं नारी नेह रस का।
रहता भी कैसे बली एक नारी व्रत से
पाँच पति भागी थे समान जब जिसमें।''
मन्द मुसकान अधरों में लसी, आँखों में
दीप्ति बढ़ी शीश डोला बोला बली निष्ठा में
''एक पत्नी व्रत के व्रती जो वीर जन हैं
वीर धर्म अविचल उन्हीं का रहा जग में।

वे ही ब्रह्मचारी रहे ब्रह्मचर्य महिमा
उनसे अडिग रही लोकमत है यही।
कहते सुधी जन यही हैं, गति शास्त्र की
मिलती सदा है लोक साधना से, शास्त्र के
विप्र अधिकारी तुम शस्त्र बल से बली
शास्त्र क्या रहे हैं नहीं ?''

बोला द्रोणि हर्ष से
गद्गद गम्भीर ध्वनि गूँजी कण्ठ तल में
''शास्त्र और शस्त्र के समान अधिकारी हो
वसुसेन! गौरव हो देते मुझे व्यर्थ ही
विप्र जन्म से मैं पर क्षत्रिय हूँ कर्म से
मानता हूँ मैं भी शास्त्र बल समुदाय का
जाति का कि राष्ट्र का बचाता शस्त्र बल है।
शस्त्र हीन धरती के भार बन जग में
जीवन धरते हैं शास्त्र धर्म मिट जाता है।
शास्त्र हीन शस्त्र अधिकारी हिंस जन्तु है
वैसे ही यशोधन हे! शास्त्र अधिकारी जो
शस्त्र से विरत जीव धर्म से विरत हैं।
शस्त्र और शास्त्र के समान अधिकारी जो
देव योनि पाते राग जिनका विराग हो
लोक अनुरंजक बना है चिरकाल से।''

हँस कर बोला बली, ''कैसे भीमसेन के
दानव तनय से हो चिन्ता तुम्हें रण में
हिंस्र जीव मिलते रहे क्या नहीं हमको

क्या पर्वतों में केलि कौतुक में उनका
करते निवारण रहे क्या नहीं हम हैं?
हर्षनाद शत्रु करते हैं जिस बल से
दानव तनय भीमसेन का कभी जिसे
देखा नहीं आँखों से न नाम जिसका सुना
छल तो नहीं है कहीं कोई कहो इस में?
समर- समुद्र में विपक्षी शस्त्र बल से
पार जब पाते नहीं बार बार छल का
सेतु रचते हैं। देवव्रत, द्रोण गुरु भी
लक्ष्य जिसके हैं बने फिर कब मुझसे
रण में समर नीति मान के चलेंगे वे।
साधन की चिन्ता नहीं लक्ष्य में विजय के
जिनके लिए है। सुधी कृष्ण धर्म नीति का
अर्थ अनुकूल अपने हैं सदा करते।
कौन जाने आज यह जाल हो रचा गया
धर्म और नीति विपरीत स्वार्थ हित में।
मन्द गति में भी उत्कर्षहीन रिपु का
होता जब काल क्रम से है पुष्ट फिर तो
दुर्निवार होता है कि जैसे अवहेला से
सम साध्य विषम असाध्य रोग होता है।
सूखे पत्र जाल का अनल वनराजि को
भस्म करता है दव ज्वाला घेर लेती है
जलता अरण्य जलता है व्योम तल भी
पक्षी जलते हैं जहाँ गिरते धरा में है।
दानव तनय भीमसेन का समर में
करने निवारण चला है मुझे फिर भी
कृष्ण से बचा जो विप्र उससे बचूँगा मैं।"

कण्ठ को झुका के ओठ दाँतों तले दाब के रोकता हँसी हो यथा सिहरन अंगों में डोली। वक्र भृकुटी, अधर, नेत्र वक्री थे। दूर रणभूमि को चले ज्यों पशु पंखों में आया तभी कुरुराज बोला,

"सुशासन को रोक नहीं पाया बन्धु ! भाग्य में बदा हो जो डूबी मति मेरी अबला के नेत्र जल में याचना को, आग्रह को अनुज बधू की मैं रोक नहीं पाया।" वसुसेन हँसने लगा बोला, "नेत्र नीर दुर्निवार सदा नारी का जग में रहा है सुधी डूबे बन्धु ! जिसमें दोष क्या तुम्हारा सृष्टि मोह कब टूटा है? फिर भी तो होंगी राजमहिषी विषाद में !

बाहों में समेट उसे उच्च हास करके बोला कुरुराज, "बन्धु ! द्रवित बनी वही देख कर दारुण विषाद देवरानी का और जब वे ही वीर साज सुशासन का सजाने लगी हैं। महामाय यथा आप ही सज्जित करती हो शक्तिधर को समर में असुर विजय हेतु।"

उत्फुल्ल आँखों से
हर्ष के समुद्र में निमाज्जित विवश ज्यों
आनन्दाश्रु छाये नयनों में ज्यों अधर से
अमिय लहर चली बोला बली, "धन्य हो
बन्धु तुम वासन्ती सती है धन्य महिषी
भानुमती देवी है कि अनुचर के मार्ग की
गति अभी शेष है बचाया जो अपयश से
निर्भय समर में विपक्षी जिसे देख के
भूलेंगे समर की कला को और धर्म को।
कालपृष्ठ देखो इस कर में बना है जो
काल भी समीप नहीं आयेगा अनुज के।"

देखा एक दृष्टि रणभूमि यथा आँखों से
आयु पी रहा हो वैरियों की। शंख ओठों से
वीर ने लगाया ध्वनि फूटी भीम रव में।
डूबी धरा, डूबी रणभूमि ज्यों प्रलय में
सागर चला हो चली सेना, यमराज का
किंवा परिवार चला डोली भूमि भय से।

शंख नाद दारुण दिगन्त को हिलाता सा
होने लगा दोनों दल में जो धीर व्योम भी
जैसे हो अधीर बार बार प्रतिध्वनि में
आर्तनाद करने लगा, हो सृष्टि नाश में।

सातवाँ सर्ग

दीप्त हो रहा है जग दिनकर किरण से।
नभ से मरीचिमाली जैसे नर लोक में--
कर्म की, विजय, ओज, विभव, विभूति की
जय और श्री की निधिराजि रश्मिराजि के
रूप में गिरा रहा है। कर्म-द्वन्द्व भव में
व्याप्त हुआ। प्रतिरोध फैला जीव तल में।
सोष्म मन सोष्म तन जीव धरातल के
जीव-धर्म में हो रत लोक द्वन्द्व-रत हैं।
जीव-धर्म धारण करते भी अविवेकी जो,
बनते विरत लोक-द्वन्द्व से जगत का,
संघर्ष मेटने का दंभ दिखलाते हैं,
भार वे धरा के, जीव-धर्म से विरत हो
बनते प्रगल्भ शब्द-योजना में भव। के
भ्रम वे अभागे, सृष्टि धर्म मेट देते हैं,
संस्कृति मिटाते वही, धर्म भी मिटाते हैं,
जीवन के नद के दुरंत नक्र हाय रे
गति अवरोध करते हैं, जीव गति की।
छिप कर अहेर करते जो कविवाणी में
शक्ति कहाँ उनकी दिखायें जो विडम्बना ?

क्रौंच-वध कारण बना था आदि कवि के
काव्य का कि जब नर व्याध ने चलाया था
छिप कर बाण, प्राणहीन क्रौंच भूमि में
क्रौंच से विलग जा पड़ा था, कवि मन की

करुणा - कुहुक उठी। नरसिंह राम के
पौरुष से आहा ! जली लंका तब सोने की।
दैत्य दंभ धूल में मिला था। मिल जाएगा
धूलि में जगा जो आज। देश - धर्म देश को
फिर से मिलेगा। अग्नि धर्म की जलेगी जो
पौरुष की लपटें जगेंगी जन्म भूमि की,
व्याध - वृत्ति उसमें जलेगी और उसमें
वंचक जो देश के जलेंगे। पुरावृत्त में
देवता बने जो आज दैत्य कोटि पावेंगे।
आत्महीनता को आत्मत्याग कहते हैं जो
धर्म और कर्म की पहेली बने धर्म से
और कर्म से भी दूर भ्रम - जाल खोल के
जन्मभूमि जननी को करते विवश हैं।
कर्म - विरत जो विरत जीव - धर्म से
लोक और देश - धर्म - हीन सृष्टि दूसरी
रचने चले हैं।

इस भारत समर में
कवि चाहता है संग आयें चले उसके
देखें जीव धर्म, यह भारत - वसुन्धरा
समरस बनी है. जहाँ राग और रण में
कायर जो कर्म और वाणी के बली हैं जो,
पथ भ्रष्ट हैं जो पथ पायें--

कुरुभूमि में
प्रलय पयोदधि मिले हों तट भूमि को

तोड़कर किंवा पुष्कारावर्तक मेघ हों
वातचक्र में ज्यों पड़े बार-बार लड़ते
कौंधती हो रह रह के दामिनी प्रलय की
घर्षण में जिनके दिगंत अग्नि जाल में
आवृत बना हो। विपरीत गतिवाले दो
नद या कि पर्वत भिड़े हों ज्यों,
कुरु-पाण्डवों की मिली वाहिनी, समुद्र से
सिन्धु और ब्रह्मपुत्र जैसे मिले बढ़ के।
भूमि-कंप में ज्यों भूमि डोली रण-वाद्य से
भेरी, शंख ध्वनि से गयन्द, हय नाद से
रथ चक्र घर-घर निनाद में दिगंत ज्यों
बधिर बना हो। घटा सावन की नभ में
फैली धूलि धारा बढ़ी रवि के मिटाने को।
मेदिनी तुरंगों से, दिशायें कुंजरों से ज्यों
लुप्त हुईं, आवृत था व्योम केतु पट से,
जय जयकारी शब्द जैसे प्रतिपक्ष के
भेद को मिटा के चले लोक के मिटाने को।
झंझा वेग में ज्यों सिन्धु घोर रव करके
बढ़ता है, ताल सी तरंगें भूमि तल को
बोर कर आगे बढ़ती हैं। क्रम-क्रम से
मत्त गजराजि बढ़ी जैसे घनराजि हो
ध्वनि करती सी, यथा पावस गगन में
चपला चमकती अनेक एक संग हों।
दंत मद दंति के चमक कर आँखों की
ज्योति हर लेते धरा जैसे अन्धकार में
हो रही विलीन हीन मेघ-ध्वनि होती है
गहन गंभीर रण-वाद्य बजते हैं जो।

कोलाहल पूर्ण रण - भूमि जलनिधि - सी
अगम बनी है। अब पक्ष या विपक्ष भी
सूझता नहीं है वीर जैसे नृत्य - रत हैं।
तोमर, परशु, पाश, परिघ, प्रचण्ड में
शूल, भिन्दिपाल, असि, दंड, गदाधर के
देह रण - लीला में रमे है। यमलोक की
भूति को बढ़ाते ज्यों बढ़ाते वीर भूति हैं।
गज घंट बजते विजय - ध्वनि जिनसे
निकल रही हैं। शंख - ध्वनि व्योम वक्ष को
चीर कर पार जा रही है भव लोक के।
दुन्दुभि निनाद डमरू की काल - ध्वनि में
मुग्ध वीर जैसे फणिधर मुग्ध होता है।
नाद से विवश कालनाग नाचता है ज्यों
नाचते से वीर बढ़े। धरती विवर्ण हो
धूलि - सी बनी है। कहीं धूमिल कपिल है-
गेरु पूर्ण - सी है, कहीं और कहीं सिन्धु के
झाग सी बनी है, श्वेत जैसे वीर जन के
मन की चली हैं कामनाएँ भूमि तल को
छोड़ कर ऊपर सजाने देव लोक को।

जय या पराजय का भाव प्रतिपक्ष के
भूलकर वीर महादोला रण में लगे
दंपति मिले हों यथा जैसे अंग - अंग से,
वैसे मिलीं वाहिनी विपक्ष की। पदाति से
आतुर पदाति मिले ऊँची बढ़ी नभ में
तिरछी पताका क्षणदा या अग्नि ज्वाला सी

लहक रही थी असि धार बाहु ध्वज में
चंचल तुरंग जुटे जाकर तुरंगों से
मदधार अविरल बहाते गिरि शृंग से,
किंवा मेघ खंड से गयन्द बढ़-बढ़ के
कुम्भ से अड़ा के कुम्भ घोर रव कर के
लड़ते हों जैसे मेघ दल लड़ने लगे।
कार्मुक टंकार का शंख ध्वनि करके
रथियों की ओर रथी वायु वेग में बढ़े।
रथ चक्र घूमे घोर दीप्त रवि चक्र से
अनल स्फुलिंग उड़े दहकीं दिशायें ज्यों,
स्वर्ण-पुंख बाण चले अग्नि मेघ नभ से
अग्नि बरसा रहे हों, पक्षधर नाग हों
विष छोड़ते, ज्यों उड़ते हों नभ तल में,
पावस घटा में कौंधती हो यथा चंचला।

उद्भासित शस्त्र हो रहे हैं, वीरकण्ठों का
सिंहनाद दारुण कँपाता धरा व्योम है।
बैरी लड़ते हैं ललकारते हुये कभी
और कभी अट्टहास करते, विरोध में
काटते अधर कभी जल कर रोष में।
कंटकित होते रोम पुलक-अधीर हो।
लक्ष्य साधने में कभी। शस्त्र जब शस्त्रों से
लगते हैं जाकर, चिनगारी फूट आँखों में
जैसे है समाती नेत्र आप मुँद जाते हैं।
काटा किसी वीर ने कवच प्रतिद्वन्द्वी का
तीक्ष्ण असि-धार से, चली जो धार रक्त की

वारिद में जैसे हँसी दामिनी। गयन्द के
कुम्भ पर कुन्त जब मारा रथारोही ने
रक्त धारा नीचे चली मन्दर शिखर से
जैसे चली गेरु-धार मद-धार जिसमें
मिल कर धारा की धूलि कीच करने लगी।
घूमा था वराह आदि जैसे सिन्धु-तल में
दुर्निवार चक्र-गति में हो धरा धरने,
घूम रहे कुंजर अनेक उसी गति में
दुर्निवार निर्भय समर-भूमि में हैं ये;
आस्तरण पीठ में लगे हैं अभी जिनके,
छत्र और आसन सभी हैं यथा विधि से।
किन्तु मरे वीर-जन बैठे जो कि इनमें
रण-केलि को थे। गिरे गज-पाल शीश से
खोजते से जैसे उन्हें घूमते गयन्द हैं
स्वामि-भक्त सेवक से। जैसे रण-भूमि में
आर्त-नाद घोर करते जो रह-रह के
जैसे हों बुलाते उन्हें सूँड़ व्योम-तल में
वेग से हिलाते काल देह धरे जैसे हों।
धरती धँसाते काल-प्रेरित जो सामने,
पड़ता जहाँ है उसे चीर कर सूँड़ से
पैर से दबा के फेंका देते नभ-तल में।
मन्दर अनेक एक संग मथते हों ज्यों
संगर-समुद्र को।

अगम रण-सिन्धु है
कायरों के हेतु। वीर उत्सव मनाते हैं

मर कर मार कर। दोनों में सुगम है
पार कर जाना जिन्हें संगर समुद्र का।
करते परस्पर जो मद-दन्ति दन्त का
घर्षण बढ़ाते जब अंकुश से मार के
गज-पाल वक्री गज कुम्भ से भिड़ाते हैं
कुम्भ। तड़-तड़ ध्वनि होती कुम्भ फूटते
दन्त टूटते हैं, अग्नि फूटती है जिनसे।
स्वर्ण-रेणु उड़ती है चारों ओर व्योम में।
क्रोध और वैर बना वायु जिसके वेग में
घर्षण मचे ज्यों वृक्षराजि में निमेष में।
फूटे दव-ज्वाला दन्त-घर्षण में दन्ति के।
अग्नि-ज्वाला फूट कर, एरे रण-भूमि को
दग्ध करती है। मेघवर्ण दन्ति दल में
टूटे दाँत रक्त फेंकते हैं, सिन्धु-जल में
अंकुरित होते यथा पिंड हैं प्रवाल के।

क्षुब्ध महागज ने उठाया यह दाँतों से
प्रतिद्वन्द्वी गज को उछाल फेंका नभ में,
तब तक चलायी गदा दारुण विपक्षी ने
टूटा छत्र आस्तरण टूटा, वीर उसमें
बैठा, उसी घात मे धरा में लोटने लगा।
मेदिनी को और वीर-दल को कुचलता
उन्मत्त गजराज भागा क्रुद्ध काल-सा
सूँड़ में लपेट कहीं फेंका अश्वरोही को
चूर-चूर ध्वस्त एक साथ रथ-राजि को
करता जो आगे बढ़ा, त्राहि त्राहि रण में

होने लगी वीर जो निकट प्रतिपक्ष के
भूल कर परस्पर का वैर एक साथ ही
समवेत मारने लगे जो उसे शस्त्रों से,
कुन्त और भल्ल बाण चारों ओर से चले
वेधने गयन्द लगे जैसे गिरि-श्रृंग में।
करते प्रवेश हों उरग फुफकारते।
गति अवरुद्ध हुई गज की उछाल के
सूँड और घोर आर्तनाद कर भूमि में
आहत करेणु गिरा जैसे धँसी धरती।

अर्धचन्द्र बाण से किसी ने प्रतिपक्षी का
शीश यह काटा अभी, राहु ज्यों गगन में
उड़ता है, दाँतों तले ओठ दाब क्रोध में।
किंवा यह फूला हुआ पद्म उड़ा जाता है,
मुक्ता-राजि जिसमें पड़ी हैं और रण में
केतु-सा कबन्ध नाचता है असि धर के
भागते हैं वीर, भयभीत काल-रसना
लप्लप् करती है, यथा काल-असि वैसे ही
डोलती कबन्ध-कर में है, यन्त्र गति में
काटती है पाती जिसे। रण-वाद्य ध्वनि में
नाचता कबन्ध हस्तभंगी करता हुआ
रण-राग भाव और अर्थ व्यक्त करते
दोनों हाथ जैसे हिलते हैं, पद-ताल का
निर्णय करते हैं, यथा विस्मय में भय में
देखते हैं वीर, शंख ध्वनि कण्ठ ध्वनि से
हँसते कभी हैं। फिर रण में प्रवृत्त हो

बनते अनृण भोग जीवन का भोगते।

चन्द्र के समान श्वेत छत्र दंड भग्न हो
उलट गिरे हैं या कि पात्र हैं रजत के,
यम-नगरी में यमराज के अशन के।
मुक्ताहार भूमि में पड़े हैं वीर-कण्ठ के
स्वर्ण और रत्नामय रक्त में सने हुये।
किंवा विकराल हँसी अन्तक की रण में
चारों ओर फैली दन्त किरणों सी यम की
किरणें लसी हैं जहाँ। रक्त समवेत हो,
बढ़ रहा है धरा में क्षत-विक्षत गयन्दों का
नरपुंगवों की द्रुतगामी वाजिराजिका,
रंग ज्यों कुसुम का गिरा हो यम धाम में।
उत्तरीय यम के रंगे हों गये जिसमें।

रण की तरंगें बनी नद की तरंगें हैं।
फुल्ल पद्म आनन बने हैं वीर जन के।
श्वेत केतु चामर ज्यों पक्षधर हंस हैं।
ध्वज, दंड, कुन्त भल्ल उरग मकर ज्यों।
असि-ग्राहिणी हैं बनी कच्छप। गयन्द जो
पर्वत के खंड पड़े भिन्न-भिन्न जाति के।
केयूर, अंगद, वलय, कण्ठ तल के
हार और कुण्डल बने हैं मीन जिसमें
शैवाल-जाल पट वीरों के गिरे हैं जो।
दुर्निवार रक्तनद जैसे धरा बोरने
बहने लगा है। मांस-भोजी पक्षिगण हैं

पंख खोल अम्बर में देखते समर की
लालसा में भूमि या कि प्राण मरे वीरों के।
राग - मोह में ज्यों पड़े देखते अभी हैं ये।
शस्त्र - छिन्न देह जो कि छोड़ अभी आये हैं।

पक्षधर बाण चलते हैं महावीरों के
सारंग मण्डल से वैसे ही गगन के
मण्डल से पक्षी टूटते हैं रण भूमि में।
पत्रिकों से जैसे पटी धरती दिगंत भी,
जिनसे पटा है रक्त गन्ध मय वायु को
पी के महावीर उन्मत्त मत्त गज से,
निर्भय समर में निरत रह - रह के
सिंह - ध्वनि करते हैं। कभी हैं ललकार के
और कभी अट्टहास कर प्रतिपक्षी का
स्वागत करते जो। शस्त्र घात बढ़ - बढ़ के
लेते और देते कभी वैरी रण भूमि में
डूबे रण - रंग में कि भूलें देह सुधि हैं।
जीवन की लालसा है छुटी - क्रोध छूटा है।
रोष - मुद्रा आनन से छुटी मनमोद के
सीमाहीन सागर में जैसे पड़े इनके।
दोनों दल रणधीर वीर धर्म धर के
रण में लगे हैं या कि कौतुक निरत हैं।
मार - मार धर - धर शब्द वीर भूल के
धन्य - धन्य कहने लगे हैं। ध्वनि जिसकी
फैली सब ओर भूमि नभ में दिगंत में
नाचते हैं रुण्ड कहीं मुँड कहीं हँसते

रणधीर घायल ज्यों किंशुक के तरु हैं
कुसमित कि ऋतुराज साज नया सजता।
आँधी चलने से हिलती है ज्यों वनस्थली,
वृक्ष झुकते हैं, तरु शाखा झुक-झुक के
मिलती परस्पर है जैसे, दल दोनों ही
एक में गुथे से इस अद्‌भुत समर में
एक हो रहे हैं।

कुरुराज रणसिन्धु के
तट पर खड़ा हो पूजता है गुरुपुत्र को।
पूजा करता है जिस भाँति देवगुरु की
देवपति देवासुर रण में। विजय का
फल जो कि लेना चाहता है वेदविधि से।
वासव चढ़ा हो यथा भीम मेघ रथ में
हाथ धर धनपति का वैसे चढ़ा रथ में
द्रौणि वसुसेन के सहारे। और हाथ में
दारुण पिनाक फेरता ज्यों लगा कहने--
"सेनापति! लेकर निदेश आज रण में
जा रहा हूँ तुमसे। मनस्वी! यश मुझको
तुमने दिया जो बने अनुवर्ती मेरे हो
स्वेच्छा से। प्रतिष्ठित हो सेनापति-पद पै।
फिर भी विनय और शील के समुद्र हे!
मान मुझे देने के लिए ही कुरुराज से
पूजित कराया अभी तुमने मुझे जो है
पूज कर आप भी जो मुझको शपथ है
मित्र! यह देखो इस अजित धनुष की।

युद्ध करा वैरियों को आज मैं दिखाऊँगा।
पद्मासन मारे ध्यान - मग्न पितृ - देव का
शीश जिस दस्यु ने था काटा कल सन्ध्या को
केश धर शीश का मैं उसको घसीटूँगा
आज रण - भूमि में। दया जो विप्र मन में
रहती, सहज जो न आये कहीं मन में
तब तो करूँगा वध आज मैं नृशंस का।
धरती का भार मेट तर्पण मैं रक्त से
उसके, करूँगा पूज्य पाद का। नियम जो
माना वैरियों ने कहीं द्वन्द्व युद्ध मुझको
करने दिया जो उस अधम शरीरी से।''

''मानते विपक्षी कब रण के नियम हैं।''
मन्द हास्य - रंजित अधर अंगपति के
फरके। कहा, ''जो रणधीर ने उपेक्षा में
और घृणा वेग रोकता सा देवव्रत को
रण में गिराया नारिवेशी शिखंडी की जो
आड़ में था, मारा जयद्रथ को
निशा जहाँ दिन की बनाई गई।
कृष्ण की प्रगल्भता नियम बनी है जहाँ।
धर्म - नीति सरिता के सूखे सब स्रोत है
संभव असंभव वहाँ क्या? राजनीति में
धर्म और नीति की परम्परा चली कहाँ?
विजय अभीष्ट मिले धर्म या अधर्म से,
नीति या अनीति से यही तो कृष्ण कहते।
आँख मूँद पाण्डव हैं मानते जिसे सदा।

देश, जाति, धर्म और नीति की परम्परा
कौरवों के पक्ष में बनी है। पाण्डवों को तो
स्वार्थ - सिद्धि चाहिए, मिले जो किसी विधि से।
रण - नीति मानें हम वैरी उसे तोड़ के
त्रिभुवन का राज्य क्यों न पायें हमें चिन्ता क्या?'
मौन हुआ वीर, चढ़ा रथ पर, हाथों में
कालपृष्ठ लेकर चढ़ा कर प्रत्यञ्चा को
टंकारित धनुष किया जो रण धीर ने,
पवि पात जैसे हुआ बधिर बने सभी।
काँपा व्योम, डोली भूमि। रथ घोर रव से
दोनों के चले जो, रथ - चक्रों से अनल की
दीप्ति चली, जैसे रवि - चक्र चले नभ में
उद्‌भासित करते दिशाएँ दव - ज्वाला ज्यों
फूट कर जैसे बढ़ी वन में, कि सिन्धु में
बाड़व अनल चला सागर - उदर में
लहकी शिखाएँ।

भीमसेन, सहोदर ज्यों
रण में कृतान्त का चला हो चला वेग से।
भीषण गदा को जो घुमाता नभ तल में।
दारुण गयन्द पर मन्दर अचल ज्यों
रण में चला हो रवि ऊपर हो जिसके।
नक्षत्र मण्डल लिये ज्यों व्योम तल हो
उद्‌भासित कवच दिखायी पड़ा वीर का।
देख उसे दूर से यशस्वी क्षेमधूर्ति से
प्रेरित करेणु को बढ़ाया गज पाल ने।

वृद्ध सिंह जैसे बढ़ा देख मत्त गज को
बोला भीमसेन --'क्षेमधूर्ति तुम वृद्ध हो।
समय तुम्हारा यह वानप्रस्थ लेने का
व्यर्थ रोकते हो, मुझे जाओ तुम्हें छोड़ता
आज भीमसेन है। समर में विपक्षी को
सामने से जाने नहीं जिसने दिया कभी।''

क्षेमधूर्ति बोला हँसकर शुभ्रमेघ में
जैसे हँसी चंचला -- 'वृकोदर! प्रगल्भता
तुमसे छुड़ाती निज धर्म! मुझे सामने
पाकर भी छोड़ते हो कैसे? जब तुमने
सामने से जाने नहीं वैरी को दिया कभी।
धिक्! वह धर्म जो कि छूटे दया वश हो।
धर्मधीर तुमको बनाना है मुझे यहाँ
दैव ने दिया जो यहाँ योग आज रण का।
छोड़ इसे वानप्रस्थ, स्वर्ग, अपवर्ग क्या
लेना कभी चाहूँगा! समर-तीर्थ से बड़ा
अन्य तीर्थ तुमने सुना है कहाँ बोलो तो?
छोटे मुँह बात बड़ी करते बली नहीं।
और नहीं होती बड़ी बुद्धि बड़ी देह में।
भोजन के भट! तुम नीति और धर्म के
भट कब से हो बने? सम्मुख समर में
मर कर मनीषी सदा जाते रवि-लोक में
रवि-तेज में ही तेज जिनका समाता है।
इतना सुना जो नहीं वीर बने कैसे हो?
रण-धीर धर्म तुम अज्ञ मुझसे सुनो।

गुरुमंत्र मानो इसे जब तक रण का
अवसर तुम्हें हो परिव्रज्या मोह में कभी
भूल के न आना, रण - तीर्थ में शरीर को
बोर कर जाना रवि - लोक। स्वर्ग - मोक्ष की
कामना तो वृत्ति है वणिक की कहूँ मैं क्या ?
अब और सूझता नहीं हैं कुछ मुझको।
विश्व जा रहा हैं महाकाल के उदर में।''

दाँतों तले अधर दबा के रोष - ज्वाला में
दग्ध भीमसेन ज्यों कुपित काल वेग में,
तेज - पुंज तोमर चलाने लगा हँस के,
क्षेमधूर्ति ने भी तोमरों से व्योम तल को
पाटा। ढके वीर तोमरों में, गज दोनों के
तोमरों से विद्ध भिड़े घोर रव करके।
पावस पयोद भिड़े एक संग जिनमें
बिजली अनेक हों समाती। धूमकेतु से
जैसे भरा अम्बर है तोमर - प्रकाश में।
गज कुम्भ और कर जैसे मिले दोनों ने
वज्र गदाघात से विदीर्ण कर कुम्भ को
प्रतिपक्षी गज को गिराया। वीर दोनों ही
नभ में घुमा के गदा आये भूमि तल में।
सिंह लड़े सिंह से कि गज गज से लड़े।
अंगों को समेट कभी विस्तारित करके
दायें और बायें कभी, बढ़कर सामने,
सिद्ध गदा - युद्ध जो दिखाया नरसिंहों ने,
रण रोक विस्मय में वीर प्रति पक्ष के

साधुवाद देने लगे। वृद्ध क्षेमधूर्ति की
गति पड़ी मन्द, साँस फूली, झपीं पलकें।
वज्र गदा पविपात जैसी पड़ी शीश पै।
चूर चूर शीश हुआ पिंड यथा काँसे का
फूटा। क्षेमधूर्ति प्राणहीन भूमि में गिरा।
तेज पुंज आनन से उठकर वीर से
जैसे रवि तेज में समाया। उन्मत्त सा
उच्चहास गूँजा भीमसेन का समर में।

हेमकूट शिखर समान भीम रथ में
बैठा महावीर। और सारथी विशोक से
बोला--"सखे! देखो कहाँ दम्भी वसुसेन है।
देखो किस कोने में समरयज्ञ वलि है।
पापी कुरुपति का अनुज कुरुपति भी
आज कहाँ व्यूह में छिपा है। चलो, उनको
मार कर आज बनें अऋण समर से।
द्रौपदी की वेणी को सुशासन के रक्त से
आज अभिषिक्त करना है बली वेग से
रथ को बढ़ाओ। रण-भूमि आज रक्त से
तृप्त होगी वैरी के कि मेरे रक्त पान से।
तुष्ट यह पुण्य भूमि होगी। बढ़ो, वेग से।"

चीर कर सागर को जैसे पार जाता है
मत्स्य महाराघव कि व्योम-पथ में हो ज्यों
रवि-रथ अबाध गति धारी, रथ वैसे ही
वेग में प्रभंजन के आगे बढ़ा। गिरि ज्यों

रोकता मरुत वेग तटभूमि सिन्धु की
गति रोकती है यथा रोका गुरुपुत्र ने
सिंह के समान भीमसेन मत्त गज को।
बोला--'अरे मन्दमति डींग मारने से क्या ?
वीर तू बनेगा वसुसेन के धनुष की
ज्या की ध्वनि से ही तू अचेत जब होता है।
जानता है तू भी क्या कहूँ मैं, नीच ! अब रे
बार बार करके पराजित समर में।
भग्न रथ, भग्नकेतु, शस्त्र- भग्न तुझको
केवल दया के वश मारा नहीं जिसने।
अब तक रे नीच मित्र दोष जिसे देते हैं
अरि पर कृपा की अपमान करता है रे !
उस उपकारी का कि मित्र की दया से ही
जीवित अभी है लाज छोड़ के अधम रे !
बोलता अनर्गल क्या रसना-पिनाक से
शब्द शर छोड़ के चला है रण जीतने।
भारवाही पशु हाथियों में और घोड़ों में
जोड़ के पदातिकों को खोज लड़ता नहीं।
दम्भ में चला है बार बार वसुसेन को
लोकजयी कालपृष्ठ-धारी को पुकारता।
फूँक से सुमेरु को उड़ायेगा कि जीभ से
सोख लेगा सागर को। बूढ़े क्षेमधूर्ति को
मार कर जैसे जग जीता हीन मति ने।

मन्द मुस्कान अधरों में गुरु पुत्र के
नाची फणिधर सा कुपित विष छोड़ता,

बोला--'भीमसेन ! सावधान विप्र फिर भी
बनते धनुर्धर हो दम्भी कहाँ तुम सा
दूसरा मिलेगा। तुम भूसूर हो जन्म से
कर्म से जो क्षत्रिय बनने की बढ़ी लालसा,
भिक्षा पात्र धारी शस्त्रधारी बनने लगे।
शस्त्र-महिमा थी तभी डूबी, पेट भरना
जानते जो विप्र और अधम उदर के
भरने के हेतु शीश करते विनत हैं।
द्वार-द्वार प्राण पोसने में शक्ति जिनकी
अब तक लगी है। भला कैसे उस प्राण का
मोह छोड़ अन्तक की लीला-भूमि रण में
धीर वे रहेंगें छोड़ ब्रह्म-वृत्ति, जिसने
सेवक की वृत्ति धरी ! वध उस विप्र का
धर्म-साधना है वध तेरा जो करूँगा मैं।''

नेत्र और भाल से चली हो अग्नि- ज्वाला ज्यों,
कंठ से चला हो रुद्र-रोष, कहने लगा
''गुरुपुत्र जानकर बनता अजान है
भिक्षा वृत्ति निन्द्या क्या नहीं हैं बनी कुल में
मेरे जोकि भिक्षुक तू मुझको बनाता है।
राज्य और सिंहासन दोनों शस्त्र बल से
छीना नहीं हमने क्या निन्दित दुप्रद से ?
जामात्रि जिसका बना तू, नहीं जानता ?
भूल भृगु राम को जो निन्दा विप्रकुल की
करता है निश्चय ही रवि को हथेली से
चाहता छिपाना। कार्तवीर्य की समर के

यज्ञ में दी आहुति थी जिसने परशु से,
क्षत्रिय कुल जग से मिटाया जिस धन्वी ने
बार-बार। वे ही बचे आये जो शरण में।
शरणागत वंश में जो जन्म तुमने लिया,
और विप्रकुल को बनाते परजीवी हो।
फिर भी मिटेगी नहीं कीर्ति भृगु पति की
वीरों में प्रथम रेख जिनकी कही गयी।
देखता नहीं है जो उलूक रवि तेज को
फिर भी तो रवि रहता है व्योम तल में।
करता प्रतिज्ञा या शपथ जो दुरन्त रे!
मेरे वध की। क्या कल शब्द-शस्त्र से नहीं
तेरे मैं मरा था। वह दम्भी, सत्यवादी जो
धर्मराज बनता है। तेरी बात सुन के
कारण बना क्या नहीं गुरुवध पाप का?
संभव है आज वह जीभ गिरी तेरी है!
दूसरी रची है गयी जिससे अभी हूँ मैं
जीवित रे अधम! धरा में जल क्या नहीं,
डूब जिसमें तू मरे। रक्तनद में अरे!
बोरूँगा अभी मैं तुझे। सावधान मन से
युद्ध कर मेरे संग वाणी बल छोड़ के।
शस्त्र-बल मुझको दिखा रे।''

धर हाथों में
एक साथ दोनों ने चढ़ाई ज्या धनुष की।
टंकारित चाप हुए। जैसे वज्रपात हो।

वारिद में किंवा जगी दामिनी दिगन्त को
जगमग करती सी। धरा डूबी घोर ध्वनि में।
भास्कर के मण्डल से दीप्त रथ दोनों के
अग्नि से मढ़े थे यथा। केतु हिले नभ में।
छिड़ गया दारुण समर रणधीरों का।
लड़ते परस्पर हैं सूर्य दो कि यम दो
किंवा रण रंग में लगे हैं रुद्र दोनों ये
चाहते मिटाना जीव-सृष्टि पल मात्र में।
कंक पत्र बाण चले दोनों के धनुष से
वारिधारा जैसे चली सिंह के पयोद से।
अन्धकार छाया रवि तेज मिटने लगा।
रण-भूमि जैसे थी अदृश्य। रथ दोनों के
बाणों की परिधि में छिपे। तभी द्रोणि ने
काटी ध्वजा अर्धचन्द्र शर से विपक्षी की।
कवच, किरीट, चाप काट कर पल में
रथवाजि मारे महावीर ने निमेष में।
भेद घनमाला रवि जैसे दीप्त होता है
वैसे हो प्रदीप्त गुरुपुत्र के विजय की
श्री से अंग-अंग हुये जैसे तेज किरणें
देह से निकलती हों। उग्रतर वायु में।

होता है अधीर वृक्ष जैसे हीन शाखा से
वैसे ही अधीर त्रस्त भीम सेन धर के
दारुण गदा, जो कूद रथ से कुपित ज्यों
सर्प चला। बोला विप्र हँसकर, "व्यर्थ ही
चाहते हो प्राण अब देना। किन्तु तुमको

मारकर यश क्या मिलेगा। जिसे लेने को
मारूँ तुम्हें। अर्जुन से पूछना, कि तुमको
मानते धनुर्धर हैं वे भी ? कुरुदल में
जानते सभी हैं धनुर्वेद हीन तुम हो।
और पूज्य पाद ने बचाया जिस धर्म को।
मारा नहीं पाण्डवों को शस्त्र हीन करके
छोड़ा उन्हें। छोड़ता तुम्हें हूँ गजदल में
जाओ। गदा - कौशल दिखाओ कला चाप की
रुकती गदा से नहीं।''

कुपित कृतान्त सा
काँपता अधीर भीमसेन यथा आँखों से
अग्नि शिखा फेंक बढ़ा ओठ धर दाँतों में--
''रोकता तुम्हारा अब पथ गुरुपुत्र है
देखो कहते हैं इसे चाप-कला।'' कह के
अंजलिक बाणों से बुनी ज्यों जाल वीर ने,
पथ अवरुद्ध बना विस्मित विवश - सा
भीमसेन देखने लगा। जो गदा हाथ की
कटकर दूर गिरी नालीक वाणों से।
कान तक खींच के धनुष गुरुपुत्र ने
छोड़े जब प्रस्वापन अभिमन्त्रित करके
खींचकर कार्मुक को। बोला बली --''अब मैं
गति- हीन करता तुम्हें हूँ। वायु वेग में
आ रहा कपिध्वज है, देखो कला रण की,
चाप की।, कला जो नहीं देखी अभी तुमने।
छोड़ा शर व्योम में ज्यों रेखा चली सोने की।

बाहु - मूल में जो लगा शीत के प्रभाव में
काँपा भीम मोहित धरा में लोटने लगा।
देवदत्त और पाञ्चजन्य ध्वनि साथ ही
छाई नभ - मण्डल में। उद्वेलित सिन्धु - सी
रण भूमि डोली। कपिध्वज रथ सामने
आया गुरु पुत्र के ज्यों उदयाचल आया हो।
जिस पर हों बैठे रवि मेघ एक साथ ही।

बोले कृष्ण-- ''गुरुपुत्र! तुम तो समर में
मानते सदा - धर्म रण का भला कहो
मारा फिर कैसे शस्त्रहीन भीमसेन को?''

हँसकर बोला द्रौणि--''कृष्ण, किस मुख से
कहते हो बात यह। नीति उपदेश में
केवल कुशल तुम। किन्तु आचरण में
क्या हो? जानते हो जानता है लोक, जग के
वीर जो, विधायक जो जानते सभी हैं वे।
ध्यान- मग्न शस्त्रहीन पद्मासन मारे जो
गुरुवध को नीति मानता है वही मुझको
नीति सिखलाता। नित्य हिंसारत रह के
हिंसक अहिंसा का सुनाता उपदेश है।
वासुदेव! धन्य तुम नीति भी तुम्हारी है
धन्य - धन्य! आओ कहो पूजूँ आज तुमको।
गतिहीन केवल किया है भीमसेन को
प्राण ले हथेली में चला था, जो कि मरने
शर जोकि भुज - मूल में हैं लगा उसके

खींचने से चेत उसे होगा।''

कूद रथ से
अर्जुन नें खींचा शर नींद से जगा हो ज्यों
जागा भीमसेन। उठा और कपिध्वज में
जाकर समाया।

गुरुपुत्र कहने लगा
''लौट अब जाओ वासुदेव! धनञ्जय से
युद्ध मैं करूँगा कभी। आज धृष्टद्युम्न से
चाहता हूँ द्वैरथ मैं युद्ध पितृघाती से।''
थर-थर काँपा बली जैसे धृष्टद्युम्न के
नाम से जली हो जीभ, आँखों से शिखा चली
स्वेद बिन्दु भाल पर छाये, गति साँस की
वेगवती होने लगी।

मन्द हास्य-रेखा से
रंजित-अधर कृष्ण बोले--''उपकृत हैं
विप्र! हम आज भीमसेन को जो तुमने
प्राणदान देकर निभाया निज धर्म है।
प्रति-उपकार यदि चाहो उपकार का
तो फिर धनञ्जय को दूर तुमसे करूँ।
किन्तु यदि तुम में मनोबल समर का
अब भी हो शेष और निष्ठा हो धनुष में।''
बोला सव्यासाची ''तब आओ और मुझको
रण से विमुख कर मारो धृष्टद्युम्न को।

प्रतिहिंसा पूरी करो विप्र! पितृ - घात की।
जीवित हूँ जब तक मैं कैसे धृष्टद्युम्न का
बाल भी करोगे कहो बाँका?''

रथ दूसरा
लेकर विशोक आया भीमसेन जिसमें
चढ़कर सम्हालने जो शस्त्र फिर से लगा,
बोले कृष्ण-- ''भीमसेन! अब गुरुपुत्र से
लड़ना नहीं है तुम्हें, जाओ कुरुराज का
वध करो किंवा!''

बोला द्रोणि -- ''इस भूमि को
हो सके तो जाकर उलट दो कि जिससे
निष्कण्टक राज भोग पायें पुत्र पांडु के।
प्रति उपकार जो मिला है देवव्रत को
मन्त्र से तुम्हारे, वासुदेव जानते ही हो।
और अभी कल उपकार से जो गुरु के
उऋण बने ये, उसे जानता जगत है।
जानते हो तुम भी विरक्त नीति धर्म से,
कर्मफल से भी, जो विरत तुम बनते।
सम्भव हैं भूले सब वंचना कपट हो।''
हँस पड़ा वीर। उग्रहास्य गुरुपुत्र का
मर्म भेदने हो लगा जैसे अरिदल का।

नयन तरेर पार्थ बोला-- ''विप्र निन्दा में
व्यंग्य कटु भाषण में पटु हो प्रकृति से।

रण यह तर्क या कि वाणी-बल से कहो
जीतोगे कि''

बोला द्रोणि -- ''अर्जुन ! समर की
दैव वश में है गति। निश्चय है तुमने
देवव्रत भीष्म को हराया नहीं शस्त्र से।
वाणी बल से क्या उस वंचक अधम ने
भृगुपति-से दूसरे यशस्वी वृद्ध गुरु को।
आती नहीं लज्जा तुम्हें, फिर भी तो व्यर्थ है
सुधि भी दिलाना। हीन कर्म जो कि तुमने
स्वार्थ-हित में है किये।''

घूमा ग्रहवक्री ज्यों
हाथ में उठाया महावीर ने धनुष को।
प्रत्यञ्चा खींच के चढ़ाई सुरधनु में
जैसे चढ़ी दामिनी दहक कर रोष में,
तीन बार टंकारित चाप कर शर की
बरसा सी वीर करने जो लगा। कृष्ण से
प्रेरित धनञ्जय ने प्रावृट पयोद का
रूप धरा, गाण्डीव घोष मेघ घोष है।
सुरधनु बना है धनु, ज्या है बनी दामिनी,
स्वर्ण पुंख बाण अविराम जलधारा सी
बरस रहे हैं। महामेघ लड़ते हैं ज्यों
भासमान दोनों वीर, जैसे ग्रहवक्री हों
पलकें तनी हैं चढ़ी भृकुटी ललाट से
तेज रश्मि जाल चलता है शर जाल सा।

शर छोड़ते हैं वीर वेग से कि जिसकी
गति देखने में नहीं आती कब बाण को
तरकस से खींच के लगाते हैं धनुष से।
और कब कान तक खींचते धनुष हैं।
मण्डल बने हैं धनुषों के या कि अग्नि के
मण्डल ये दोनों बने वारिद के तल में।
लीक बनती सी चलती है यथा अग्नि की
व्योम में अनेक एक संग शर दोनों के
करते प्रवेश नभ-मण्डल में कट के
गिरते समर में गयन्द अश्वराजि है
वीर गिरते हैं यथा घात क्षणदा का हो।
दुर्निवार हाहाकार चारों ओर फैला है।
वृष की तरणि या कि रुद्र ज्यों प्रलय के,
तेज पिण्ड किंवा गुरुपुत्र, क्रम-क्रम से
दीप्त रणभूमि में अकेला ज्यों अनेक हैं।
भागा अरिदल हो अधीर। कृष्ण पार्थ को
प्रेरित करने जो लगे विक्रम दिखाने को
योगीश्वर जैसे। लक्ष्य-निष्ठ गुरुपुत्र ने
बाँधा कृष्ण पार्थ के समेत कपि-ध्वज को।
किंवा रवि मण्डल घिरा हो मेघ दल में।
तेजोमय आनन था, अंग पुलकित थे।
बोला--"कृष्ण देखो यह जाता गुरुपुत्र हैं
दैवगति जानता नहीं जो पर अब तो
बाँधा नहीं, कोई अब द्रुपद तनय का
रक्तपान धरती करेगी।"

चक्र गति में
वेग में प्रभंजन के रथ गुरुपुत्र का
आगे बढ़ा। भागे प्रतिपक्षी पथ छोड़ के
पथ दिखलाते प्राण भय में पड़े यथा।
वैरी गतिहीन खड़े धरती निरेखते।
मृगपति प्रवेश करता हो मृगदल में
करि हो समाता कदली के या कि वन में।
रणधीर वैसी ही अबाध गति धर के
आगे बढ़ा सिंहनाद करता विजय का।
भागी अरि-सेना आर्तवाणी में अधीर हो।
अर्जुन को, भीम को, नकुल, सहदेव को
धर्मराज और धृष्टद्युम्न को पुकारती।
पाशपाणि अन्तक सा निर्भय समर में
मलयध्वज आगे बढ़ा और गुरुपुत्र को
रोका महावीर ने। ज्यों वेग को मरुत के
रोकता है गिरि शृंग।

रतनार आँखों से
रोष की लपट फेंक बोला द्रोणि, सिंह की
दारुण गुफा में कहाँ आता बाल मृग है?
निपट अशंक शठ, जानता नहीं मुझे,
हारा मुझे रोक के वृकोदर, किरीटी को
कृष्ण और सिद्धगति रथ कपिध्वज को
बाँधकर पीछे अभी आ रहा हूँ। मुझको
रोकने का साहस करता क्या? तुझे प्राण की
चिन्त नहीं? सुधिकर ले रे पिता-माता की।

कामिनी किशोरी के प्रणय की। सुधिकर ले
परिजन का प्रेम इसी आयु में भुलाता है।
जीवित रहेंगे प्रिय कैसे जब रण में
हत तू अभागा हा ! गिरेगा भूमि - तल में।
रति पति सा तेरा यह रूप वय देख के
आती मन में है दया दूर हट पथ से।
रति रंग वाली यह देह रणरंग में
बोरने चला है। अरे ! मूढ़ मति ! माता के
अंक में अभी है बाल - कामिनी के अंक में,
मोहक किशोर रेख भीनी नहीं जिसकी
कर्म सभी शेष नर जीवन के जिसके
रण में चला है हत होने'' ?

''नरसिंह का
कर्म सदा एक बस होता है समर में
मारे प्रतिपक्षी को समर धीर बन के।
और तब कामिनी के प्रेम का प्रणय का
राग और रस का उठाये भोग मोद से।
देखा नहीं विप्र ! तुमने क्या बालरवि को
कैसे वह काली रजनी को मिटा देता है ?
वय नहीं, तेज देखते हैं बली वीर का।
देखो अभी तुमको दिखाता वीर तेज हूँ।''

मलयध्वज बोला और पलभर द्रोणि भी
आँखों से लगा के आँख खींच के धनुष को
वीरासन मार कर बैठा। रथ तेज से

दीप्त हुआ। उदयाचल जैसे बालरवि से
होता है। प्रदीप्त शर जाल से दिगंत को
दृश्य को अदृश्य को समान वेधता यथा।
व्याप्त कर रणभूमि पन्नग से शर से
धीर किया वीर ने स्वपक्ष की अनीकिनी।
लड़ता हो जैसे रतिनाथ शक्तिधर से।
चन्द्र और सूर्य बने जैसे प्रतिपक्षी हों।
अद्‌भुत समर रणधीर करने लगा।

विस्मित विमोहित सा गुरुपुत्र रोष से
नाराच छोड़ने लगा जो फणिधर से
नभ को जलाते चले किन्तु हँस-हँस के
काटे सभी शर वीर मणि ने विनोद में।
धन्य धन्य बोले रणधीर रणभूमि के।
कुपित कृतान्त या कि रुद्र ज्यों प्रलय का।
जीव गति मेटने को लोक से चलाता हो
दुर्निवार शरजाल वैसे ही समर के।
भूतल को और नभतल को विशिख से
पाट कर द्रोणि सिंहनाद करने लगा।
बाणों में छिपा था रथ मलयध्वज धीर का।
काट कर बाण-जाल पल में विपक्षी का
अग्नि शिखा जैसे चलती है धूमराजि से,
चलती मरीचि माला तीव्रतर भेद के
घनघटा जैसे मध्य स्यन्दन में वैसे ही
बाल रवि मण्डल सा मण्डल धनुष का
वीर ने बनाया। शर छोड़े धूमकेतु से।
तरुण मृगेन्द्र सम घोर नाद करके

तोमर से काट के किरीट गुरुपुत्र का
फेंका नभ मण्डल में। द्रोणि के धनुष की
काट कर मौर्वी हँसा वीर।

महा सर्प सा
क्रोध में हिला के शीश प्रत्यंचा दूसरी
काल शिखा रूपिणी चढ़ाई गुरुपुत्र ने।
पल में धनुष में। पुकार कहने लगा--
''हरि नाम ले रे! रसना से अब अन्त है
आया। तुझे अन्तक के लोक अब जाना है।
विस्मित हूँ वीर देख तेरी कला चाप की।
धन्य वह जननी कि जिसके उदर से
जन्म लिया तूने। नरसिंह! ज्या धनु की
अब तक कटी थी नहीं मेरी कभी। शीश से
कट कर किरीट क्या गिरेगा? वीर स्वप्न में
आया नहीं मेरे वही देखा अब आँखों से।
सम्भव नहीं था जो कि अर्जुन से कर्ण से
कर्म वही तूने किया।''

ओठ काट दाँत से
कान तक खींच के धनुष उग्र दृष्टि से,
देखा यथा आयु पी रहा हो प्रतिद्वन्द्वी की,
सात शर एक संग सन्धानित करके
छोड़े गुरुपुत्र ने कि सात चंचलायें ज्यों
सुरधनु से छूटीं। मुँदी पलकें विपक्षी की।
तेज मिटा आनन में छाया पड़ी भय की।

मलयध्वज काँपा मृत्यु आई यथा सामने
देह धर के हो। गुरुपुत्र-शर क्रम से
काट चले-कवच, किरीट, चाप, केतु को
रथ धुरा टूटा, चक्र टूटे, मरा सारथी।
तेज पुंज दूसरा चढ़ाया शर द्रौणि ने
दसवीं गति में जो चला ज्वाला चली नभ से।
आँखों में शिखा सी लहराई शीश कंठ के
कट कर बीच से गगन में उड़ा, यथा
वैनतेय लेकर प्रफुल्लित कमल को
काट कर नाल से चला हो व्योम तल में।
श्रम विन्दु पोंछ कर भाल से विमुग्ध सा
गुरुपुत्र देख उसे चिन्ता मग्न हो उठा--
"वीर धर्म दारुण है" कह कर तुरन्त ही
रथ को बढ़ाया वायु वेग में यशस्वी ने
रण में लगा था धृष्टद्युम्न जहाँ व्यूह से।
घेर कर पाण्डव रथी थे जिसे रक्षा में।
वायु वेग जैसे घटाटोप उड़ा देता है,
तोड़ कर प्लावन बढ़ता है बाँध बालू का
बाधा हीन गति से विपक्ष को उड़ाता सा
गुरुपुत्र आगे बढ़ा।

बोले कृष्ण पार्थ से-
"बन्धु क्या हुआ है तुम्हें कैसे यों अचेत हो।
मंत्र वश में ज्यों पड़े देखते गगन को।
शिथिल पड़े हैं कहो कैसे अंग देह के।
गति जो तुम्हारी यह फिर गुरुपुत्र के

सामने टिकेगा कौन आज इस रण में ?
जानते हो दुर्जय धनुर्धर जगत का
द्रोणसुत रण की कला में-- भृगु राम है।
और आज प्राण मोह छोड़ धृष्टद्युम्न का
वध करना ही चाहता है प्रतिहिंसा में।
विश्वजयी वीर! तुम देव, यक्ष रण में
शिथिल पड़े जो नहीं, आज किस हेतु से
हीन वीर्य बनते हो, चेत् धरो। अब जो
अल्प भी विलम्ब यदि होगा धृष्टद्युम्न को
जीवित न देख तुम पाओगे।''

विषाद के
स्वर में धनञ्जय अधीर चित्त बोला यों
''गुरुसुत वही है यह जिसका समर में
करता निवारण सदा मैं रहा। प्राण के
मोह में न खुल कर मुझसे लड़ा कभी।
अथवा उसी का रूप धर कर रण में
आप त्रिपुरारि आज आये मुझे छलने।
मित्र! कहीं माया तो नहीं है भेद जिसका
खुलता नहीं है। अभी रुद्र तेज उसके
भाल के त्रिपुंड में था, जैसे देख जिसको
दग्ध हुई आँखें बाहु दण्ड बलहीन ये
मेरे बने। गाण्डीव छूटा आप कर से
जड़ता समायी अंग-अंग मैं कहूँ में क्या ?''
हँस कर बोले कृष्ण--''वध से जनक के
और अपमान जो किया था धृष्टद्युम्न ने

ध्यान मग्न गुरु की शिखा को धर हाथ से,
भूल सब जायेंगे कुकर्म यह। पर क्या
द्रोणि कभी भूलेगा। भुलाया प्राण मोह है
आज रणधीर ने इसी से रुद्र तेज सा
तेज फूटता है आज उसके ललाट से।
माया कहीं कोई नहीं, देखो निज सेना की
गति जो बनी है बिना नाविक के पोत सी।
सामने से सम्भव नहीं है गुरुपुत्र को रोक आज
लेना। शस्त्र युक्ति से बचाना है
द्रुपद तनय को।''

बढ़ाया रथ कृष्ण ने
लोक भयकारी देवदत्त शंख ध्वनि में
डूबी रण भूमि। कपिध्वज ज्यों गगन को
करता निपीड़ित हो।

वैनतेय गति में
द्रोण सुत आया और बोला धर्मराज से--
''सत्य और धर्म भद्र! छोड़ कर तुमने
स्वार्थ साधना में गुरुवध जो कराया है,
जीवित सदैव रहो, भोगो राज्यधन के
संग-संग गुरुवध पाप भी। परन्तु मैं
करता निवेदन हूँ तुमसे कि मुझको
अवसर दो द्वैरथ युद्ध का अधम से।
छोड़ो इस पापी को दिखाये बल मुझको।
मारे मुझे याकि आज मर कर भूमि का

भार यह पापी मिटे।''

''लज्जित हूँ विप्र मैं।
पाप गुरुवध का मैं भोगूँगा नरक में।
जानते हो अनुचर हैं हम वासुदेव के।
उनके निदेश से ही आज धृष्टद्युम्न की
रक्षा में लगे हैं हम। सम्भव हो तुमसे
तब तो पराजय या वध हम सब का
विप्र! करो। और तब मारो धृष्टद्युम्न को।''
कह कर युधिष्ठिर निरखने धरा लगे।

बोला द्रोणि-- ''धर्मराज! पाप से विजय जो
मिलती हैं टिकती नही हैं इसे जान लो!
धर्म और शास्त्र के विधान सभी मेट के
रण में लगे जो तुम राज्य मोह में पड़े।
भोगेगा उसे भी कौन डूबा कुरुवंश है।
पांडु और धृतराष्ट्र दोनों पितृलोक में
वंचित तिलोदक से होंगे फल रण का
उनको मिलेगा यही।''

देखा धृष्टद्युम्न को
काँपता था थर थर जो रथ में उरग ज्यों
काँपता है देख कर विनता तनय को।
घेर के जिसे थे रथी पाण्डव के दल के।
धनुष उठाया महावीर ने विपक्ष के

वीर सब एक संग शंख ध्वनि करके
कार्मुक टंकार कर रोकने लगे उसे।
छोड़ते थे चाप बैरियों के एक साथ ही
लक्ष लक्ष काल शर किन्तु महासिन्धु ज्यों
एक साथ धारण करता है नदी नद को
धारण बली ने किया वैसे ही। विपक्ष के
रथियों को एक साथ वृष की तरणि सा
दुर्निवार दाहक धनुष उसका बना।
चलतीं अजस्र रवि मण्डल से रवि की
किरणें हैं जैसे कुहाराशि बेध देती हैं।
वेध उसी भाँति से बली ने अरि दल को
कवच, किरीट और चाप धर्मराज का
काट कर फेंका। शर मारे छठी गति के
एक साथ तीन गिरे तीन रथी रथ में
होकर अधोमुख नकुल, सहदेव के
संग सात्यकी भी गिरा। भागे अरिदल के
शेष रथी। भागा धृष्टद्युम्न संग उनके।

आर्तनाद नाविक करते हैं महासिन्धु में
जैसे जब पोत टूटता है। गति-झंझा की
जलमग्न करती शिखर जलयान का।
मृत्यु नाचती है जहाँ तुमुल तरंगों में
नाची मृत्यु वैसी ही समर के समुद्र में।
भग्न पोत नाविकों सी सेना लगी डूबने।
धनुष टंकार घोर गूँजी रण भूमि में।

द्रोण के तनय कि कुपित पिनाकी ने
सृष्टि फूँकने को किया टंकारित चाप था।

बोला द्रोण नन्दन "अभागा रे द्रुपद का
पुत्र भागता है कहाँ अब इस लोक में
ठौर कहीं है क्या जहाँ प्राण तू बचायेगा ?
धरती को चीर कर उग्र कर्णधर से
नाग शर मेरे तुझे ग्रसित करेंगे रे!
विषधर चला है कहाँ देख कर सामने
कुपित कृतान्त के समान वैनतेय को।"

रथ को घुमाया चक्र गित में यशस्वी ने
और चक्र गति में घुमाता यथा चाप को।
चक्र गति धारी बाण छोड़ने लगा बली
वातचक्र जैसे चला रथ धृष्टद्युम्न का।
घूमा उसी गति में भँवर में पड़ी हो ज्यों
नाव यथा डूबी कभी और उतराई सी।
संधानित करके कराल शर पल में
छोड़े द्रोण सुत ने पताका रथ की गिरी।
रथ बाजि भूतल में आये। गिरा सारथी।
रथ युग टूटा। चक्र दोनों भूमि में गिरे।
शैल को हिलाता वैनतेय फणिधर को
देख कर टूटा, याकि टूटा वज्र गिरि के
श्रृंग पर टूटा। बली ने वैसे निमेष में
धर लिया अरि की शिखा को वामकर से।

खींच कर भग्न रथ से जो उसे भूमि में
खींचता यशस्वी बढ़ा, मृगराज मृग को
खींचता। विवर को चला हो फणिधर सा।
शीश को हिलाता साँस छोड़ता उरग ज्यों
काल असि कोश से अधर काट दाँतो से
दाँये हाथ में जो लिया। काँपी काल - रसना।
देख नभ - मण्डल में रवि को समर में
काल दृष्टि डाल बली अधमरे। अरि को
देखा नतशीश।

हाथ दायाँ असि साथ ही
ऊपर उठा ज्यों लसी दामिनी गगन में,
हाथ हिला जब तक आये असि अरि के
कण्ठ पर, अर्ध चन्द्र बाण लगा मूठ के
ऊपर से कट कर गिरी जो भूमि तल में,
विस्मय में घूम कर देखने लगा बली।
धनुष चढ़ाये पार्थ पीछे खड़ा रथ में।
कृष्ण हँसते हैं। विष व्यापा अंग अंग में।
चरण प्रहार कर शीश पर वैरी के
डूबता विराग में घृणा से कहने लगा--
"कर्म यह वीर का किया है नहीं तुमने
काटी असि मेरी जोकि पीछे से समर में।
व्याध करता है यह कर्म किन्तु तुमसे
नीति और धर्म कहना भी अविचार है।
धर्म नीति जग से मिटाने के लिये ही तो
जन्म कृष्ण ने है लिया। वेद - विधि इनकी

विधि में मिटी है। यह अधम अमर हो
छोड़ता इसे हूँ इस जग में सदा रहे।
पद रेख मेरी भी रहेगी पर इसके
शीश पर। मान भंग इसका समर में
करके अनृण मैं पिता के ऋण से हुआ।"

हँस कर बोले कृष्ण "विप्र! तुम धन्य हो
मान भंग केवल करते हो पितृ घाती का।"

रथ पर बैठा द्रोणि बोला "मैं प्रशस्ति
का भूखा नहीं, नन्द सुत! व्यंग्य करते हो क्या?
मानो सदा मान भंग करते विपक्षी का।
शीश जो अधम का पवित्र पद घात से
मेरे हुआ, जाओ तुम पूजा उसकी करो।
निर्भय अकेले बैठ रथ में धनुष को
फेरने यशस्वी लगा। रवि रथ व्योम के
आया मध्य बिन्दु पर, भूतल गगन में
एक संग जैसे दो दिनेश दीप्तिधर थे।

आठवाँ सर्ग

स्यन्दन सविता का मध्य व्योम में टिका है ज्यों
रवि वाजि आधा व्योम मार्ग पार करके
श्रमित बने हैं। श्रम रुक के मिटाते हैं।
देखता दिनेश धरती में जीव गति को
गतिहीन। किंवा कर्म-लेखा जीव लोक की
लिखता दिनेश रश्मि कर से गगन में।
कर्म हीन आज कितने हैं और कितने,
कर्मरत जीवन के ऋण को चुकाने में;
दान में, दया में, उपकार, धर्म, रण में,
निर्लिप्त बन के लगे हैं जन जग के।
कर्म वश जन्म और मरण जगत का
कर्म शर से ही सुधी बन्ध काट इनके
निर्विकार युक्त नभमण्डल से बनते।
मेघ में कि वायु, वातचक्र, हिमपात में
होता सविकारी कब नभ नील नीलिमा।
मिटती कहाँ है इस व्यापक अनन्त की।
आत्मलीन निर्लिप्त जड़ के विकार से
रिक्त यह व्योम मुक्ति पथ सा प्रशस्त है।
एक रस, एक रूप, एक निष्ठ नभ में
प्रखर मरीचि माली रश्मि जाल खोल के
काव्य रचता है। चला जैसे कर्म लोक का
लय और अर्थ छन्द भाव धरातल में
किरणों से छूट कर आते।

वीर वेश में
सज्जित सुशासन खड़ा है पटधाम में।
शीश पर मोहक किरीट रत्नमय हैं।
वक्ष भुज मूल में कवच, तूण कटि में,
हाथ में शरासन, अधर में हँसी लसी,
उत्फुल्ल इन्दीवर लोचन ललाट में,
तिलक लगा है घनसार मृगमद का।
नतमुखी सती हैं खड़ी वासन्ती समीप ही।
खेलते हैं चरण धरा से पद नख से
धरती कुरेदती। कि ताल और लय में
रह रह के उनको उठाती दिव्य गान की
गूँज हैं अतल में सती के पद्म कर हैं।
कंधे पर पति के अधीरा सुधि देह की
भूली जिसे, शीश वक्ष से है लगा पति के।
''चन्द्रमुखी शंका छोड़ हर्ष से विदा करो।''
बोला नरसिंह ''वसुसेन जब रक्षा में
रत रहें। सोचो इस जग में बली भला
दूसरा कहाँ है जो कि स्वप्न में भी तुमको
भय दे सकेगा। प्रिये! कायर नहीं हूँ मैं
बार-बार मुझसे मिले हैं रणभूमि में.
वैरी सिंह। विक्रम सुमुखि जानते हैं वे
मेरा। वीर-बाला जानती हो तुम आप भी।
व्यर्थ भय शंका में पड़ी हो। रवि मेघ से
डरता कभी है। याकि वज्र गिरि राजि से।
सिंह डरता है गज यूथ से। गरुड़ क्या
पन्नग के दल में अधीर कभी होता है।
हीन, बल भय से तुम्हारे हो रहा हूँ मैं।

शक्ति तुम मेरी शक्ति - स्रोत।''

मंजु मुरली
टेर उठी। बोली पिकी-- ''नाथ अब मुझको
शंका नहीं, भय नहीं, नभ में दिनेश ज्यों,
दीप्त हो रहे हैं, तुम वैसे ही समर में
दीप्त रहो। अरिदल दूर से ही तुमको
देख कर काँपे। नरसिंह! जिस पुण्य से'
पावन चरण वे तुम्हारे मुझको मिले,
रक्षा वही पुण्य करे। देव अनुकूल हो।
अक्षत शरीर नाथ पाऊँ फिर तुमको।
एकटक देखती रही जो सती पति को,
रूप सुधा पीने में लगे थे नेत्र जिसके,
विकसित पद्मिनी निहारती थी रवि को।
शीश पर हाथ फेर बाहर शिविर के
वीर चला। चारों ओर जैसे पथ घेर के
प्रेयसी खड़ी थी। सती जैसे शून्य दृष्टि से
पथ देखती ही रही पति का। शरीर को
छोड़ कर जैसे चला प्राण प्रिय संग में।
पलकों ने गूँथे हाय हार मंजु मोती के।
कज्जल की रेखा नेत्र छोड़ के कपोल में
व्याप्त हुई। चन्द्रकला जैसे चन्द्रतल से
मिट गई। आनन की आभा मिटी पल में।
डोली भूमि पदतल की। अवसन्न कर से
भू पर वलय गिरा। विभ्रम में पड़के
भाँवर - सी देती सती बैठी धरातल में,

मोह के सलिल में हों डूबी।

रण - भूमि में
दोनों दल प्राण - मोह छोड़ के विजय की
कामना में सिंहनाद कर लड़ते हैं। जो
जय - जयकार गूँजता है नभ तल में।
दारुण समर में समर धीर मृत्यु का
करते वरण। पुलकित अंग - अंग हैं।
कुन्त, भल्ल, फलक, कृपाण, असि दृष्टि की
गति रोकते हैं। यथा जलती दिशायें हैं,
कौंधती अनेक एक संग याकि दामिनी।
रण - वाद्य - ध्वनि मेघ - ध्वनि सी बनी जहाँ,
मत्त गजराज बनी जैसे मेघराजि हैं।
रथ - केतु चाप तल शब्द गर्जन ज्यों,
अविराम शर चलते हैं जल धारा से।
वीरों के किरीट केतु दंड स्वर्ण के बने
क्षणदा छटा है ज्यों दिखाते पल - पल में।
रण भूमि किंवा घटा सावन की छाई है।
ओज और विक्रम विभूति यथा बाँटते,
कुल शील बल में समान प्रति पक्षी से
युद्ध रत दोनों दल। कृतवर्मा पार्थ से
और कृपाचार्य लड़ते हैं युधामन्यु से।
भूधर से जैसे टकराती वारि धारा है।
कालपृष्ठ धारी को प्रभद्रक रथी सभी
पांचाल वीर जन घेर कर लड़ते।
दुर्मद समर में विपक्ष के रथी यथा

यम परिजन या कि भीम रुद्र गण से।
एक संग करते प्रहार वारि वर्षा को
धीर शैल राज ज्यों सहज सह लेता है,
सह रहा रणधीर धीर बन वैसे ही।
शत्रु शर काट कर फेंकता धनुष का
मण्डल अलात चक्र जैसे बना। जिसको
देखने में अक्षम विपक्षी बने। वीर ज्यों
देखता है वासव के सहस नयन से।
शेष के सहस्र शीश जैसे वीर को मिलें।
केतु कहीं काटा, कहीं चाप, कहीं शीश से
वैरी के किरीट काट फेंका। कहीं सारथी
मार कर एक साथ सौ-सौ रथी मारता।
रणधीर दारुण समर करने लगा।
पक्षधर पन्नग चले ज्यों नगपति से,
किंवा मेघ दल से चले हों वज्र शर ये।
डँसते विपक्षियों को, काटते गायन्दों को।
दावानल जैसे चला, वन में, कि व्योम में,
वेग में प्रभञ्जन के भागी घटा घन की,
भागे अरि। आर्तनाद गूँजा धरा व्योम में।
टंकारित काल पृष्ठ करने लगा बली।

आया तभी कुरुराज संग गुरुपुत्र के
बोला--"महावीर दैव-गति विपरीत हैं,
फिर भी नहीं तो क्या विमूढ़ वन रण में
गुरुपुत्र छोड़ते अधम धृष्टद्युम्न को।
गतचेत भीम जब काया धरातल में,

पार्थ को हरा के, गतिहीन कर उसको
सात्यकी, नकुल, सहदेव, धर्मराज भी
हारे जब, और वह नीच सब ओर से
निपट निराश्रित, उरग वैनतेय के
कर में पड़ा हो, पड़ा द्रौणि शरपथ में,
शस्त्र और रथहीन विवश बना जो था,
एक हाथ में थी शिखा, दूसरे में असि थी,
फिर भी न मार उसे पाये गुरुसुत जो,
कहना ही होगा विपरीत दैव गति में
डूबा कुरुवंश। और डूबी कुरु सेना है।"

हँस कर बोला वसुसेन "मित्र गति की
चिन्ता करते हो व्यर्थ। जीवित मृतक है
पापी धृष्टद्युम्न मान - भंग पद - घात से
जिसका हुआ है गुरुपुत्र के। अधम क्या
वीर - व्रत धारी कहो कैसे फिर बनके
वीरों में अधम मुख अपना दिखायेगा।
प्राण ही अभीष्ट कहीं होता है यदि उसका,
तब तो यशस्वी गुरुपुत्र शर मार के
प्राण हर लेते उस वंचक अधम का।
किन्तु मारना था जिसे शीश पर लात भी,
कैसे वह प्राण कहो लेता उस अरि का।
वीर - कर्म और क्रोध दोनों विपरीत हैं।
दिन रहता है जहाँ रहती निशा नहीं।
रोष से पराजित हैं होते बली लोक के!
निन्दा हम चाहे जितनी भी करें कृष्ण की

छल बञ्चना की, या अनीति की, कपट की,
एक गुण मानना ही होगा हमें क्रोध से
होते नहीं विजित कभी हैं यदुरत्न वे।
सीखा यही गुण उनसे हैं धनञ्जय ने।
और यही कारण रहा है निष्ठ मन से
शत्रु का पराभव करते हैं रहे दोनों ये
नीति से, अनीति से, कपट से, कि छल से।
धर्म भावना में लिप्त छोड़कर भीम को,
अर्जुन को छोड़ कर, छोड़ा धृष्टद्युम्न को,
आज गुरुपुत्र ने। परन्तु ध्रुव क्या नहीं
यह भी कि वैरी ये मरेंगे किसी दिन तो?
कीर्ति गुरुपुत्र की रहेगी। जन्म जग में
लेते बन्धु! जब तक रहेंगे वीर लोक के,
मृत्यु नराधम के लिये तो सदा शुभ है,
अशुभ रहेगा अब जीना पाप मति का,
पदघात पाया जिस वैरी ने विपक्षी का
शीश पर। अस्त्र वह दारुण कटा है जो,
उस पर चलेगा, कौन उसको चलावेगा,
सेनापति पाण्डवों का धृष्टद्युम्न वीरों के
दल में अमर भी बने तो वीर जन की
ग्लानि का ही कारण रहेगा। कृष्ण उसकी
'पूजा अब चाहे जितनी भी करें, जग के
वीर तो अधम उसे मानेंगे सदैव ही।
रण और लोक नीति कृष्ण की जगत में
खुल कर रहेगी, सत्य तेज रवि तेज से
प्रखर सदा है। इस हेतु अब मन से
गति को मिटाकर अनागत की सुधि लो।

कहते हो बन के विमूढ़ गुरुसुत ने
छोड़ा उसे, किन्तु बन्धु कैसे तुम उसे भूलते
सम्भव नहीं है जन्म लेना हेम-मृग का।
फिर भी विमूढ़ बन दाशरथि उसके
पीछे जब दौड़े थे अहेर में। जनक की
दुहिता गई थी हरी। विज्ञ कुसमय में
बनते हैं अज्ञ। धीर बनते अधीर हैं।
लक्ष्य सिद्ध चूकते सखा हैं लक्ष्य भेद में।
मारना जो होता कहीं इष्ट नर पशु का
तब तो मरा ही वह होता आज रण में।
वध नहीं मान-भंग इष्ट था विपक्षी का।
नरसिंह गुरुसुत तभी तो चाप तज के
रथ छोड़ भूतल में आये। और उसको
खींचा भग्न रथ से शिखा को धर कर से।
इतना विलम्ब रण-भूमि में विजित को
विजयी बनाता। और हारता है विजयी।"

द्रोणसुत बोला "वसुसेन मन होता है
काट कर फेंकू यह हाथ। और मुख में
कालिख लगा कर मैं डूबूँ सुरसरि में।"

काँपा बली स्वेद कण भाल में कपोल में
कंठ नासिका में झलमल करने लगे।
भृकुटि कुटिल पड़ी, सीधी तनी पलकें।

कालपृष्ठ धारी बढ़ा आगे और द्रौणि का
हाथ धर बोला--''विप्र! रोष यदि छोड़ के
सम्भव नहीं हो, युद्ध-कर्म-रति तब तो
सेवक कहेगा तुम रण से विराम लो।
सुख और मोद अभी तुमने दिया है जो
वैरियों को। हर्ष नाद करते विपक्षी हैं,
सुनता रहा हूँ सुनते ही रहे तुम भी।
क्रोध से पराजित बली जो, बस अरि पै
करता दया है। योग-वृत्ति रण-वृत्ति ये
भेद नहीं मानते मनस्वी। योग-बुद्धि से
रणधीर बन कर विपक्षी वध करते।
वध नहीं तुमने किया जो पितृ-हन्ता का
सम्भव है इसको कहोगे गति दैव की।
बाधक सदा जो नर-गति की बनी रही।''
नभ में घुमा के बाहु दंड काल-दंड ज्यों
घूमा बली, बोला--''विप्र! चाहता क्षमा हूँ मैं
वीरगति विवश बने जो, दैव गति से
हेय मानता है यह दास उसे। व्यर्थ है
तर्क या वितर्क, सूचना दो मुझे रण की।
बीत जो गया है फिर बीतेगा नहीं कभी।
बढ़ रहे प्रभद्रक रथी है मुझे रोकने।
अर्जुन कहाँ हैं? कहाँ दानव-तनय हैं?
सुनते हैं मन्दर शरीरी भीमसेन का।''

बोला कुरुराज-- ''अभी देख कर आँखों से
आ रहा हूँ सेनापति! उसको समर में।

गतिशील मन्दर की नील गीरि शृंग हैं,
मत्त गज किंवा वह दिग्गज समर के,
सिन्धु को रहा है मथ। कौन रोक पावेगा
उसको मरा जो अलम्बुष रण में?
रणधीर दोनों दैत्य दूर रणभूमि के
उत्तर की ओर लड़ते हैं, पक्ष वाले दो
भूधर लड़ते हों। दव ज्वाला से घिरे हुये
रक्त-स्रोत बहता है दोनों के शरीर से।
अस्त्र-शस्त्र फेंक अब मल्लयुद्ध रत हैं।
नख दंत कर पदघात दैत्य करते।
दुर्निवार दारुण बने हैं रणभूमि में।
धीर नरसिंह भी रहेंगे नहीं देख के।
भय से हिलेंगे नहीं, पास रण भूमि के
आये यदि। दैत्य दानवेन्द्र अलम्बुष हैं,
दानव में दिग्गज, परन्तु अब युद्ध में
श्रमित बना है बली। और घटोत्कच की
शक्ति महा सिन्धु सी अपार पल-पल में
बढ़ रही, जैसे बन्धु-शंका-मग्न-चित्त हैं
युक्ति से तुम्हारी ले गया जो उसे रण से
दूर था। कि मानव समर से दनुज की
हिंसा वृत्ति दूर रहे। पर अब भय है
पार नहीं पायेगा अरिनन्दन विपक्षी से।
भीम का तनय है कि काल देह धारी है।
करता प्रताड़ित अलम्बुष को क्रम से।
और ठेलता समीप पहुँचा है रणभूमि के
विश्वजयी सोचो जो अलम्बुष मरा कहीं?
और उसे मार कर तनय हिडिम्बा का

रण में प्रविष्ट हुआ, कैसे उसे रोकोगे?''

हँस कर बोला वसुसेन-''जब सामने आती है, विपत्ति धीर-धर्म वीर जन का काम तभी आता। कुरुराज! अनागत की होनी की, कि दैव की, नहीं है जिस मन में चिन्ता कभी। निश्चय ही अपराजित वह है। कहते उसे तो हैं अजातशत्रु जग में। बल से तुम्हारे बली भीम-तनय को खण्ड-खण्ड करके गिराऊँगा धरित्री में। किन्तु कहाँ अर्जुन है?'' भौहें चढ़ीं, पलकें तन उठीं, भाल पर देख पड़ी शेष की, मेघ-ध्वनि जैसे हो, गंभीर धीर वाणी में बोला नरसिंह--''रविरथ मध्य व्योम के पार जा रहा है, ढला दिवस, नहीं अभी आया पर अर्जुन, कि देखूँ आज उसकी रण-कला, विक्रम बली का आज देखना चाहता हूँ। दो-दो बार दूर से समर में कपिध्वज को देख के बढ़ा जो, पर कृष्ण ने रथ को घुमाया और दूर मुझसे किया। आवाहन मेरा सुना दोनों ने, न जाने क्यों तुष्ट करने को मुझे आये नहीं सामने।''

बोला कुरुराज--''बन्धु! कौशल को कर्म के योग मानते हैं कृष्ण। कौशल से पार्थ को आज तुमसे हैं दूर रखते, कि जिससे

अवसर न पाओं तुम अरि के निधन का।
सम्भव नहीं है पार्थ रोके तुम्हें रण में।
रणधीर आज वासुदेव जानते ही हैं,
जब तक निषंग में तुम्हारे शक्ति शर है।
अर्जुन क्या, शक्तिधर, याकि वज्रधर भी,
रोकने चलेंगे तुम्हें? काल शिखा रूपिणी
दारुण अमोघ शक्ति वज्री की न जाने क्यों,
मन कहता है, चित्त शंका-मग्न आज है,
दानव-तनय दानवी का किस अस्त्र से
हत हो गिरेगा? काल-देह धरे से जैसे हो,
विवश सुरेन्द्र ने चलाया यथा वृत्र के
शीश पर वज्र।"

"उस भाँति मैं विवश हो
कहते हो बन्धु! एक सूत्र शक्ति शर से
सम्भव करूँगा शत्रु घात, अन्यथा बली
विजय करेगा आज भारत-समर में।"
कह कर विनोदी वसुसेन हँसने लगा।
जय की पराजय की चिन्ता इस दास के
मन में न आयी कभी, एक दिन जग में
निश्चित है मृत्यु, मृत्यु रण होता रण के लिये।
नीति और धर्म जन्म पाते रणभूमि में।
जय या पराजय तुला है स्वार्थ-बुद्धि की,
वासुदेव देखते जिसे हैं। आये भूमि के
आर्यजन समरस भाव से समर में
जय या पराजय तुल्य को छोड़, जय की

पावन तुला ये तौलते हैं वीर - भूति को।
जय जय कार तभी गूँजा धरा व्योम में।
वन्दिजन कुरुपति, अनुज की प्रशस्ति के
गान में विभोर बने, हेम रत्न उपमा में
तेज - पिंड किंवा, रवि - पिंड सुशासन का
स्यन्दन समीप तभी आया, लगे देखने
निर्मिमेष पलकों से कुरुजन समीप वहाँ,
भाव के सलिल में ज्यों डूबे हाथ जोड़ के।
जय जीव कह कर् झुकाने लगा शीश को
धरा पर विनयी अनुज कुरुराज का।
देव - रथियों में रथी शक्रसुत जैसे हो
दोनों कर ऊपर उठा के लोक - विजयी
वसुसेन और द्रोणि सस्मित वदन से
स्वस्ति वाद देने लगे। आप बली बना।

अंगराज रोकता हँसी को कहने लगा--
"कहते हैं शक्ति बिना शिव शव तुल्य हैं
देखा वही आँखों से, अनुज चिरंजीवी हो।
निर्भय समर में समाओ, काल पृष्ठ की
छाया में निरापद रहोगे, रवि व्योम से
टूट के न आये, कहीं भूमि में, धरा रहे
तब तक तो कवच बनेगा पति - प्राणा का।
प्रेम ही अमोघ तुम रक्षित रहोगे ही।
मोहमयी नारी शक्ति मूल है जगत की।
वासन्ती सती ने है दिखाया हम सब को।
रोका तुम्हें परिव्राट होने से समर में

वीर धर्म मेरा भी "रहा जो" हँसने लगा
अंगपति। बन्दी हँसे, वीर हँसने लगे।

रथ से उतर कुरुपति के चरण में
विनयी अनुज ने झुकाया शीश, हाथों में
बाँध उसे बोला कुरुराज--"देवगति ही
दारुण है, वत्स मन मोह के अतल में
डूबने लगा है, वीर-धर्म का सहारा है,
पुण्य इस जन्म में किये हों कभी मैंने जो
और गत जन्म के अभी भी शेष पुण्य हों,
शंकर सहाय बनें, रक्षा बन्धु की करें,
फिर भी सर्ता ने जो कि स्वप्न।"

गनगन सा
काँपा कुरुराज बन्ध ढीले पड़े जिसके।
हन्त ! हन्त ! ! पूज्य पाद मन के विकार में
डूबे जो अभी हो, हा अजेय वसुसेन की
कीर्ति मेटते हो कहो। फिर किस फल से
सेनापति उनको बनाया आज तुमने।
अमर नहीं हो तुम अमर नहीं हूँ मैं।
मृत्यु जीवगति है सनातन, उसे भला
रोकने की चिन्ता किसे होगी। वीर जन तो
स्वागत करते हैं सदा। जिसका अभय हो!
कातर बने जो तुम स्वप्न याकि भय में।
तो फिर हिमालय टिका क्या रह जायेगा?
सिन्धु क्या न सूखेगा, धरित्री रसातल में

डूब क्या न जायेगी, अभागा नरसिंह के
भय का बना जो हाय कारण अधम मैं।''
बालक सा रोया बली फूट कर आँखों से
वारि धारा सींचती कपोल चली नीचे को।
सिर सूँध बोला कुरुराज--''बन्धु! तुमसे
त्रिभुवन का विभव मिला था मुझे। तुमको
चाहता नहीं था आज भेजना समर में।
पुत्र - शूल वेध नहीं पाया जिस मन को,
हो रहा कहीं है आज कातर, कहूँ मैं क्या?
कीर्ति क्या मिटेगी वसुसेन की गगन में,
जब तक दिनेश हो उदित - जीव लोक को
जीवन का दान बन्धु! देंगे। तब तक तो
दान और रण के दिनेश कर्ण होंगे ही।''

''कुरुराज! सेवक तुम्हारा कीर्ति यश का
भूखा नहीं।'' बोला वसुसेन 'विज्ञ तुम हो
कातर यों होते जो कमाया इस जन ने
दान या कि रण में, शपथ मुझे सत्य की
कहता हूँ, मेरे लिये यश और कीर्ति की
श्रृंखला, कठोर बनी लौह - श्रृंखला सी हैं
मुक्त सब ओर से सदैव वीर - कर्म है।
चेत रहता है कहाँ रण में सुयश का!
और दान में भी देह - सुधि कब होती है?
किन्तु अब तर्क या वितर्क इस रण में
करने से लाभ क्या? निर्यात मानता नहीं
मैं तो कभी जानते हो। तुम भी मुहूर्त जो

बीत रहें संगर के आयु लिये जाते हैं।
वैरी सिंह नाद करते हैं देख हमको।
नाग लोक से ज्यों नाग - दलवीर धरती
बाहर चला है बाँधने को वैनतेय को।
यम परिवार से प्रभद्रक महारथी।
देखो, शिखा ओर ये शलभ सम आते हैं,
मित्र मानते हो यदि निठा मित्र - धर्म में,
मेरे प्रति अब भी तुम्हारी बनी। तब तो
संग करु, मेरे बली विनयी अनुज की,
नेत्र पुतली - सी मैं सँजोऊँगा इसे सदा।"

फूँखा शंख वेग में बली ने रण भूमि ज्यों
डूबी उसी ध्वनि में दिगन्त प्रति ध्वनि से
बार - बार डोला। जगी दामिनी गगन में
टंकारित जैसे हुआ काल पृष्ठ कर में।
वेग में प्रभंजन के रथ अरिन्दम का
आगे बढ़ा। अग्नि - कण फूटे चक्र नेमि से
द्वादश कला के भानु पथ में प्रलय के
किंवा बढ़े! उच्चै: श्रवा के भीम वेग में
अग्नि रथ लीक - सी बनाता चला। व्योम को
पार कर राज पथ बनता चला गया।
वैरियों के बीच से बना ज्यों सेतु सिन्धु में।
भूधर को काटती कि सरिता चली वहाँ।
जय - जय कार बन्दियों ने किया। सूतों ने
मागधों ने, जीत गये जय के, विभव के।
पीछे रथ में था सुशासन, रवि रथ के

पीछे अग्नि रथ ज्यों चला हो। दिग्दाह की
ज्वाला चली नभ और भूतल मिलाती सी।
अग्नि की शिखायें चलीं जैसे, अग्नि - यन्त्र से
चारों ओर तेज पुंज शर छोड़ने लगा।
दारुण धनुर्धर - धनुष अग्नि - चक्र सा
अम्बर में घूमा, गज भागे मेघ दल से।
रुँड - मुँड कट कर धरा में और व्योम में
चारों ओर फैले, धूमकेतु यथा छाये हों।
सिंहनाद कुरुपति अनुज करने लगा।
काटा कहीं उन्मद गयन्द, कहीं रथ को
काट कर फेंका, रथी मारे कहीं सारथी,
डूबी अरि सेना रक्त प्रलय समुद्र में
आहत भुजंगिनी सी भागी। चक्र वायु का
सेमर की रूई ज्यों उड़ता चला ग्रीष्म में।
रसना ज्यों फैली महाकाल की समर में।
शत्रुओं को चाटती चली हो अवरोध का
यत्न नहीं जिसका कहीं हो। अरि दल में
आर्तनाद गूँजा, त्राहि - त्राहि मचने लगी।
लहकी शिखाएँ, सिन्धु - जल में, दिगंत से
शत-शत धूमकेतु आके गिरे अथवा
ज्वालामुखी फूटा, उर्मिमाली के उदर में
जलचर जले। हों लहरें भी जलीं जल की।
नाविकों के पोत जले मुक्ति हीन बनके।
विश्रुत जो वीर भूले वीर - धर्म पल में,
शस्त्र फेंक दर्शक बने ज्यों लगे देखने
विस्मित विमोहित से, गति - हीन से, जो वे
अचर बने से, पर मध्यम समर के

छोड़ रणभूमि भागे, यात्री यथा जल के
टूटें जलयान के किनारा देख, द्वीप की
कूदते शरण में हैं। आये उसी पार्श्व में
लड़ता धनंजय जहाँ था कृतवर्मा से।

हँस कर बाण छोड़ते थे वीर दोनों ही।
आर्तनाद गूँजा वहाँ। घूम कर देखने
दुर्जय किरीटी लगा। त्यों ही कृतवर्मा ने
साध कर मारे शर कृष्ण जिनसे बिंधे।
अर्जुन का कट के तलत्र रथ में गिरा।
मार्ग भ्रष्ट पोत यथा सिन्धु की तरंगों के
बीच में पड़ा हो। काल भँवर चली हो ज्यों
उसके निगलने को। क्षण भर पार्थ के
मनकी दशा थी यही। किन्तु वीर - कुल का
गौरव किरीटी वीर धीर बन पल में
करने निवारण लगा, जो एक साथ ही
शूरों में समर्थ कृतवर्मा वसुसेन का।
हँस कर बोला कृतवर्मा--"कृष्ण! अब लौं
भागते रहे जो तुम देख वसुसेन को,
देखो वह आया, नरसिंह रास धर के,
अडिग रहोगे या कि भागोगे कहो भला?"

सस्मित वदन यदु रत्न कहने लगे,
चन्द्र तल से ज्यों सुधा बूँद गिरने लगीं--
"सारथी का कौशल यही है प्रतिपक्षी से
भागे कभी। और कभी टूटे वज्र बन के।

जैसा जो सुयोग मिले सिद्ध सबको करे।
तुम तो रथी हो और मैं हूँ बस सारथी।
तुमको मिला है पद स्वामी का, परन्तु क्या
जानते नहीं हो पद सेवक का मेरा है।
स्वामी और सेवक विवाद करते नहीं।
शस्त्रधारी तुम हो, निरस्त्र मुझे तुमने
मारे शर देखो, अभी वक्ष में गड़े हैं ये।
लूँगा प्रतिशोध कभी मैं भी किन्तु,''

''किन्तु क्या
मारते नहीं, क्या रथी सारथी को रण में?
रण की प्रथा है यही सारथी की शत्रु से
रक्षा करते हैं रथी। और प्रतिशोध की
बात करते क्या? विष-बीज जो कि तुमने
बोये फल उनमें लगेंगे किसी दिन तो
निश्चय है। कुरुवंश - डूबा यदु - वंश भी
डूब के रहेगा कूटनीति से तुम्हारी ही।
निर्णय सुधर्मा ने किया था कुरुपक्ष में
जाकर लड़ेगी यदुवाहिनी। परन्तु क्या
सात्यकी नहीं है यदुजन, या कि तुम भी
यदुजन नहीं हो? जो कि शस्त्र ले समर में
आये तुम पाण्डवों के पक्ष में समर को।
सत्य ही है कपट - शरीरी तुम रण में।
शस्त्री ले समाये नहीं। किन्तु सात्यकी ने जो
जनतंत्र - नीति को मिटाया शस्त्र धर के
पाण्डवों के पक्ष में। कहो तो क्या सुधर्मा की

महिमा न डूबी? जब लौट कर जाओगे
डूब के रहोगे। या कि यदुवंश डूबेगा।
सोलह दिवस आज बीते इस रण को
जाने अभी कितने लगेंगे दिन और भी।
क्षत्रि - कुल भारत का डूबेगा समर में
देखता हूँ। मैं जो वही देखते हो तुम भी।
विधि का विधान है कि डूबे एक दिन में
यदुवंश क्रान्ति और अन्तर्विरोध में।
क्षत्रि - कुल भारत से तुमने मिटाया है।
मिट के रहोगे कुल संग तुम आप भी।
दारुण सदैव प्रतिशोध है प्रकृति का।
छूटते नहीं हैं अपकारी कभी उससे।''

''कह चुका बहुत रे प्रगल्भ! अब चुप हो
सम्भव असम्भव बने जो सभी करना।
जीवित कहीं जो यदि लौट कर जाना तो।''

बोला पार्थ--''वेला प्रतिशोध की मिली न क्या
कुरुओं की इस रण - भूमि में, जो लौट के
अर्ध - सभ्य यदुओं की क्रान्ति तू करायेगा।
जन्म यदुरत्न ने लिया ज़ो नहीं होता जो,
हीन उस कुल में तो अब तक तो कब का
मिट वह जाता पाप जन्म से तुम्हारे ही।''
''साधु साधु भद्र'' कहा और हँसने लगा
कृतवर्मा बोला, फिर हाथ फेंक नभ में--
''बर्बरों के कुल की तुम्हारी जननी भी हैं,

जन्म तुमने है लिया जिनके उदर से।
स्वार्थ - बुद्धि कृष्ण की सुनेगी कुल निन्दा भी,
फलती कभी क्या विष - वेलि सुधा - फल है।
कुरुक्षेत्र बनके रहेगा देखता हूँ मैं
निश्चय प्रयास - क्षेत्र। देखो, भद्र! सामने
कालपृष्ठधारी आ रहा है गज - कक्ष्या में
काल ही तुम्हारा यमराज के सदन में।
प्रस्तुत है होता तुम्हें केतु यम - यन्त्र सा
देखो, हिलता है, ज्यों निमंत्रण हो यम का।
छोड़ता तुम्हें हूँ यह कीर्ति अंगपति के
भाग्य में रहेगी।''

हँस कर कृष्ण बोले यों—
''सीधे कहो रण से विमुख तुम होते हो।
पीठ दिखला रहे हो वैरी को समर में।
नीति यदु वंश की क्या यह भी कभी रही,
जन्म किस कायर ने बोलो यदु कुल में
धारण किया था तब? सेनापति तुम हो
यदु - वाहिनी के जो कि आयी है समर में,
कुल और वंश के विधान की शपथ है
तुमको दिखाओ यदु - कुल की विभूति को।
सम्मुख समर में किरीटी सेन कर्ण को
अवसर दो सूत - सुत को! जो इस यश का
भागी बने। जब तक अजेय अभी तुम हो
किस मुख से हो अपराधी मुझे कहते।
भग्न किया मैंने है विधान यदु वंश का।
अपराधी जिसका बना हूँ। पर तुम तो

यदुओं के सेनापति रक्षा उसकी करो।
भागो मत सामने से वैरी के समर में।
कीर्ति यदुवंश की बढ़ाओं निज कर्म से।
रोको सूतसुत को न आये यहाँ लड़ने।
प्राप्य को तुम्हारे यदु छीने नहीं तुमसे।
ऐसा जो करोगे, नतमस्तक बनूँगा मैं।
सामने तुम्हारे यदु-वंश की विभूति ! हे
देखें यह लोक यदुवंशी यहाँ कोई है।
आया जो समर में बढ़ाता यदु-वंश को
अन्तर्विरोध या कि जन क्रान्ति करके,
सम्भव नहीं है जो सुधारें उसे आज ही।
रोक कर कर्ण को, हटाओ धनञ्जय को,
और तब निश्चय है धर्म पद न्याय का
तुमको मिलेगा। सात्यकी का अपना भी मैं
न्याय करने का अधिकार तुम्हें स्वेच्छा से
अर्पण करूँगा। और सामने तुम्हारे मैं
शीश भी उठाना नहीं चाहूँगा भविष्य में।
महिमा बचायी आज वंश की जो तुमने।
निश्चय है पूजित रहोगे इसी गुण से।
भार जो सुधर्मा में उठाया आप तुमने,
वहन करो जो उसे, धन्य वह होगी ही।
जन अपराधी कहते हो मुझे तुम जो,
सिद्ध करने का यही अवसर है उसको।
सूतसुत जैसे कालदूत बढ़ा आता है
रोको उसे, मन में जो कुलविधि बैठी हो।''

नाद से विवश यथा गंध - मृग होता है
शबरी के, मंत्र मुग्ध वैसे बना पल में
धीर कृतवर्मा, हो अधीर देखने लगा,
व्योम कभी, और कभी पीछे रणभूमि को,
नाची मुसकान मंद कृष्ण के अधर में,
नेत्र में, कपोल में, सुधा में, इन्दु डूबा हो।

बोला पार्थ--''कृतवर्मा सोच करते हो क्या?
शस्त्र धरो या कि फिर पीछे हटो रण से।''

तब तक आया रथ कालपृष्ठ धारी का
डोली भूमि, व्योम हिला, रथ ज्यों तरुण का
सागर को मथता चला हो।

नभतल में
बाहु दंड ऊपर उठा के कृतवर्मा ने
धीर मेघ वाणी में कहा--''हे लोक - विजयी!
अंगपति! धर्म की शपथ कुल विधि की
मुझको दिया है, इस कपट - शरीरी ने
शस्त्रहीन सारथी बना भी, विश्व भर के
रथियों का कालदूत, जिसके कपट से
देवव्रत भीष्म गिरे मारे गये। द्रोण भी।
वीर हीना भूमि बनी जिसके कुचक्र से।
पुण्य इस भूमि को डुबाया रक्त - नद में।
जिस कूट कर्मा ने, शपथ बद्ध उससे

हो चुका हूँ सेनापति यदु वाहिनी का मैं।
अर्जुन की मेटूँ रण - लालसा समर में,
अवसर मुझे दो, वीर! अनुरोध मेरा है।
आग्रह करता हूँ, यदुकुल के विधान की
शपथ मुझे है मिली। मुझको दिखाना है,
देखे यह दम्भी, कुल - भक्त कितना हूँ मैं।
मिट क्यों न जाऊँ, कुल - भूति को बढ़ाऊँगा।''

हँस कर बोला कर्ण--'मित्र! वसुदेव की
निन्दा करते क्यों, कुल - धर्म से परे हैं वे।
देवता की बात हम जानेंगे मनुज क्या?
मरना हमें है एक दिन, पर ब्रह्म का
जिसने लिया है अवतार मृत्यु बन्ध में,
याकि कर्म बन्ध में भी आयेगा कहो, कभी
लोक का रहस्य वह लोक ही मिटायेगा।
रचता वही है फिर नाश भी करे वही।
बाधक बनेंगे कहो कैसे हम उसके
पथ के। बाँधेगा वह कैसे कुलधर्म से,
सत्य से, कि नीति से? कपट दम्भ नर का
दूषण जो, भूषण बना है उसके लिए,
आग्रह करो या अनुरोध मुझसे करो,
आज्ञा ही अलम हैं तुम्हारी सूत - सुत को।
बुद्धिहीन वीरता तरी है लघु सिन्धु में,
देवकी - तनय सिद्ध करते रहे यही,
यह भी मनस्विता है वसुदेव सुत की,
साधन बने जो तुम आपही हो उनके,
शत्रु शपथ कब मानते विवेकी हैं।

फिर भी अवज्ञा नहीं करता तुम्हारी मैं
धीर-मति से जो कहो मानता हूँ मुझको।''

बोला कृतवर्मा ''देखता हूँ, कूटमति ने
अर्जुन का संकट मिटाया, इस विधि से।
साधन बनाया, मुझे हित साधना में जो।
पर अब शत्रु से निमन्त्रित कहो भला
कैसे छोड़ जाऊँ उसे?''

'छोड़ता उसे हूँ मैं
यदुरत्न! मान कर तुम्हारे अनुरोध को,
अवसर नहीं यह निन्दा या प्रशस्ति का।''
मुग्ध मन जैसे वसुसेन कहने लगा--
लोक-जयी गाण्डीवधारी से समर का
तुमको सुयोग मिला, कृष्ण की शपथ से
तीखी भी महौषधि जो रोग के समन का,
साधन बने तो सुधी चाहते हैं उसको।''
हँस पड़ा वीर निर्निमेष लगा देखने
अर्जुन को। मोद की तरंगें नेत्र भाल में,
आनन में, छाईं। कवि कैसे चित्र उसका
शब्द में उतारे, अनुभूति, हीन जिसकी
जानती नहीं हैं, चिर वैरी को समर में
देखकर कैसे कोप लोप होता मन से।
और किस माया या कि मोहिनी में मोद की
बज उठती है मंजु-रागिनी, अतल को

बोरती सुधा में, वैर प्रेम बन जाता है।

कालपृष्ठ - धारी नाद विवश भुजंग सा
भूल के प्रकृति धर्म जैसे प्रतिघात का
तुष्टि में रमा हो, तभी देखकर उसको
धीर मेघ वाणी में किरीटी कहने लगा--
''सूत - सुत ! सस्मित अधर में तुम्हारे क्यों
रोष छोड़, आँखें क्यों पड़ी हैं अनुराग में?
कालनाग विष छोड़ कैसे सुधा पीता है?
हीन बल मान मुझे निर्भय बने हो क्या ?
शोभा नहीं वीर की प्रगल्भता। इसी से मैं
करता विवाद नहीं वैरी से समर में।
गाण्डीव रसना है, मेरा शर शब्द है,
जानते नहीं क्या तुम अधिरथ - तनय हे !''
''जानता हूँ, हीन - बल माना नहीं तुमको
आज तक मैंने कभी। और रोष जिसकी
सुधि तुमको है बनी, शेष नहीं मन में
मेरे, अब निन्दा नहीं सुनता तुम्हारी मैं।
भाग्यशाली तुम सा विपक्षी पा बना हूँ मैं।
शंका नहीं शौर्य में तुम्हारे रणधीर हे !
निन्दा करते हैं नहीं वीर बली वैरी की।
निन्दा करता मैं नहीं, चन्द्र में कलंक ज्यों
परवश बने हो तुम जय अभिलाषी हे !
आर्य नीति रण की मिटाते चले जाते हो,
प्रेरणा से देवकी - तनय की, इसी का है
खेद मुझे। फिर भी कलंकी चन्द्र किसको

मोह नहीं लेता, मोद-मग्न वीर तुमको
देख कर मैं जो बना, व्यंग्य-परिहास की
वृत्ति उसमें है नहीं, मन के विकार में
डूबना नहीं है मुझे।''

उत्तर समर के
धूलि धार प्रलय पयोद जैसी, उठ के
ऊपर गगन में समायी, नया नभ ज्यों
अम्बर के नीचे बना, दिनमें निशा बनी।
घोर रोर छाया आर्तनाद जीव कुल का।
सृष्टि नाश में हो यथा काँपे वीर भय में।
चीर के विपक्षी अलम्बु दानवेन्द्र को
रक्तस्नात आतंक सा तनय हिडिंबा का,
काल देह धारी बड़वानल समुद्र में
रण में समाया, याकि वीर रस तरु ने
धारण किया था रक्त कुसुम। दिनान्त में
कच जाल ऊपर तना था मेघ जल सा,
भौहें रणधीर की कि काल का धनुष थीं।
धधक-धधक ज्वाला जलती थी भालनेत्र में।
श्वास में मरुत वेग यम के दशन से
सृष्टि चाटने को खुले किंचित दशन थे।
सिंहनाद बार-बार करता समर में,
क्रोधवन्त काल सा समाया बली। भय से
होकर अधीर गज भागे मेघ दल ज्यों,
भागता गगन में समीरण के वेग में
कंदुक सा फेंकता गयन्द रथ राजि को,

आगे बढ़ा वीर, वृक किंवा मेष दल को
हाँक के चला हो, मन्द दन्ति पद्म सर में
पद्मराजि मूल से उखाड़ फेंकने लगा;
पद्मधर पर्वत कुचल वनराजि को
समतल धरा को करता है। महाग्राह या
चक्रगति में है नद नीर मथने लगा।
मन्दर शरीर महासिन्धु की मथानी था
हहर-हहर, तड़-तड़, धाँय-धाँय की
ध्वनि से दिशाएँ भरीं दुर्निवार भरने।
आयुधों से पाट दिया व्योम, या कि नभ में
फैली विकराल ज्वाल, किंवा कुरुभूमि के
लीलने के हेतु काल-रसना पसार के
नृत्य रत जैसे व्योम पथ धूमकेतु से
प्रज्वलित। किंवा असि जाल महाकाल ने
खोल के बिछाया नभ तल में सुमेरु से।
किंवा यह सरिता कृशानु की चली है ज्यों
भस्म करती है चली धरती दिगंत को।
ज्वालामुखी मुख से अजस्र चलता है क्या,
अग्नि द्रव या कि अग्नि मेघ घहराते हैं?
दुर्जय, घटोत्कच कराल काल-दंड सा
घूमा रण-भूमि में वराह रूपी हरि ज्यों
घूमें सिन्धु तल में थे धरती उठाने को।
दो ही कर दानव के जैसे दो सहस्र हों,
प्रलय मचाने लगे दारुण समर में।
दंड भी न बीता कुरु-व्यूह महावीर ने
तोड़ कर फेंका महानद के प्रवाह में।
टूटा बाँध बालू का, स्वचालित अशनि के

घात से कि खंड खंड - पर्वत शिखर थे।
गज से घुमा के गज मारा, रथ रथ से,
सैनिकों से सैनिक, विपक्षी प्राण भय में
भय ग्रस्त भागे। कुरुदल के महारथी
हार थके। धीर कर पाये नहीं वाहिनी।
पाण्डव चमू में सिंहनाद हर्षनाद था।
कौरवों में हाहाकार धीरता धरा की भी
जैसे मिटी। विश्वजयी वीर कुरुदल के
हत चेत किंवा हत बुद्धि से बने हैं ये।
साहस मिटा है, धीरता है मिटी मन की।
वीर - धर्म भूले बली। कायरों की गति को
कवि क्या कहेगा? जहाँ वीर वीर - भूमि को
छोड़कर भागे। जिस मारुत में गिरि के
शृंग उड़ते हैं, गति जाने कोई रूई की?
हार कौरवों के रथी नाना विधि लड़के।
अजर अमर रक्त बीज सा समर में
दृष्टि जहाँ जाती वहीं भीम का तनय है।

स्वर्ग से अधोमुख त्रिशुंक गिरा जैसे था,
वासवी की प्राप्ति को चला था पर शाप से,
ऋषियों के नकुस गिरा था अधोमुख हो
सर्प योनि प्राप्त कर, किंवा बलीराज ज्यों
स्वर्ग भोग छोड़ के समाया रसातल में,
विक्रम से बावन के दारुण विषाद में,
मग्न - मन बोला कुरुराज गुरुसुत से--
"पूज्य पाद घोर इस संकट से भाग की

युक्ति सूझती है नहीं, अब अविलम्ब जो
मारा नहीं तुमने हिडिम्बा के तनय को,
कुरुवाहिनी के धराशायिनी निरेखोगे
और जो मनोरथ रहा है इस दास का
स्वप्न सा मिटेगा, हीन जन्या सुत कुन्ती के
पुण्य कुरु भूमि को ग्रसेंगे, राहु रवि का
ग्रास करता है यथा। धर्मनीति मेखला
टूट के रहेगी। देव - गुरु के प्रताप से
रक्षित है जैसे देव सेना बन्धु वैसे ही
रक्षा करो कुरुवाहिनी की काल दूत से।''

बोला गुरु पुत्र - ''कुरुराज। देखता हूँ मैं
वज्र के बने हैं अंग भीम के तनय के
वासव की शक्ति, याकि ब्रह्म सिरा ब्रह्म की,
पाशुपत शंकर का, पाश या वरुण का,
दंड यमराज का। दुरन्त इस दैत्य के
मारने में सफल बनेगा। शस्त्र नर के
असफल रहेंगे मित्र! दिव्य देव शस्त्रों से
दुर्निवार दानव मरेगा, रोकने को मैं
जाता हूँ निदेश से तुम्हारे, पर मन में
शंका - सी है बनी आज इस रण में
होकर रहेगा क्या?

बढ़ाया रथ द्रोणि ने।
भड़के तुरंग देख दानव को सामने।

रास को सँभाला सारथी ने मनोयोग से।
बोला द्रोणि --"क्रूरकर्म दानव हैं करते,
दानवी तनय! तुम योग्य ही तुम्हारे हैं,
कर्म यह रक्त की जो होली खेलते से हो;
फिर भी तनय भीमसेन से मनुज का।
धर्म भी निवाह हो कुछ, वीर यदि तुम हो
तब तो समान बल विक्रम के वीर से
रण करो। रोको यह हिंसा हीन-मति हे!"
आँखें चलीं चन्द्र-सी, भृकुटि तिरछी पड़ी,
रक्त बना आनन में आभा थी अनल की।
बोला सिंह ध्वनि में-

"बताओ तुम्हीं कर्ण हो?
भय तुमने है दिया जननी-जनक को।
यदुरत्न और धर्मराज भयभीत हैं,
नाम से तुम्हारे, वीर कुल के किरीट जो
मझले चचा हैं, जो किरीटी कहलाते हैं,
उनको भी भय तुमसे है। आप जननी
द्रौपदी जो प्रस्तुत थी तुमसे समर को।
बोलो, रण-लालसा तुम्हारी अभी पेट के
अभय करूँ, मैं जननी को पितृ-कुल को।"

हँस कर बोला द्रोणि --"मानव रथी सदा
दानव से रहते विरत, हीन-जन्मा से
परिचय की विधि नहीं। रक्त से तुम्हारे जो
धरती को तुष्ट करे जानो वही कर्ण है।"
अधर दबा के तले दाँतों के बली ने जो
चरण प्रहार किया भू पर, समर की

डोली भूमि, बोला--"तब सामने मिलेगा जो
मेरे लिये होगा वसुसेन वही, उसको
मार के धरा को तुष्ट करता रहूँगा मैं।
अन्यथा किसी से नहीं मेरा कहीं वैर है।
एकमात्र चाहता उसे हूँ आज रण में।
भेजा जननी ने मुझे मारने को जिसके।
मिलता मुझे जो नहीं, देखो, कुरुसेना को
करता अभी हूँ धराशायिनी।"

धनुष को
खींच शर सन्धानित करने लगा बली,
घोर नाद प्रलय पयोद सम करके।
नाची मुसकान अधरों में गुरुपुत्र के।
दानव धनुष था कि यम के महिष के
शृंग - युग एक में जूटे थे, काल फणि सी
काँपती थी मौर्वी। अविराम फणिधर - से
शर - चले, क्रौञ्च गिरि शृंग से चले हों ज्यों,
लक्ष्य - सिद्ध द्रोणि ने निबारे शर अरि के।
आया भीमसेन तभी। देख जिसे मोह में
सिंहनाद दानव का गूँजा वज्रनाद - सा।
कुरु - रथियों के साथ आप कुरुराज भी
आया वहाँ। द्रोणि हँसा। समवेत रण में
रत प्रति - पक्षी बने देवासुर रण - सा
दारुण समर चला। मन्दर अचल - सा
अचल, अजेय, घटोत्कच रण - मद में
मत्त हो धनुष फेंक दौड़ा क्रुद्ध काल - सा।

दुर्निवार दानव का सिंहनाद सुन के,
और विकराल रूप देख कर उसका,
भय से अधीर हय भागे पथ छोड़ के,
ग्रास करता है रवि - मण्डल का राहु ज्यों,
ग्रसित बली ने किया रथियों को रथ में।
चूर - चूर दारुण गदा से करने लगा,
रथ राजि भूतल में आये रथी, सारथी,
भग्न रथ। गुरुपुत्र खींच के धनुष को
भू पर खड़ा था, तभी बोला भीमसेन कि
"छोड़ो वत्स। विप्र! यह आगे कुरुराज का
रथ जा रहा है, धरा - विजयी समर के
अब हो अजेय तुम्हें रोक कौन पायेगा।"

सिंहनाद दारुण सुनाता वज्र वेग में
भीम का तनय बढ़ा "रोको अंगपति हे!
दानव बढ़ा है कुरुपति के निधन को।"

आर्तनाद गूँजा सब ओर सुशासन के
संग रथ कर्ण का दिखायी पड़ा, वायु के
वेग में बढ़ी हो दव - ज्वाला, कुरुराज को
संकट में देख के दिनेश दीप्ति धर के,
रवि रश्मि जैसे शर छोड़े अंगपति ने,
दानव की देह में समाये नील गिरि में।
उरग समाये फुफकारते हुये यथा।
फूटे स्रोत रक्त के शरीर से, कि गिरि से
स्रोत गेरु के ये चले। बाधा किन्तु गति में

आई नहीं, दानवी - तनय दुर्निवार हो
घोर सिंहनाद से हिलाता रणभूमि को।
काल नाग जैसे बढ़ा विष वह्नि छोड़ता।
रुकती नहीं है गति जैसे मत्त गज की।
पद्म पुण्य मारने से अक्ष्य बना बली।
अंगपति रोक नहीं पाया भीम - सुत को
विस्मय में डूबा। मिटी धीरता हृदय की।

बोला भीमसेन--''सूत - सुत ! जिस पापी की
रक्षा चाहते हो तुम, अन्तक - सदन का
अतिथि बनेगा वह। विक्रम से पुत्र के
भाग्य द्वार खुलकर रहेगा भीमसेन का।
कुरुपति बना जो अभी देखो ग्रास काल का
बनता वही है, मृत्यु देखो निज आँखों से।
अंध विप्र नन्दन कि सेनापति तुमको
दुर्मति ने किस हीन लग्न में बनाया था।''
वेध कर मर्म हुये पार मर्म - भेदी के
शब्द भीमसेन के सुमेरु मूल से हिला।
विस्मृति - सी मानस में छाई महावीर के,
अस्ति और नास्ति का विभेद यथा भूला हो।
पावस ऊष्मा में पथ खोजता पथिक ज्यों,
क्षणदा छटा है जब नीरद में नाचती।
नाची हँसी अधरों में अंगपति बोला यों--
''खोलता वृकोदर ! तुम्हारा भाग्य- द्वार हूँ
आपही मैं भाग्य - द्वार कुरुराज का,
अब तक खुला जो रहा बन्द कर देता हूँ।

विधि का विधान मान लेता हूँ विवश मैं,
सेनापति जब तक बना हूँ कुरुराज का,
सम्भव अनिष्ट नहीं। दानव - तनय की
मृत्यु में ही विजय तुम्हारी। भाग्य - द्वार के
खुलने की बात क्या। त्रिलोकी के विभव से
रंजित बनाये। धनञ्जय निरापद हो।
एक मात्र विजयी बनेगा इस रण का।''

दुर्निवार दानव घुमाता गदा व्योम में,
सिंह यथा वृष पर टूटा, कुरुराज का
धर लिया रथ काल प्रेरित ने पल में।
हाहाकार फैला कुरुदल में, दवाग्नि में
आर्तनाद जैसे वन्य जीव करने लगे।
कालपृष्ठ जैसे चली त्यों ही वीर - घातिनी
दारुण अमोघ शक्ति वासव की, मेघ के
तल से चली हो यथा दामिनी दिगंत में,
व्योम और भूतल में ज्वाला सी उगलती,
मुँद गये नेत्र रथियों के जिस तेज में,
और जिस ध्वनि में अचेत रणभूमि थी,
काल - शक्ति दानव का मर्म पार करके
व्योम पार करती समायी अन्तरिक्ष में,
लुप्त हुई। जैसे धूमकेतु लुप्त होता है
व्योम - पार। ''हाय पुत्र !'' कहता अचेत हो,
वज्राहत जैसे गिरि श्रृंग रथ में गिरा
भीमसेन। विस्मित विमोहित रथी बने
दोनों दल के थे, अनहोनी सी निरेखते।

अद्‌भुत घटना - सी घटी, भीम के तनय के
हाथ से गिरी थी गदा दोनों भुज नभ में
ऊपर उठे थे, महावीर प्राण पीड़ा में
सन्निपात - ग्रस्त रणभूमि मथने लगा।
अंधा बना पक्ष या विपक्ष सब भूल के।
प्राण छोड़ने के पूर्व आहत मृगेन्द्र ज्यों
घोर नाद हाय! करता हो प्राण पीड़ा में।
बोला दानवी का सुत--"माता कहाँ तुम हो?
मरता अभागा यह पुत्र छोड़ तुमको।
वन में अकेली तुम कैसे रह पाओगी।
कब तक देखती रहोगी पथ पुत्र का।
जन्म लिया जिसने था ताप तुम्हें देने को।"
वज्राहत शैल यथा भू पर महाबली
गिर - गिर के उठने लगा जो, शत्रुदल में
त्राहि - त्राहि फिर से मची थी, मरे दब के
कौन जाने कितने पदाति, रथी, सारथी।
पल भर को चेत यथा आया और कर्ण को
देख कर दौड़ा बली, किन्तु मध्य मार्ग में
छोड़ के शरीर उड़े प्राण भूमि तल में।
मूल से उखड़ कर कुसुमित विटप - सा
किंशुक के आया बली। लीला भव - लोक की
लुप्त हुई। मन्दर अचल - सी अचल थी
देह रणधीर की। दबे थे शत्रु जिससे।
कौरवों में हर्षनाद किंवा सुधा - वृष्टि थी,
विधि वरदान हीन - भाग्य को मिला हो ज्यों।
घेर के सुयोधन को कौरव रथी सभी
मोद - निधि मोद में लुटाने लगे। शोक के

अतल - समुद्र में ज्यों डूबे पांडु - सुत थे।

अर्जुन के साथ कृष्ण आये और भीम को
करते सचेत यथा बोले-- "पुत्र घात का
बदला महारथी लो, रोने के लिये तुम्हें
दिवस पड़े हैं। पुत्र शोक जानता हूँ मैं।
दारुण नहीं है अन्य पीड़ा हो कि इसकी
समता करेगी अब इस भव लोक में
वैरियों का हर्ष महासिन्धु सा अगम हो
तोड़ के किनारा तुम्हें बोरने चला है जो
बड़वानल बन के सुखाओ उसे वीर हे!
पुत्र - घात जिससे हुआ है, वह इन्द्र की
शक्ति, जो सुरक्षित थी अर्जुन - निधन को,
पूजा करता था वसुसेन नित्य जिसकी,
हाथ से गई क्या, प्राण उसका चला गया।
वीर तेजहीन बना रवि ज्यों दिनांत का,
देखो सूत - तनय खड़ा है गत चेत हो।
अर्जुन निरापद बने हैं अब रण में।
कालपृष्ठ धारी काल - प्रेरित समर में
हत हो गिरेगा, कल अर्जुन के शर से।
आज अभी अवसर है तुमको कि चाहो जो
शत्रुओं को बोरो शोक - सिन्धु में। सचेत हो
वैरी वीर जब तक सुशासन के रक्त से
सींचो धरती को, और द्रौपदी की वेणी को।
देखो शत्रुओं को क्रम - भंग यथा तीर्थ के
यात्री दल से हैं खड़े रण भूल मोद में।

सावधान जब तक बने वे पूर्व पार्श्व में,
जा रहा शिविर ओर जैसे रणजीत के
दम्भी सुशासन हाय! देने शुभ - सूचना
भानुमती रानी को कि कैसे अंगपति ने
संकट के सिन्धु से उबारा कुरुराज को,
मार कर दुर्जय तनय भीमसेन का।
अवसर यही है महाबाहु। द्वन्द्व - युद्ध में
मारो चिर वैरी को अकेला रथी जाता है।
फणिधर की मणि सा सुशासन जो रण में
खेत रहे, निश्चय है मणिधर आज ही
शीश पीटे छोड़े प्राण। गुरुसुत नहीं वहाँ
और नहीं प्रस्तुत अभी है धीर - मति जो
कृत्वर्मा और कृपाचार्य कहलाते हैं।
दैवगति माना नहीं आज तक जिसने
विश्वजयी वसुसेन काल अक्षरों में है,
देख रहा दैव लिपि होनी से विवश हो।
कुरुराज छूटा प्राण संकट से फिर भी
प्राण भय छाया अभी मानस में उसके।
निश्चय ही रणधीर वीर सुशासन है,
पर क्या गजेन्द्र रोक पाता है मृगेन्द्र को।
और ज़ो निमज्जित है मोद के अतल में
भ्रातृभक्त संकट से मुक्त देख भाई को,
जान नहीं पायेगा कि काल शिर पर है।
'पुत्र - शूल भीमसेन। जिसके हृदय में
जाकर लगा हो हाय! दुर्निवार पीड़ा में,
पीड़ा के शमन को चले जो मत्त काल सा,

कौन रोक लेगा। विष-दन्त टूट जाने से
नाग प्रतिघात भूलता है। वसुसेन की
शक्ति तो विलुप्त हुई, वीर जब उसके
हाथ से चली थी महाशक्ति वीर-घातिनी।
अवसर यही है पुत्रघात प्रतिशोध का।
डूबे अरि-दल भी अतल शोक-सिन्धु में।
कीर्ति रहे लोक में तुम्हारी नरसिंह हे!''

''हाय भद्र! पुत्र शूल से भी जो मरा नहीं,
प्रेयसी हिडिम्बा हाय! कैसे मुख तुझको
अधम दिखा सकेगा। जीवित मृतक हूँ
फिर क्यों न मृत्यु वरूँ, घट घोर ताप से।''
सारथी की ओर देख बोला भीम--''धर्म की
तुमको शपथ है कि जीवित मुझे लिये
रथ फेरना है नहीं।''

रथ काल का हो ज्यों,
जीव गति जग से मिटाने चला, जिसमें
काल-देह-धारी काल-शस्त्र धरे। वेग में
रथ बढ़ा, अग्नि-शिखा किंवा बढ़ी वन में
भूधर जाके टकराया महानद ज्यों--
''रक्त से तेरे प्रतिशोध पुत्र-वध का,
और द्रौपदी के केश कर्षण का अब मैं
लेता, रे अधम सुशासन! सावधान हो।''
कह कर, महाबली ने बाणों की परिधि में
घेर लिया रथ सुशासन का, सहम के

बाण बिद्ध वैरी ने निवारित किया उसे।
देखते ठगे से कुरुराज वसुसेन थे।
और जो कि वीर खड़े जैसे रहे चित्र में।

बोला सुशासन--"रे अधम! देख अब मैं
भेजता तुझे हूँ यमपुर, पुत्र तुझको
निश्चय मिलेगा वहाँ ताप मिट जायेगा।
देख के अकेला मुझे मारने चला है जो,
एक दी दिनेश मिटा देता है, गगन से
शत कोटि तारकों को।"

विक्रम यशस्वी ने
वैरी को दिखाया, शर काटे सभी उसके
झंझा से निपीड़ित समुद्र, मर्यादा का
बन्ध छोड़ जैसे तट भूमि तोड़, भूमा को
बोर चला। दारुण कृतान्त-सा महारथी
भीमसेन आतुर हो, क्रोध की लपट में
शर-जाल छोड़ने लगा, जो अंग-अंग से
स्वेद चला, रोष बहा किंवा रोम रंध्रो से।
काट कर बाण-जाल वैरी का अचल-सा,
अचल सुशासन अनादर से व्यंग्य से
हँस पड़ा, दन्त किरणों में महावीर का
आनन रंगा था। या कि चन्दन का लेप था।
सर्प-दंश जैसे उच्च हास्य प्रतिद्वन्द्वी का
मर्म में समाया। भीमसेन विष ज्वार में
काँपने लगा जो तभी काट के धनुष को,

कवच, किरीट, केतु काटे रणधीर ने।
रथ वाजि मार कर सारथी विशोक को
मूर्छित बली ने किया। देवासुर-रण में
मातलि को मूर्छित किया था यथा वृत्र ने
अनिल चला हो विपरीत ज्यों दिशाओं से
घोर रथ ध्वनि में डुबाते रणभूमि को,
करते प्रचारित रथी भी प्रति पक्ष के
एक संग आगे बढ़े। संकट से भीम का
त्राण करने को कपिध्वज में किरीटी था।
कर्ण, कुरुराज नाद करते विजय का
साथ ही चले, जो भूमि डोली भूमि-कम्प में।

तब तक चलाई गदा भीम ने विरथ हो।
अग्नि पिंड सी जो चली, उद्‌भासित नभ था,
काल यथा शीश पर नाचा, झपीं पलकें,
काल गदा शीश पर आके गिरी वीर के
टूटा हेम कूट का शिखर वज्रपात से।
राहु ने ग्रसित किया मण्डल दिनेश का।
भूतल में आया सुशासन गदा घात से।
शीश था विदीर्ण उत्स रक्त का निकल के
ऊपर चला था। दाँत काटता क्षुभित ज्यों
सिंह चला, किंवा मत्त-काल सा निमेष में
दौड़ा भीमसेन, वक्ष चीर कर वैरी का
भर-भर के अँजलि दुरंत यमराज सा
ओठों से लगाया, "हाय-हाय" सब ओर था
घोरकर्मा, देखा नर-आँखों ने न जिसको,

वाणी हाय ! कवि की कहे रे, किस भाँति से ?
क्रोध - वश मनुज दनुज बन जाता है।
देवता भी होता वही शील में, विनय में।
मानव को खोजती रही है कवि वाणी जो
युग - युग से पाया नहीं उसने अभी जिसे।
देवता मिला है, कहीं दानव मिला कहीं,
किन्तु इन दोनों से बना जो मनु - पुत्र है,
कवि कल्पना का मान - दंड, किसी दिन क्या
वाणी को मिलेगा ?

उन्मत्त भीमसेन हो
भाँवर सी देने लगा वैरी के शरीर का।
काल रसना सी बनी रसना थी चाटती।
रक्त जो लगा था अधरों से काल - ध्वनि में
बोला घोरकर्मा कभी--"जल या कि पय में,
कादम्बरी - रस में, सुधा में भी, मुझे नहीं
स्वाद यह मोहक मिला था, जो कि वैरी के
रक्त में मिला है अभी। अन्तक अतिथि रे !
द्रुपदा के केश धरे तूने किस कर से,
और किस कर से हा खींचा उसे तूने था ?"
प्राण पीड़ा दारुण दबाता मनोयोग से,
मन्द - हास्य - रंजित अधर सुशासन ने
दायाँ हाथ ऊपर उठा के कहा, यह है,
दायाँ कर मेरा दान और शत्रुजय में
निपुण रहा जो सदा, कौरव - अरण्य की
दारुण - भुजंगिनी के केश इसी कर से

खींचा रे नराधम! था मैंने। कटुभाषिणी
विष - बुझी जीभ उस कृत्या की न मैंने जो
मूल से उखाड़ा, खेद मुझको इसी का है।
अब क्या विवाद करता है मन्द मति रे!
प्राण जा रहे हैं, रक्त - स्रोत सूख जायेगा
मेरा अभी। पीले यदि तृप्ति नहीं आई हो
और केश भी तो उस दानवी के रक्त से
मेरे ही बँधेंगे। रक्त ले के नहीं जाता क्यों,
अन्यथा रहेगी मुक्त - केशी ही पिशाचिनी।''

भूतल को, व्योम को हिलाता उच्च हास से
नीचे झुका भीमसेन, और धर के हाथों में
मूल से उखाड़ी भुजा, भर कर अँजलि
शोणित से शत्रु के, शिविर ओर भागा यों
भागता हो जैसे मत्त काल सृष्टि - लय में।
द्रौपदी - शिविर में समाया, जहाँ कवि की
कल्पना में मुँदी आँख, मूक बनी वाणी है।
साहसिक जग के, या चित्त जिनका रँगा
प्रतिहिंसा रंग में निरेख शीश नारी का,
अरि रक्त - रंजित हँसी या उन्मादिनी
उसकी सुनें वे, उन्मत्त जो कि रहते,
उन्मादन कवि - कर्म में है नहीं।

रण में
रथियों ने मूँदी आँख, हाय रे! हथेली से
जड़ ज्यों किरीटी बना, कृष्ण भाव - हीन थे;

पक्ष - हीन पर्वत - सा रथ में गिरा तभी
हत भाग्य कुरुराज। देख वसुसेन को
रथ छोड़ भू तल में आते, मर्मभेदनी
वाणी में सुशासन धरा को सींचने लगा,
सन्निपात ग्रसित याकि विभ्रम में बुद्धि के
बोध की विभूति चली, जैसे कंठ तल से
''चिन्ता नहीं अंगराज। वीर कर्म करके
मरता अभागा है अनुज कुरुराज का।
दैव जब काल बना कैसे रोक लेता मैं,
कैसे तुम रोक पाते, होनी टलती नहीं,
अन्यथा पराजित किया था जिस शत्रु को
मैंने बाहुबल से। किरीट, केतु, चाप से,
रथ सारथी से हो, विपन्न मृग जाल में
जैसे फँसा, फिर भी तो देखो दैव गति हे
लोकजयी उसकी गदा में काल आप ही
आकर समाया प्राण कंठ - गत अब है।
धर्म और धीरज की संकट कसौटी है।
डूबती है नाव कुरुवंश की अतल में।
पार करना है उसे। भाई के चरण में
रति रही मेरी जो निदेश उनका रहा,
धर्म मान शीश पर मैंने लिया उसको,
सम्बल बनेगा वही मेरी महायात्रा का।
तोष देना जैसे बने, उनको कहूँ क्या मैं,
भानुमती जननी सरीखी इस दास की
पुत्र वत्सला हा। हत् - भागिनी प्रियंवदा
शशिकला प्रेयसी चकोरी यथा चन्द्र की
वासन्ती सती से, जिस तन की सुधा मुझे

दग्ध कर पाये नहीं जननी जनक के
चरणों में अन्तिम प्रणाम अब मेरा है।''

भूतल में बैठा वसुसेन ध्यान मग्न सा
देखने लगा जो उसे शब्द कंठ-तल से,
आधे रुके अर्थहीन जैसे रहे चलते।
आवरण छाया पद्म-आँखों में तुषार सा,
तंद्रा की दशा में स्मित रंजित अधर थे,
धूम-हीन अनल बना ज्यों प्राणहीन हो,
गति हीन वीर का शरीर पल में बना,
भूले द्रोह वैरी भी, दया की दिव्य किरणें
आनन में नाचीं धनंजय और कृष्ण के।
घेर के रथी थे खड़े भूले देह-सुधि को
पश्चिम दिगंत में अचल ज्यों दिनेश हो,
देखने लगा था गति जीव की जगत में।

●

नवाँ सर्ग

अस्ताचल ओर चला रथ है दिनेश का।
कोमल कपोल के चरण सा गगन के
नीचे रवि मण्डल चला है चिर विजयी
दिनमाणि भी तेजहीन हो के सिन्धु जल में
डूबने चला है अब पश्चिम दिगन्त में
काल गति दुर्निवार रवि भी बचा नहीं
जिस गति से है, जीवधारी जीव लोक के
बच के रहेंगे भला कैसे उस गति से?
बहने लगा है मन्द अनिल दिनान्त का
हिलती लतायें शिरा पत्र पादपों के हैं

हिल हिल के जैसे पक्षियों के लौट आने का
संकेत करके बुलाते उन्हें पक्षी भी
कलरव में सूचित करते हैं 'अभी आते हैं।'
पंक्ति बद्ध उड़ते विहंग नभ तल में
किंवा रंग रंग की बही हैं सरितायें ये।
रवि की विरल रश्मि राजि पद्म बन को
भूतल को छोड़ लता गुल्म वनराजि को
ऊँचे तरु शीश और भूधर के ग्ल में
जाकर टिकी है पराभव में विनाश में
अन्तकाल में भी गति ऊँची सुधी धरते
हेमराशि लोक में लुटाता अन्तरिक्ष की
ओर डूबने को रवि दानी बढ़ा अब है।
दैव विपरीत जब होता बुद्धि बल के
होते फल हीन सभी साधन जगत में

कोटि कर रवि के बने हैं असहाय ये
रोक नहीं पाते अन्त रवि का गगन में
अपरा के। संध्या लता जाल सी प्रवाल के
बढ़ने लगी है। यह पद्म पद्मवासिनी
पद्म दल छोड़ चली श्रीहत वनज है
रो रही धरा है देख पति के वियोग को
इन्दीवर नेत्र मुँदे जा रहे हैं छोड़ के
अश्रुराजि जैसी। भ्रमरावली विषाद में
गिर रही भूतल में कान्तिहीन बन के
रवि किरणें ये दिनमणि के बिछोह में।
पति अनुरागिनी सती सी लाल वस्त्रों में
सज रही सन्ध्या, वन्दना है लोक करता
महिमामयी का।

पतिप्राणा इसी संध्या सी
किंशुक कुसुम माला जैसी लाल वस्त्रों में
वासन्ती सती है सजी पति अनुरागिनी
सज्जिता बनी है सती वासन्ती विषादिनी।
प्राण छोड़ देह को गये प्रिय संग जो
आगत अनागत के भेद मन से गये
मूर्ति पद्मराग की बनी है नभ वासिनी
किंवा आप संध्या उतरी है धरातल में।
चेतना विहीन श्वास गति भी रुकी है जहाँ
दारुण विषाद के, अतल अन्धकार में
डूबी सती वेणी बिखरी है कण्ठ वक्ष में
चन्द्रमुख घनजाल जैसे केश जाल से
आहत बना है। सुधा हीन सुधाकर या

कुसुमित बल्लरी दवाग्नि में घिरी हुई
किंवा पद्म सरसी तुषार के निपात में
रूप रश्मि हीन सती देख जिसे हाय रे!
वाणी गतिहीन हो रही है किस भाँति से
चित्रित करेगा कवि अबला विषाद को।
कामना सुधा की जिस वाणी ने किया सदा
विष पान करना पड़ेगा उसे अब तो
विधि का विधान यही कवि कर्म बन्ध भी
जीव कर्म बन्धन सा विषम जगत में।
एक कर में है सुधा दूसरे में विष है
दोनों मिले कण्ठ में यही है कवि साधना।
दोनों कण्ठ तल में मिले हैं कवि वाणी में
सुख और दुख शोक हर्ष समरस हैं।
समरस बनाता चले जीव-वृत्ति भेद वीर
बनती अभेद कवि वाणी में इसीलिये
जीवन विहीन यथा ग्रीष्म की वसुन्धरा
अन्त: सलिला सी अश्रु स्रोत पद्म आँखों से
अविरल बहाती हाय! सींचती कपोलों को
कण्ठ, वक्ष तल को कि दारुण विषाद की
अग्नि मन में जो जली उसको बुझाती है।
भीतर अनल जहाँ बाहर सलिल है
मूर्तिमती करुणा कँपाती कवि वाणी को
काँप रही शिशिर निशा की हेम वल्लरी
काँपती हो जैसे हिम पात में। कपोलों में
कज्जल की रेखा पड़ी विरह अनल के
किंवा पथ दोनों में बने हैं दिशा अपरा
सन्तप्त जैसे सती काँपी भूमि कम्प में

गत चेत रूपसी धरा में गिरी हाय रे।
यौवन की मोहिनी उड़ी या पंखों में
पति के विरह के? विभव रूप का नया
राग रंग लोचन, अधर से कपोल से
कटि वक्ष देश से गया रे कहाँ पल में?
स्फटिक शिला सी श्वेत गतिहीन भूमि में
प्राणहीन जैसे पड़ी।

शोक- वातचक्र में
भाँवर सी देती चली भानुमती झुक के
हाथों में उठाया उसे अंक में समेट के
बैठी। मर्म भेदिनी गिरा सी यथा काँपती
शोक का अनल जगा मानस में मुख में
दीर्घश्वास मोती की लड़ी सी चली आँखों से।
आँसुओं से भाल और कण्ठ देवरानी का
सींचती सी बोली, ''दैव! देखना अभी है क्या
और भी जो प्राण ये अधम तन में टिके।
पाप कितना था किया मैंने पूर्व जन्म में
भोग अभी जिनका मिटा है नहीं? पर क्यों
दोष दैव को दूँ हाय! जिसने सदय हो
स्वप्न में लली को था दिखाया यह सब जो
सावधान जिसने किया था पर हठ से
रण में समाये बली काल के वरण को।
रोक कर हारी रोक हारे बन्धु पुत्र के
बध से न रोये वही रोये थे शिविर में।
भाग्य हीन कुरुपति का पुत्र प्रेम भाई में
जाकर टिका था हाय! वह भी गया कहाँ?

बीच पथ में ही कहाँ टूटी अरे अब लकुटी
लोचन विहीन दीन सहारा पथ का मिटा।
कौरवों का दीप दैव! जननी जनक को
छोड़ असहाय बुझा।'' शीश भूमि तल में
पीटने अधीरा राजरानी लगी सुन के
दारुण विलाप हिला व्योम नभ तल से
पक्षी चले सन्ध्या अपरा के नीर निधि के
तीर चली पति की चिन्ता में सती होने को।
आया तभी चेत यथा विभ्रम में सहसा
माधवी लता सी हिलती ज्यों वायु वेग में
छोड़ के सहारा महादेवी का खड़ी हुई
पुतली कि सोने की उठी थी मन्त्र बल से
बोली मंजुघोषा मंजु मुरली कि नभ का
मर्म भेद बोली पिकी पंचम में-

''अब क्या
रोने से सदय काल होगा और तुम को
लौट के मिलेंगे आर्य सुत जो कि रोती हो?
विधि का विधान अबला के नेत्र नीर में
डूबा था कभी क्या जिसे चाहती डुबाना हो?
मंगल की बेला यह रोने को बनी नहीं
वीर-कर्म करके मरे हैं वीर रण में
वीर गति उनको मिली है इस जग के
वीरों की चरम कामना जो। वीर बाला की
वीर रमणी की जो विभूति जिस बल से
नारी महामाया बनी दुर्गा या कि अम्बिका
शक्तिरूपिणी जो मोहिनी जो भवलोक की।

चेत धरो ऐ महादेवी ! किसके लिए
रोना तुमको है कहो देवर तुम्हारे क्या
छोड़ रणभूमि मुझे मोह में शरीर के
कायर बने क्या या कि वीरधर्म छोड़ के
छोड़ के शरासन बने हैं दण्डधारी ये।
लज्जा और ग्लानि जिसकी है तुम्हें जिससे
आँसुओं से धोती हो कलंक अधिसुत का!
मान और गौरव मिला क्या नहीं उनसे
तुमको कि रोती असहाया सी बनी हुई।
वीरजननी का पद दो दो बार तुमको
अब तो मिला है इस मंगल की बेला में
मंगल मनाओ चली आओ निज हाथों से
एक बार मुझको सजाओ जिस प्रेम से
मान मनुहार से सजाती अब लौं रही।
भागती थी मैं तो जब रम्भा, शची, उर्वशी
रति और क्या क्या तुम चाहती थीं बनाना
साज से, सिंगार से दुलार राजरानी का
पाकर मैं जैसे गड़ी जाती थी अवनि में।
अब जब छूटना मुझे है भव बन्ध से
धरती से खींच के चरण पंख धर के
अमर भुवन में है जाना मुझे देख के
देव वनितायें भी सराहें रूप दासी का
देवसरि नीर में निरेखें रूप अपना
और तब देखें मुझे विस्मय से नभ से।
कहती तदर्थ आप ही मैं महादेवी से
कौरेश्वरी से यथा माता। पति गेह को
भेजने के पूर्व निज तनया सजाती है

श्रृंगार साधन से, देवि निज हाथों से
श्रृंगार मेरा करो पूरा कभी जिसका
तुम को मिला था नहीं योग सदा जिस में
बाधक बनती मैं रही आज मन भर के
चाहती हूँ आप ही मैं-''

पश्चिम दिगन्त की
ओर देख बोली सती, ''देखो नभ तल से
उतर रही है सती संध्या दिनमणि की
पावन चिता में, जलहीन सरसी में ज्यों
ग्रीष्म की लपट में जली हो हाय! पद्मिनी
जल उठी जैस'' महारानी कहने लगी।
''सज्जित हो वैसी ही समाना चाहती हो क्या
पति की चिता में लली? आँसू नहीं आँखों में
भावहीन मुद्रा बनी वज्र सी कठोर हो।''
हँस पड़ी त्यों ही सती वासन्ती विराग में
''हाय! हाय!'' करती उठी जो कौरवेश्वरी
आया कुरुराज तभी संग वसुसेन के
नेत्र यथा दोनों के गड़े थे भूमि तल में
भाल में विषाद रेखा आँखों में सलिल की
रेखा की पड़ी थी परिताप भार ढोने में
जैसे थकीं पलकें झुकी थीं गति हीन सी!
भानुती बोली ''कुरुराज हाय! रण में
छोड़ कर आ रहे हो देह भी अनुज की
देखना ही चाहते सदा थे जिस मुख को
रंक धन देखता है याकि जैसे है
कुलपति निरखता सहारा एक कुल का

बालक अबोध। सदा संशय में रहता
दिन और रात नित चक्कर सा काटता
चारों ओर जिसके बुझाया कहाँ तुमने
दीप कुरुकुल का दिखाओ नाथ मुझको
चाहती लली है सती होना पति संग में।''
प्रिय जो मिलेंगे नहीं अग्नि तो मिलेगी ही
छाया रहती है कब छोड़ के शरीर को
चन्द्र छोड़ चाँदनी टिकी है कब नभ में ?
सूखी सरसी में खिली पद्मिनी रही कहाँ ?
सन्ध्या सती हो रही चिता में है दिनेश के
पद चाहती हूँ वही गौरव वही मिले
भाग्यवती बन के रहूँ मैं परलोक में।
पति बिना रूप और आयु की शिखा सदा
भस्म करती है दिन रात तन नारी का।
जानते नहीं क्या गुरुजन जो खड़े हैं ये ?
षोडशी की देह यह और रूप रति का
विधि वरदान बना दासी का विभव था।
बन के अभिशाप क्या नहीं वही
दारुण अनुज घात जेठ को दिखायेगा
जनक समान इस दासी के हितू जो हैं
और महादेवी हाय ! देख भी जहाँ न सकीं
निश्चय है देवर का घात वही देखेंगी।
दैवगति मानते नहीं थे अंगपति जो
लोकजयी कालपृष्ठ धारी देख मुझको
बन के विमूढ़ क्या न दैवगति वश में
भूलेंगे विवेक और पौरुष भुलायेंगे ?
देखते नहीं क्या व्योम हिलता अधीर हो

काँपती धरा है पद तल की चली है क्या
डूबने रसातल में? किस फल के लिये
जीवन की कामना करेंगे गुरुजन ये
मेरे। अब जीकर करूँगी क्या जगत में?
बीते अभी दिन कितने हैं नद आयु का
बाढ़ में बहेगा जब तोड़ के किनारों को
प्रलय रचेगा प्रिय जनों में अकेले क्या?
देखते न होंगे घूम पीछे मुझे पथ में।
आर्य विधि नारी की मिटाने के लिए मुझे
रोको महादेवी नहीं जेठ भी न रोकेंगे
नित्य जलने से जलना है शुभ क्या नहीं
एक बार और क्या न जीना ही मरण है
अब इस दासी का कहूँ मैं क्या, प्रगल्भ हो
धर्म विधि जानती तो देवी देव जानते
जानते सभी हैं कुरुदल में सुधी हैं जो
पति अवलम्ब ही नहीं जो फिर नारी का
लोक में सहारा क्या? सुना क्या नहीं तुमने
वनिता लता की गति एक ही जगत में
जब अवलम्ब टूटता है टूटती हैं वे।
आश्रय विहीन प्राणहीन उन्हें होना है।
चन्दन के पंक सी सुशीतल चिता सदा
पति की कही है गई लाभ जो चरम है
पुण्यवती नारी बनती है जिस पुण्य से
छोड़ उसे गति क्या धरूँगी कहो दूसरी
और सुख शेष ही बचे क्या इस जन्म के
ग्रहण करूँगी जिन्हें पति से विरत हो।
कहती नहीं हूँ देवि वेग में विरह के

जानती हूँ प्राण ये टिकेंगे नहीं तन में
पथ में धरूँगी प्रिय संग। मोह छोड़ के
देवी देव धर्म पथ धारण करें अभी
वेद के विधान से रचायें जेठ भाई की
चन्दन चिता को, राजरानी निज कर से
श्रृंगार मेरा करें देव वनिताओं में
पूजित बनूँ मैं रूप गुण से वहाँ भी जो
मेरे लिए मंगल की बेला यह मुझ को
रोना नहीं देवी! देव! सत्य कहती हूँ मैं
चढ़ के चिता में उन पावन पदाब्जों को
अंक में धरूँगी।''

रुकी वाणी कण्ठ तल में
साँस नासिका में रुकी नीर रुका आँखों में
शोणित लहर रुकी अधर कपोल में।
मद ज्यों चढ़ा हो निर्निमेष रुकीं पलकें
देखती ठगी सी रहीं जैसे अंगपति को।
और कभी जेठ कुरुपति को विलोकती
आँखें देखती थीं गतिहीन। चलदल सा
काँपा कुरुराज बली रोने लगा शिशु ज्यों
रोता है अबोध कामना के अवरोध में।
मन्दर मथित महासिन्धु सा महाबली
उद्विग्न कातर अधीर क्षुब्ध अथवा
क्या कहेगा कैसे कवि वाणी की अगति में।
दारुण विषाद ने सँवारा निज रूप था।
वज्राहत भूधर सा बार बार काँपता
आँखों में सलिल और श्वास में अनल को

रोक कर बोला महाबाहु "हाय ! हाय !
हाय दैव ! अनुज बधू को मतिभ्रम क्या
हो रहा है ? देखो महादेवी। शोक वेग में
रोना ही सदा है हमें। डूबा कुरुवंश है
अब तो रे दैव ! शोक सिन्धु के अतल में
भूलती विषाद में भी जाया कभी जननी ?
मूँदो आँख देवी ! देवरानी को समेट के
बैठो भूमि तल में इसे ले एकटक जो
देखती है मेरी ओर और वसुदेव को
देख कर जैसे हँसना है अभी चाहती।
आँखें कभी जिसकी उठी थीं नहीं भूमि को
छोड़ कर ऊपर जो मूर्तिमती लज्जा थी
शील की विभूति मेखला थी मर्यादा की
उन्मादिता सी देखती है वही हम को
दैव विपरीत को कि हीन पुरुषार्थ को ?
मारा गया सामने ही भाई इन आँखों के
दैव प्रतिकूल जहाँ पौरुष फलेगा क्या ?
व्यर्थ साधते हैं सुधी हीन पुरुषार्थ को।
व्यर्थ ही बचाया मुझे दानव दुरन्त से
सेनापति कर्ण ने जो भाग्य में यही बदा
मेरे था कि देखूँ हाय ! भाई के निधन को।
पुण्यमयी मृत्यु वह मेरी गई मुझ से
और अब जीवन अधम यह जीना है
विधि का विधान कब टूटा जो कि टूटता
अन्यथा हराया महाबाहु ने समर में
दम्भी भीमसेन को विपन्न सब ओर से
रथ सारथी से हीन हीन शर चाप से

भूतल में आया, पर होनी जो अटल थी
कालदण्ड जैसी गदा छूटी और बन्धु के
शीश पर आ के गिरी वज्र गिरि शृंग पे
गिरता है जैसे।''

बली रोने लगा मर्म को
भेद कर आँसू चले इन्दीवर कोष से
मोती की लड़ी ज्यों चली शीश पीट हाथों से
रोने महादेवी लगी।

गन गन काँप कै
कुम्भकार चक्र यथा विभ्रम में भ्रम के
किंवा दाघ दारुण विषाद के अनल में
करतल से आँखें मूँद वसुसेन सेनानी
पग तल की जैसे चली धरती अतल को
आया भूमि तल में अधोमुख महावली
शीश टिका धरती से कालपृष्ठ कर से
छूट गिरा दूर पद्म कम्बल अशनि के
घात से धरा में गिरा नभ और भूमि में
फैला सब ओर यथा अनल विषाद का
परिजन परिधि गत चेत या अचर थी।
''रोये यह भूमि या कि व्योम भी न रोये क्यों
जीवन के मोह में पड़े जो कि जिनके
मन में है मोह धरती का सदा रोयेंगे।
वीरता विडम्बना में कीर्ति या कि यश में
राज सुख साधन में विधि की अगति को
आँसुओं से धोकर सुगति क्या बनायेंगे?
बीती पुण्यवेला सती सन्ध्या दिननाथ के

पावन चिता में चढ़ी और मैं अभागिनी
जीवित अभी हूँ, नहीं पाया प्राण पति के
पद्म चरणों को जो रमे हैं प्राण मन में
नेत्र में रमे हैं ज्योति केन्द्र इन आँखों के
जिनके अभाव में अँधेरा यह लोक है।
कालपृष्ठ धारी भूमि तल में पड़े हैं ये
कातर हैं जेठ, बनी कातरा भवानी हैं
दारुण रे दैव! क्या पड़ेगा मुझे करना
आत्मघात आप ही जो निर्दय बने हैं ये
जिनकी दया की मंजु लहरी सदा मुझे
घेर कर बहती रही है, असमय में
सूख रही कैसे? लोक विधि से शरीर को
पावन चिता में प्राणपति के धरूँगी मैं
एहे दिननाथ! रुको पश्चिम दिगन्त के
छोर में टिक ही रहो संध्या सती तुम भी
छोड़ के न जाओ मुझे एक मात्र तुम से
लोक में टिका है सती धर्म अवलम्ब क्या
तुम भी बनोगी नहीं पति के वियोग में?
जग के सहारे सभी मेरे गये तुम भी
छोड़ के चलोगी यदि नारी की अगति से
डूब क्या न जायेगी धरा भी रसातल में
भुवन विमोहिनी! दिनेश सती सन्ध्या हे!
जब से चली है यह सृष्टि युग युग से
लोक अर्घ्य और वन्दना की अधिकारिणी
नित्य बनती हो सती धर्म के विभव से
महिमामयी हे! सती धर्म का प्रसाद जो
तुमसे मिला है इस जग को उसी से है

मुक्ति और मुक्तिमयी रमणी जगत में।
दिनमणि की पावन चिता में नित्य चढ़ के
मानवी को मान तुमने है दिया देवी हे!
मान बस मेरा रहे दासी यही चाहती
तुम से कि संग संग लेती चलो मुझ को
दिव्य उस लोक में न मृत्यु है गई जहाँ
विग्रह जहाँ है नहीं जीव नहीं हिंसा है
लालसा अनल में जलते जहाँ है नहीं
रोगी और पीड़ित नहीं हैं जहाँ जग के।
पुण्यमयी! पुण्य सतियों के उस लोक में
प्रियतम के चरण सरोरुह खिले जहाँ
दासी जो न जाये कहो पाप किस जन्म के
शेष वे अभी हैं भोग जिनका उठाना है
जीना ही पड़ेगा जिस हेतु।''

अपलक ही
आँखें टिकीं पश्चिम दिगन्त में कि संध्या की
लाली भरी नील कमलों में पद्मराग के
सम्पुट से किंवा चले मोती अविरल ये।
चंचल चरण हुये भू पर धरित्री को
छोड़ कर किंवा उड़ने को बढ़े नभ में।
घूमी सती चारों ओर परिधि बनाती सी
आँसू हर्ष के हैं नयनों में याकि शोक के
चित्र से खड़े हैं कुरुवीर गतचेता से
सूझता किसे है जो कि देखे और वाणी में
शक्ति किसको है जो कि बोले एक शब्द भी।
प्राणहीन सृष्टि ही बनी क्या या कि भव से

चेतना मिटी है। साँस भूले वीर जन हैं
देखते सभी हैं धरती की ओर मौन हो।
मन्दर मथित महासिन्धु क्रम क्रम से
शान्त हो चला है यथा धीरव्रती धरणी
छोड़ के अरिन्दम खड़ा जो हुआ पल में
वसुसेन बोला,

"देवि! एक दिन और क्या
अवसर न दोगी इस दास को कि देखे जो
दुर्निवार दैवगति कैसी है कि जिससे
कालपृष्ठ कर में बना ही रहा फिर भी
अनुज यशस्वी मरा जिसने कि वैरी को
निश्चय पराजित किया था केतु दण्ड को
काट कर, काट के धनुष को, किरीट को
रथ सारथी से हीन, हीन चर्म बन्ध से
भूतल में आया भीमसेन यम दण्ड सी
कालगदा जैसे चली।"

बोली निष्ठ मन से
मर्म को हिलाती सती, "अंगपति! अब क्या
दासी के विभवनाथ लौटेंगे धनुष से
विजयी तुम्हारे या कि कौशल से रण के
बोलो दान से या कि शौर्य से जो एक
दिन मै प्राण धरूँ और? जानती हूँ तुम रण में
निधन करोगे शत्रुदल का विजय से
वीर हे! तुम्हारी कुरुलक्ष्मी कुरुराज का
वरण करेगी फिर किन्तु फल उसका
मुझको मिलेगा क्या कि छोड़ प्रियतम को
भूमि में धँसी मैं रहूँ उत्तरा नहीं हूँ मैं

कुन्ती भी नहीं हूँ जो कि राजभोग के लिए
सुख और साधन के हेतु जन्म जन्म की
रति को विसारूँ प्राणधन से विरत हो।
मैंने भी सुना है आत्मघात कहते हैं वे
बनते मनीषी जो सती के तन दाह को
पति की चिता में। पर नारी के हृदय से
पूछ कर देखें वे बतायेगा उन्हें वही
जानता नहीं जो भोग दूसरा जगत में
पति चरणों को छोड़ धर्म पशु योनि के
मानवी धरे जो कहो भेद ही रहेगा क्या
नर और पशु में विवेक मनु पुत्र का
डूब क्या न जायेगा विडम्बना में भोग की?
भव के विभव भोगना मैं नहीं चाहती
चाहती नहीं हूँ सुख साधन जगत के
अंगपति! मोह में न भूलें धर्म विधि को
जेठ भी न भूलें कर्म रेख इस जाया की
भूलें महादेवी नहीं जग की सुरीति को
पति के भवन भेजने के पूर्व जननी
जाया को सिखाती पति रति जन्म जन्म की
गत की अनागत की नारी की सुगति है
स्वर्ग अपवर्ग अबला के जिस डोर में
एक ही बँधे हैं उसे काटूँ मैं अभागी
प्रियतम मरे हैं पर प्रणय मरा नहीं
नेत्र में रमा है वही, रूप वही, वाणी हैं
गूँज रहा कानों में पुलक रोम रोम में
मन और तन में रमे हैं इस दासी के।
स्पर्श सुख से भी स्मृति सुख मृदुतर है।

धर्म सुना एक और कर्म सुना एक है।
पति का वियोग भोगती हैं नहीं सतियाँ।
देह मोह में जो पति रति से विरत हैं
विरह अनल में वही हैं हाय! जलतीं
प्राण छोड़ काया टिकती है कहाँ? नारी जो
छोड़ पति रति को टिकेगी धराधाम में।
मांस और मज्जा से बनी जो यह देह है
घुल घुल मरे जो कहो अन्त इस पाप का
होगा कहाँ? देवर तुम्हारें जो अकेले ही
एहे महादेवी! करें पार यमपुर के
पथ को तो बोलो वह स्नेह ही तुम्हारा क्या
अन्त में न काम जो कि आये प्राणधन के।
बैरी भी हँसेंगे स्नेह हीन असमय में
कुरुकुल का दीप बुझा।'

निर्निमेष आँखों से
नभ को निरखने लगी जो हाय! रूपसी
आभा लसी आनन में जैसे महामोद की।
मोद जो कि सम्भव नहीं है इस लोक में
रति-राग में जो नहीं जग में, विभव में
सिद्धि या कि साधन में भोग में जगत के!
देखा नहीं कवि कल्पना ने अभी जिसको
जब तक बना है भव बन्ध इस मोद की
गति कहाँ जीवधारियों में जो कि कवि की
वाणी को सुगम बने! कल्पना विलास से
जीवन की धारणा भुला के उड़ जाने की
वृत्ति कवि की है नहीं कण्ठ तक भूमि के

भीतर धँसा जो छोड़ धरती गगन में
उड़ने की कामना करे क्यों ? जीव गति में
जीव धर्मधारी किस लाभ, किस लोभ में
लोक अनुरंजन को छोड़े और निज के
भाव या अभाव में मरे जो डूब ! व्यक्ति के
बन्धन से छूट विश्व रूप धर लेने में
कवि बनता है आप स्रष्टा सृष्टि उसकी
होती अनासक्त यथा सृष्टि लीलामय की।
बोली राजरानी, "गति भूलो नहीं जेठ की
और हाय ! भूलो नहीं मेरे परिताप को।
जानती नहीं क्या लली ! पुत्र के अभाव में
जननी का प्राण रमता है सदा पुत्री में।"
हँस कर बोली तब वासन्ती विराग में
याकि मतिभ्रम में पड़ी सी हुई सहसा
गरल विकार या कि मद के विकार में
"देखती नहीं हो चढ़ी सन्ध्या दिनमणि की
पावन चिता में अग्नि दान भी न देना जो
चाहो मुझको तो कहो बोलें जेठ धर्म को
साक्षी मान अंगपति बोलें वीर धर्म से
जीवन की कामना करूँ जो मैं अभागिनी
और हाय ! छोड़ूँ रति पति की परन्तु क्या
जन्म जब दूसरा धरूँगी कभी मर के
विधवा बनूँगी नहीं क्या मैं उस जन्म में ?
कर्म भोग शेष कितने हैं अभी।"

कह के
उन्मादिनी सी हँसी फूटी सती कण्ठ से।

देखने लगी जो सब ओर छोड़ लज्जा को
शील को, विनय और भय को। विराग के
वातचक्र में ज्यों पड़ी घूमी चक्र गति में
घूमती धरा हो अरे! जैसे उसी गति में
घूम रही काया हो सती की प्राण हीन सी।
श्वास गति जिसमें नहीं हो और जिसमें
रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द का न योग हो।
थर थर काँपे बली काँपी आप धरती
व्योम यथा काँपने लगा हो, चल दल सी
भानुमती काँपती चली जो बाहु बन्ध में
बाँधने सती को गतचेत भूमि तल में
तब तक गिरी जो शोक सिन्धु के अतल में
लहकी है जैसे काल ज्वाला दिशि दिशि में
जीभ सी शिखायें चाटती हों जल थल को
कैसी यह व्योम वाणी व्योम काँपता है और
काँप रहे तारक समूह व्योम गंगा में।
ध्रुव लोक धीरता गँवा के हाय! काँपता
सप्तर्षि मण्डल में चक्रगति आई यों।
ब्रह्माण्ड धधक रहा है अग्नि पिण्ड सा
काँपती बसुन्धरा क्या बेला है प्रलय की
रुद्र रोष गूँजता है जल, थल, व्योम में।

''घोर अन्धकार सब ओर अन्धकार में
भारत है डूबा राष्ट्र जन के ही हाथ से
राष्ट्र के पिता हैं मरे, वन्दी बना पापी है।''
मोहन का दास और चन्द्र कर्म का जो था
विग्रह बना जो रहा सत्य का, अहिंसा का

हत हुआ हाय! वही हिंसा से, असत्य से
काल गति लाँघने की शक्ति नहीं कवि में
वाणी अरी कवि की न मौन अब तू रहे
बीते वर्ष पैंतिस तू मौन जब से बनी
कवियों ने धन, मान पाया राज सत्ता से
लेखनी चला के इस दारुण कुकर्म पै।
गाँधी भक्त थे वे नहीं धन और मान के
दास वे अभागे कवि कर्म के कलंक थे।
गाँधी बध की जो थी कहानी उसे भूल के
भूल परिणाम उस वज्र के निपात का
भ्रम जाल बुनते रहे ये लोक मन को
भ्रमित बनाना इन कवियों का कर्म था।
गाँधी की विभूति इन कवि नाम वालों के
ध्यान में न आई फिर धारणा, समर्पण की
बात कवि कैसे कहे वाणी हे दयामयी!
गतिमती अब भी बनाती लोकमन को
गति मिले गाँधी की विभूति कवि मन को
चेतना की धारा में-बहा के उसी धारा में
भारती प्रजा का योग-क्षेम अब से चले।
कहती है गति रुकी तेरी उसी घात से।
अब तक रुकी ही रही प्रिय के विषाद में
भारत के बापू गये प्राण देश का गया
प्राण हीन वाणी बनी कंवि की। वियोग में
प्रिय के न कोई कभी नाचता न गाता है।
नाचता मयूर सदा रम प्राण मन से
कोकिल की कूक में भी रन माण मन है।
धन लोभ में जो रमे कवि जन ये उनकी

लेखनी के गीत लोकमन से विरत थे।
हीन राजतंत्र से मिली थी भीख इनको
लोक मन से तो हाय! केवल घृणा मिली।
बापू बध जैसा हीन कर्म इस देश के
शिक्षित तरुण से हुआ क्यों इस मर्म को
करना उजागर है वाणी बल से मुझे।
राज बल नश्वर रहा है सदा जग में
उठते रहे हैं राज्य गिरते रहे हैं वे
इतिहास जग का दिखाता यही आया है।
कालजयी कवि जन की वाणी इस जग में
अमर रही है सदा। बापू बध कवि को
कारण दिखा जो सका दृष्टि तभी कवि की
धन्य होगी कालजयी कवि को बनायेगी।
कालजयी होगा यह काव्य, श्रम वाणी का
सार्थक बनेगा तभी।

अनासक्त कर्ण सा
कवि कर्म भी जो अनासक्त रहे कवि को
राग और द्वेष से बचाये सृष्टि धर्म में
वैसे ही रमाये रमा जैसे सृष्टि कर्ता है
अपनी विराट इस मायामयी सृष्टि में।
देवता का काव्य यह सृष्टि है कही गई
ओर छोर जिसका नहीं है श्रुति वाणी में
जरा और मृत्यु इन दोनों से परे है जो
जरा और मृत्यु से परे है जिस भूमि के
कवियों का कवि कर्म मैं भी उसी भूमि का
पुत्र हूँ। विदेश की विडम्बना मिटानी है

जिसमें विचार मिथ्या देते कवि जन हैं
अब इस देश के भी छोड़ तत्व बोध को।
सृष्टि धर्म वर्णन की शक्ति जिनमें नहीं
भ्रम में विचारों की भँवर वे बनाते हैं।
देह बुद्धि से है उन्हें जीना इस जग में
जानते नहीं वे जीव बुद्धि इस सृष्टि का
कारण सनातन रही है। आदि कवि की
वाणी से बहा जो श्लोक पहला उसी से है
सिद्ध यह तत्व। शाप व्याध को दिया जो था
धन्य आदि कवि ने प्रसूत जीव धर्म से
बापू आत्म बुद्धि से बने थे निज देह की
पूर्व कर्म भोगने का कारागार मान के
जीवन चलाते रहे। पर जिस जन की वाणी अभी
गूँजती रही है व्योम वाणी में
भारती प्रजा ने सुना बापू बध जिसमें
आत्म बुद्धि हीन यह घोर भोगवादी है
भारत का भाग्य बोलो भारती! भविष्य में
हाय! अब होगा क्या बताओ देवि कवि में
शक्ति नहीं, दृष्टि नहीं देखे जो भविष्य में
होनी इस देश की जो मौन अब भी रही
जैसी मौन अब तक रही हो वर्ष कितने बीत गये
बापू गये तुम भी विमुख पुत्र से हुई
जीवन की संध्या अब आई कवि कर्म जो
मेरा नहीं पूरा हुआ तब तो अभागा मैं
निन्दित, कलंकित रहूँगा सदा लोक में।
सृष्टि की हे जननी! सहारा पुत्र का बनो
हाँ! हाँ!! कहो माता इस लेखनी से सृष्टि जो

अब तक चली है सब वाणी ही तुम्हारी है।
और अब वाणी मैं तुम्हारी सुनने लगा-
"बापू बध माता हुआ हीन कवि कर्म से।
आया जो विदेशी कवियों से इस देश में
भारती प्रजा का संस्कार मिटा जिससे
हत्या, आत्महत्या, छल, दम्भ से भरा था जो
आत्मबुद्धि भारती प्रजा की मरी जिससे
बापू बध का जो निमित्त बना हाय रे!
द्वेषी मन उसका मिटा था जिस मन से
अग्नि शस्त्र उसने चलाया उसी साँचे में
वह तो ढला था जो विदेशी कवि कर्म था।
धर्म नीति लुप्त अब होगी इस देश में
भारती प्रजा का भाग्य फूटा अब जान लो।
पूर्व जन जिसके सदा ही राजभृत्य थे
आततायी यवन नरेशों के उसी की है
वाणी यह गूँजती रही जो व्योम वाणी में।"

●

परिशिष्ट

कालजयी

हजारी प्रसाद द्विवेदी

पं० लक्ष्मीनारायण मिश्र को सारा हिन्दी संसार सफल नाटककार के रूप में जानता है। पर यह कम लोग जानते हैं कि जीवन में विष पीकर इस महाप्राण मनुष्य ने अमृत उड़ेला है। साहित्यिक प्रतिभा के उदय होने की सुकुमार बेला में ही मिश्र जी पर विपत्तियों के पहाड़ टूट पड़े। बहुत कच्ची उमर में ही पिता गये, पत्नी गई, प्यारा-प्यारा भाई हत्या का शिकार हुआ-एक पर एक नौ मृत्युओं के विकट शोक में उगता हुआ प्रतिभांकुर झुलसता रहा। भरे- पुरे परिवार वाला घर सूना हो गया। एक ही साथ। छोटे- छोटे दुधमुँहे बच्चों से लेकर पारिवारिक सम्पत्ति की रक्षा तक का बोझ भी लद गया। इतनी विपत्तियों की मार कच्ची उमर में खाकर भी जो पागल नहीं हुआ, नैराश्य भरी बात नहीं बोला, लोगों से कातर याचना नहीं की, सिर उठाकर खड़ा रहा, विपत्तियों को झेलता रहा, मेरुदण्ड को झुकने नहीं दिया। उसे महाप्राण के सिवा और क्या कहा जा सकता है। किशोर कवि के चेहरे पर शिकन नहीं आई, हृदय में भरा रस-कलश सूख नहीं गया, अन्तस्तल की कर्म-वेदना जम नहीं गई, आदर्शों का कल्पनालोक यथार्थ की प्रखर आँच में झुलस नहीं गया, यह आश्चर्य की ही बात है। साहित्य साधना में भारी व्यवधान पड़ा, व्यक्तित्व में कुछ बाँकपन भी आया, मन में कुछ तिक्तता भी आई पर लेखनी भारी व्यवधान के बाद फिर उठी, पूरी शक्ति के साथ। कवि में नया उत्साह आया, नई भावधारा उमड़ पड़ी। मिश्र जी का साहित्यिक जीवन उनकी किशोरावस्था से ही प्रारम्भ हो गया। उनकी पहली प्रकाशित काव्य रचना 'अन्तर्जगत्' है। इसमें तत्कालीन छायावादी कवियों की भाँति अबूझ मधुर पीड़ा और अज्ञात अनन्त की ओर जाने की लालसा का स्वर है। सौन्दर्य की ओर खिंचाव है पर उसमें तीव्र अनुभूति नहीं है। वेदना को खुलकर कहने में एक प्रकार की झिझक है। हृदय की अपरिचित व्याकुलता पर झीना अवगुंठन है। परन्तु एक होनहार कवि की व्याकुल अभिव्यक्ति की छटपटाहट उसमें अवश्य मिलती है, बीज में जैसे अंकुरित होने के पूर्व फट पड़ने की व्याकुलता जाग उठती है। अस्पष्ट, अज्ञात, अनबूझ उन दिनों के सभी होनहार कवियों में यह व्याकुलता दिखाई देती है। पर आगे चलकर 'अंतर्जगत्' की हिन्दी संसार में उतनी चर्चा नहीं हो पाई पर उसने उन दिनों की उगती प्रतिभा वाले कवियों पर कुछ न कुछ प्रभाव अवश्य छोड़ा था। सुप्रसिद्ध कवि स्व० दिनकर ने अपने 'चक्रवाल' की भूमिका में लिखा है कि छायावादी कवियों में से एक समय श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र और श्री जनार्दन झा द्विज की कविताओं को मैंने पढ़ा था। खेद है कि छायावाद के विवेचन में अब लोग इन कविताओं का नाम भी नहीं लेते। किंतु जब छायावादी आन्दोलन अपने जोर पर था तब इन दो कवियों की वानगी दिये बिना छायावाद के समर्थन की प्रक्रिया पूरी नहीं समझी जाती थी और इसमें कोई सन्देह नहीं कि छायावाद की धूमिल मादकता के जैसे प्रमाण इन कवियों की रचनाओं में उतरे थे वैसे अन्यत्र दुर्लभ हैं। जो हो मिश्र जी का ध्यान काव्य से हटकर नाटकों की ओर चला गया। इन नाटकों में व्यक्ति और सामाजिक परिवेश के संघर्ष का बहुत आकर्षक रूप निखरा था। मुझे याद है कि इन नाटकों से प्रभावित होकर ही कलकत्ते में मैं पं० लक्ष्मीनारायण मिश्र से मिला था। उन दिनों वे बहुत म्लान थे। उनके छोटे और एकमात्र भाई की अत्यन्त सुकुमार वय में ही निर्मम हत्या कर दी गई थी। अत्यंत शोक और संविग्न अवस्था में भी बौद्धिक दृष्टि से वे पूरे जागरूक थे। इन नाटकों में भी उनका प्रखर बौद्धिक रूप ही पाठकों को आकृष्ट कर सका था। उन्हीं

दिनों ये नाटक विश्वविद्यालयों की उच्च कक्षाओं में पढ़ाये जाने लगे थे। कलकत्ते में उनसे मिलने पर मैं उनके तेजस्वी व्यक्तित्व से प्रभावित हुआ था। मैं शायद १९३५ या १९३६ में मिश्र जी से कलकत्ते में मिला था। उस समय तक उनके कई नाटक प्रकाशित हो चुके थे-- ''राक्षस का मन्दिर'', ''मुक्ति का रहस्य'', ''राजयोग'', ''सिंदूर की होली'' आदि नाटक प्रसिद्ध हो चुके थे। इन नाटकों में भी उनका प्रखर बौद्धिक रूप ही पाठकों को आकृष्ट कर सका था।

उन दिनों उनकी बौद्धिक दृष्टि के बारे में कुछ आक्षेप भी सुनने में आये थे। मिश्र जी पारिवारिक उलझनों और शोक-संवेगों से पीड़ित होते हुए भी अपने ऊपर किये गये आक्षेपों का डटकर मुकाबला कर रहे थे। उनके महाप्राण व्यक्तित्व का यह भी एक निदर्शन ही था। वे झुके नहीं, रुके नहीं, यद्यपि प्रहार बहुत बड़े-बड़े महारथियों ने किये थे। मिश्र जी ने जमकर अपनी बौद्धिकता का समर्थन भी किया था और बौद्धिकता के अभाव में बड़े लोगों की रचनाओं की त्रुटियाँ भी दिखाई थीं। यहाँ मैं बौद्धिकता के पक्ष या विपक्ष में कुछ कहना नहीं चाहता और न यही दिखाना चाहता हूँ कि किस पक्ष की बातें कितनी सही थीं। उद्देश्य यहाँ सिर्फ यही दिखाना है कि लक्ष्मीनारायण मिश्र आरम्भ से अपने विचारों में दृढ़ और अकुतोभय साहित्यकार थे। बड़े-बड़े नाम उन्हें भयभीत नहीं कर सके थे। मन और शरीर से म्लान रहने पर भी उनके भीतर का सर्जक पूर्णरूप से जागरूक था। जो बात उन्होंने ठीक समझी उसे कहने में कभी हिचके नहीं। यह और बात है कि उनके सभी विश्वास ठीक नहीं भी हो सकते। मैंने कहीं पढ़ा है कि एक बार उन्होंने खुलेआम कह दिया था कि अगर डेढ़ सौ वर्षों तक इस देश में शेक्सपीयर नहीं पढ़ाया गया होता तो गाँधी जी की निर्मम हत्या न की जाती। इस प्रकार का कारण संबंध अविचारित ही कहा जायेगा। मगर इस प्रकार की बातें कहने का उनका साहस उनके निजी विचारों की तर्क -संगत परिणति अवश्य है। वे उन पर अडिग हैं।

इसमें संदेह नहीं कि मिश्र जी ने बहुत अधिक अध्ययन किया है, इस देश के साहित्य का भी और अंग्रेजी भाषा के माध्यम से उपलब्ध विदेशी साहित्य का भी। बाहरी परिस्थितियों की निरन्तर चोट ने उन्हें बहुत अधिक आत्मकेन्द्रित बना दिया है और इस प्रकार की एक वृत्ति उनके भीतर विकसित हुई है कि मैं ऐसा मानता हूँ, तुम मानते हो या नहीं इसकी मुझे परवाह नहीं है। इस वृत्ति में अक्खड़ता और परुषता भी है और अपने चिन्तन-मनन पर दृढ़ आस्था भी।

मिश्र जी भारतीय संस्कृति के प्रेमी हैं। उन्होंने साहित्य में भारतीय भावबोध या भारतीय सांस्कृतिक चेतना जैसी कुछ धारणाओं का सन्धान पाया है और उन पर उनकी पूरी आस्था है। वे साहित्य को उन्नीसवीं शती के कुछ अंग्रेज आलोचकों की तरह जीवन की आलोचना या 'क्रिटिसिज्म आफ लाइफ' नहीं मानते। अपने एक व्याख्यान में उन्होंने कहा था कि साहित्य जीवन की आलोचना नहीं जीवन का अनुभव है। जीवन का यह अनुभव उनके मत से 'कहीं काम-परक है और कहीं मोक्ष परक है।' यही भारतीय साहित्य का राजपथ है। संस्कृत में सभी साहित्यकार इसी राजपथ पर चले हैं। अंग्रेजी शिक्षा के पूर्व सभी कवि इसी राजपथ पर चले थे। यह मार्ग विदेशी साहित्य के उन्माद में हम छोड़ चुके हैं। मिश्र जी का आग्रह उसी राजपथ पर लौट जाने का है। पर लौटना क्या इतना आसान है। मिश्र जी का यह मत सबके गले नहीं उतर पाता। भारतीय साहित्य का राजपथ निस्सन्देह बहुत आकर्षक है, पर आधुनिक साहित्य का उन्माद भी कम आकर्षक नहीं लगता। भारतीय इतिहास में भी जब-जब अन्य जातियों से संपर्क हुआ है, राजपथ कुछ न कुछ मुड़ा अवश्य है। पर यह सही है कि जीवन का जो अनुभव कभी कामपरक और

कभी मोक्ष परक रूप में उभरता है वह सारे संसार के साहित्य में पाया जाता है। ऐसा लगता है कि आरंभिक साहित्य-जीवन में उन पर जो विदेशी साहित्य से प्रभावित होने का आरोप लगाया गया था उसकी तीव्र प्रतिक्रिया उनके संवेदनशील मन पर पड़ी और उसी का प्रतिफलन उनके काव्य में इस प्रकार हुआ है। अन्तर से वे सदा रसवादी हैं, भारतीय भावबोधवादी उसी का एक पक्ष है। इसका प्रमाण हैं उनका अधूरा किन्तु शक्तिशाली काव्य 'कालजयी''।

कर्ण की शौर्य गाथा

'कालजयी' आधुनिक कवियों के लिये प्रेरणा देने में सर्वाधिक सशक्त महाभारतीय चरित्र कर्ण की शौर्य गाथा है। इस चरित्र ने पुराने कवियों का ध्यान इतना अकृष्ट नहीं किया जितना नये कवियों का। कर्ण के जन्म से लेकर मृत्यु तक की घटनायें आधुनिक मानवीय दृष्टि को उत्तेजित करती हैं। सामाजिक रूढ़ियों की बलिवेदी पर कितने ही होनहार शिशुओं को चढ़ा देने से उत्पन्न क्षोभ ही कर्ण के चरित्र को आधुनिक मानवतावादी दृष्टि को प्ररोचित करता है। भारतीय साहित्य में आदिकाल से लेकर रीतिकाल तक जो प्रख्यात वंश नायक की 'टाइप' रचना की थी, उस प्रथा का यह चरित्र प्रतिवाद है। मिश्र जी ने इस चरित्र को जो इतने उदात्त रूप से चित्रित किया है वही उनके मानवीय भावबोध को उजागर करता है। एक तरफ वे आधुनिक युग के मानवता-बोध को इस काव्य में बहुत उदात्त और मनोहर रूप दे सके हैं, वहीं भारतीय काव्यधारा के महतीय और श्रेयस्कर रूप को भी उजागर करने में सफल हुए हैं। इस बात को जरा और खोलकर कहने की आवश्यकता है।

पिछले दो हजार वर्षों का भारतीय साहित्य जहाँ कवि के व्यक्तित्व को उत्तरोत्तर खोता गया है, जनसाधारण के वास्तविक सुख-दुःखों से हटकर अपने ही द्वारा निर्मित बंधनों में बराबर बँधता गया है, कीर्ति प्राप्ति का केन्द्र अपने आप को न बनाकर किसी अन्य ऐश्वर्य को बनाता गया है, वैयक्तिकता की स्वाधीनता को छोड़कर टाइप रचना की पराधीनता को स्वीकार करता गया है, वहाँ निश्चयपूर्वक उसने कुछ ऐसी बातें संसार को दी हैं, जो अनुपम हैं। विशेषज्ञ पण्डितों ने समसामयिक ग्रीक, रोमन तथा अन्य समृद्ध समझे जाने वाले साहित्य के साथ तुलना करके देखा है।कालिदास तो कालिदास, माघ और भारवि के साथ भी जिनका नाम लिया जा सके - ऐसे कवि भी समसामयिक साहित्य में नहीं हैं। यदि हम पहली बातों को सामने रखकर इस बात पर विचार करते हैं, तो यह एक अद्‌भुत विरोधाभास सा जान पड़ता है, किन्तु है यह ठीक। कारण यह है कि विविध बन्धनों के भीतर रहकर संस्कृत के कवि ने एक अपूर्व संयम का अभ्यास किया है, अपने आप को मिटा कर वह सहज ही सर्वसाधारण का प्रतिनिधि हो सका है और वास्तविकता की कठोर विषमता के भीतर एक शाश्वत मंगल को प्राधान्य दे सका है। सच पूछा जाय तो जैसा कि रविन्द्रनाथ ने कहा है, उसकी दृष्टि में स्त्री-पुरुष का प्रेम तब तक स्थायी नहीं हो सकता अगर वह बन्ध्या हो, अगर वह अपने आप में ही संकीर्ण रहे, कल्याण को जन्म न दे सके और संसार में पुत्र-कन्या, अतिथि-प्रतिवेशी आदि के बीच विचित्र सौभाग्यरूप से व्याप्त न हो जाय। एक ओर संसार का निबिड़ बन्धन और दूसरी ओर आत्मा की बन्धनहीन व्यापकता। इन दोनों का सामंजस्य संस्कृत कविता को एक अपूर्व माधुर्य से मण्डित कर सका है। दूसरी महत्वपूर्ण बात है संस्कृत कवि की श्रद्धा और निष्ठा। शास्त्राभ्यास के साथ जहाँ प्रतिभा का मणिकांचन योग हुआ है, वहाँ संस्कृत का कवि अतुलनीय है।

'कालजयी' में मिश्र जी जहाँ आधुनिक मानवीय भावबोध से चालित होते हैं, वहीं संस्कृत कवियों के बहुत ही विरल भावबोध को दृढ़ता के साथ थामें हुए हैं। वे अपनी कल्पना को संबोधित करके नई रूप-सृष्टि, नई भावभूमि और नई घटना -योजना को काव्य में बिल्कुल नये ढंग से प्रस्तुत करते हैं। जहाँ कहीं मानवीय गरिमा के विरुद्ध शक्तिशाली चरित्र को पुरानी कथा ने विकृत होने दिया है वहीं वे तर्कपूर्ण सशक्त शैली में उसका प्रतिवाद करते हैं। अश्वत्थामा जैसे वीर ने द्रौपदी के पाँच पुत्रों का निद्रित अवस्था में वध किया था। यह बात उनकी संवेदना को अखर जाती है। वे यह विश्वास नहीं कर सकते कि अश्वत्थामा जैसा वीर ऐसा काम कर सकता है। 'महाभारत' में कहीं तो नहीं कहा गया है कि द्रौपदी के पुत्र हुये थे। एकाएक सौप्तिक गाथा का आ जाना क्या संदेह नहीं पैदा करता -

जन्म की कहानी उन पाण्डव के पुत्रों की
जानता नहीं है लोक, पैदा थे कहाँ हुए।
इन्द्रप्रस्थ नगरी में, वारणावत वन में
हिमगिरि उपत्यका में! अथवा विराट की
उस नगरी में जहाँ द्रौपदी थी सौरन्ध्री
पाँच पुरुषों से पाँच पुत्र एक नारी से!
क्यों कर करेगा कवि तर्क! अब तर्क से
लाभ क्या!

मिश्र जी ने कहा था कि भोगायतन के अनेक भोगों की तरह साहित्य भी भोगमाया है, जो आलोचना नहीं, जीवन का अनुभव है और जीवन का वही अनुभव कहीं अर्थपरक है, कहीं धर्मपरक है, कहीं कामपरक और कहीं मोक्षपरक है। यही भारतीय साहित्य का राजपथ है। संस्कृत के सभी साहित्यकार इसी राजपथ पर चल रहे हैं। अंग्रेजी शिक्षा के पूर्व आधुनिक भाषाओं के सभी कवि इसी राजपथ पर चल रहे थे। रीतिकाल के कवियों का भी यही मार्ग था। यह मार्ग हम विदेशी साहित्य के उन्माद में छोड़ चुके हैं। यह मिश्र जी का दृढ़ विश्वास है 'कालजयी' में जो भारतीय भावबोध है वह मिश्र जी की वर्णाश्रम व्यवस्था के प्रति दृढ़ निष्ठा से प्रभावित है। 'कालजयी' में उनकी यह निष्ठा पूर्णरूप से प्रभावी जान पड़ती है। नये विचार के लोगों को यह अटपटी जान पड़ सकती है पर काव्य के लिये इस पर बहुत अधिक बल देना बहुत आवश्यक नहीं है। आवश्यक यह देखना है कि उन्होंने अपने पात्रों को कितना जीवन्त बनाया है और कथानक को रसमय और मनोग्राह्य बनाने में कितने सफल हुये हैं। ऊपर कहा गया है कि मिश्र जी का भारतीय भावबोध वर्णाश्रय व्यवस्था के बंधनों को स्वीकार करता है। उसे स्वीकार करना उसके मानसिक गठन की कारणभूत क्रिया प्रतिक्रिया का परिणाम हो सकता है पर उस बन्धन को स्वीकार करके ही इस काव्य के अति प्रशान्त, उदात्त, मानवीय गुणों की वे बहुत ही सशक्त रूप में अभिव्यक्ति दे सके है--

घोर निशि में --
आये पूज्यवाद! तुम दास को निदेश दो।
एक व्रत, एक धर्म, निष्ठा एक दास को
जानते हो प्राण भी अदेय नहीं, मुझको
आशीर्वाद देना, कभी याचक विमुख हो

जा न सके, आये पास दास के जो स्वर्ग की
कामना नहीं है मुझे और अपवर्ग की
चाहता नहीं मैं राजकोष, आयुधन हूँ
विश्वविजयी मैं बनूँ इच्छा नहीं मन में
कामना है एक मेरी स्वप्न में भी भूल के
याचक न जाये कभी मुझसे विरत हो।

नाना बन्धनों को स्वीकार करके ही वे कर्ण, अर्जुन, हिडिम्बा, अश्वत्थामा, घटोत्कच आदि पात्रों में विशिष्टता ले आ सके और प्रत्येक में उदात्त गुणों को विकसित करने में समर्थ हुए हैं। उनकी अनुभाव योजना इन चरित्रों के विशिष्ट पक्ष और स्वकीयता को उजागर करने में सबसे अधिक कारगर और कौशलपूर्ण सिद्ध हुई है। ये अनुभव चरित्र के मानसिक भावों को बड़े प्रभावपूर्ण ढंग से उजागर करते हैं। 'कालजयी' में ऐसे अनुभव भरे पड़े हैं--

मत्त दन्ति आकुल हो जैसे दावानल में
विटप उपार, गिरिशृंग भग्न करके
देहसुधि भूले। घटोत्कच देह सुधि को
भूलकर वैसे ही उठा जो बन्ध वर्म के
तड़-तड़ टूटे, देह फूली मदधार ज्यों
कुन्जर कपोल से चली हो, चली वैसे ही
स्वेद धार वीर के कपोल, भालकण्ठ से,
वेगवती साँस हुई, अंग हिलने लगे,
फरके अधर, मुख, आँखों में लपट सी
फूट चली दग्ध सा विकल वीर बोला यों

* * *

काँपती हो जैसे विष उगल भुजंगिनी
आहत हो किंवा विधी सिंहनी हो शर से
लोटती धरा में, मर्म हाथ से दबाती सी
अंगों को समेट पड़ी भूतल में द्रौपदी
फैली अलकावली धरा में, शशि जिसमें
छिप गया किंवा शशि डूबा तम सिन्धु में।

मनुष्य हो या प्राकृति 'कालजयी' में उनके जीवन्त चित्र सचमुच मोह लेते हैं। प्रकृति के तो बहुत ही सजीव चित्र उभरे हैं -

कामिनी निशा के ये कपोल स्वेद विन्दु से
झलक रहे हैं। नत वदना निशीथिनी,
बंकिम भ्रूपात से निशिपति को देख के
सकुच रही है पल-पल में, विनोदिनी,
दिनेश अन्तरिक्ष में
आगे बढ़ पारकर क्षितिज प्रदेश को
घूमता सा जैसे चक्रगति में अरुण का
गोलपिण्ड लालिमा विहीन अब श्वेत हो

भास्कर परिधि में लसा जो पूत किरणें
नाचीं महाभाग वसुसेन के ललाट में

प्रकृति के ये मोहक बिंब मनुष्य के अन्तस्तल के साथ ताल मिलाकर चलते प्रतीत होते हैं। ये प्रकृति वर्णन के लिये बाहर से थोपे हुए नहीं है। उनके बिना मानव का अन्तर्जगत अधूरा ही नहीं निस्तेज भी हो जाता है। ऐसा बिल्कुल ही नहीं लगता कि वे केवल कवि चातुरी के प्रदर्शन मात्र हैं। नाना प्रकार के अलंकार उत्प्रेक्षा, रूपक, उपमा आदि अनायास कथा-प्रसंग को मनोग्राह्य और मनोरम बनाते हैं। 'कालजयी' बहुत उत्तम काव्य है। दुर्भाग्यवश यह पूरा नहीं हुआ है। मिश्र जी इस वृद्धवय में भी पूरा कर दें तो यह उनकी बहुमूल्य देन मानी जायेगी। मिश्र जी अब ७५ वर्ष पूरे कर रहे हैं। अब भी उनमें तेज और संकल्प शक्ति ज्यों की त्यों है। परमात्मा उन्हें इसे पूरा करने की प्रेरणा दें।

(आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का यह लेख 'आजकल' के जनवरी, १९८४ के अंक में प्रकाशित हुआ था। वहीं से साभार संकलित है।)

कालजयी

श्रीनारायण चतुर्वेदी

पं० लक्ष्मीनारायण मिश्र हिन्दी के इस युग के सर्वश्रेष्ठ नाटककार के रूप में प्रसिद्ध हैं, सामान्य पाठक नहीं जानते कि वे कवि भी हैं। मैं स्वयं उनकी काव्य सामर्थ्य से अपरिचित था। यद्यपि नाटक और काव्य तत्वतः एक ही वर्ग के हैं तथापि दोनों में उच्च सफलता प्राप्त करना अपवाद है। कालिदास, शेक्सपियर, गेटे ऐसे इने-गिने ही उदाहरण मिलते हैं, जिनमें दोनों विधाओं में समान रूप से प्रतिभा का उत्कर्ष हुआ है। साहित्य-रचना के क्षेत्र में हिंदी जगत मिश्र जी के कवि रूप से अपरिचित था या यों कहा जाये कि मिश्र जी के नाटककार रूप ने उनके कवि रूप को ढक लिया था। नाटक-रचना के क्षेत्र में उन्होंने जो युगांतर उपस्थित किया उसके महत्कर्म में वे स्वयं भी अपने कवि -कर्म की सामान्यतः उपेक्षा करते रहे। यह विशेष बात है कि मिश्र जी ने साहित्य रचना के क्षेत्र मे कवि रूप में ही प्रवेश किया था। उनकी प्रथम कृति 'अन्तर्जगत्' (सन् १९२६ ई०) नीतिकाव्य है, जिसकी रचना छायावादी पद्धति में युवा मन के चंचल भावों की अभिव्यक्ति लेकर की गयी थी। 'अन्तर्जगत्' के अनन्तर जयशंकर प्रसाद ने अपना 'आँसू' लिखा था।

आज 'अंतर्जगत्' का वह कवि-बीज विशाल वट-वृक्ष के रूप में पल्लवित, पुष्पित तथा फलान्वित हो गया है। मिश्र जी ने हिन्दी में एक ऐसे महान काव्य की रचना की है जो देश, जाति, संस्कृति, भारतीय साहित्य-परम्परा के मानदंड और हिन्दी-काव्य के आत्माभिमान को एक साथ मुखरित करता है। यह महाकाव्य महाभारत गाथा के अद्वितीय चरित कर्ण के जीवन को लेकर लिखा गया है, जिसका कथानक केवल ढाई दिन का है अर्थात महाभारत युद्ध में कर्ण जितने दिन, सेनापति रहा है, उतने समय के ही घटना चक्र को लेकर कवि ने भावों और विचारों का वह संसार खड़ा कर दिया है, जिसमें इस देश के पर्वत, नदी, गाँव, दिन, रात, संध्या, सबेरा का मार्मिक वर्णन ; धर्म अधर्म, राजधर्म कुलधर्म का चित्रण; आर्य-अनार्य, जीवन की मान्यताएँ आदि सब कुछ जीवन्त रेखा-चित्रों में हृदय को प्रत्यक्ष होने लगता है। इसमें सन्देह नहीं है कि इस महाकाव्य की रचना हिमालय और विन्ध्य के देश की मिट्टी से जुड़ी हुई है।

'कालजयी' काव्य की कथा का आरम्भ उस दिन की संध्या से होता है जिस दिन कौरव पक्ष के सेनापति आचार्य द्रोण पाण्डवों के छल से युद्धभूमि में धृष्टद्युम्न द्वारा मारे गये। कौरव पक्ष के प्रमुख महारथी अपने शिविर में उनके शव को घेर कर बैठे हैं तथा विगत के छल और भविष्य की योजना पर मंत्रणा कर रहे हैं। आचार्य द्रोण का छल से युद्ध में मार दिया जाना, भारत युद्ध की एक महान घटना थी और पाण्डवों के पक्षधर कृष्ण की महान् विजय थी। आचार्य द्रोण को उनके पुत्र अश्वत्थामा के मारे जाने की झूठी सूचना दी गयी थी, पुत्र की मृत्यु पर उन्होंने आश्चर्य का अनुभव किया, शोकाक्रांत होकर निश्चल बने समाधि में बैठ गये, उसी समय धृष्टद्युम्न ने दौड़कर उनका सिर तलवार से काट लिया। अश्वत्थामा मारा नहीं गया था। आचार्य द्रोण के बाद कर्ण को कौरव पक्ष का सेनापति होना था, यहीं से कर्ण के शील, शौर्य और रणनैपुण्य की कहानी चल पड़ती है। दूसरी ओर पाण्डव पक्ष में कर्ण से लड़ने की सामर्थ्य किसी वीर में नहीं थी। अर्जुन ही उसके समर्थ प्रतिद्वंद्वी हैं, पर कृष्ण उस समय कर्ण के पास अमोघ शक्ति होने के कारण उससे अर्जुन को लड़ने नहीं देना चाहते, कौरव तथा पाण्डव दोनों पक्षों में आचार्य द्रोण की मृत्यु पर अपनी-अपनी

समस्या की चिंता व्याप्त है। ऐसे महायुद्ध के समय जबकि एक पक्ष का सेनापति मार दिया गया हो, युद्ध के शिविरों में पूरी रात्रि किस प्रकार की मंत्रणा, चिन्ता तथा विषाद में व्यतीत होती है इसका स्वाभाविक चित्रण कवि ने किया है। कथानक का आरम्भ कवि ने संध्या की बेला से किया है। प्रत्येक एक पहर की घटना पर उसने एक सर्ग की रचना की है। कभी वह कौरव पक्ष, कभी पाण्डव पक्ष और कभी उभय पक्षों को अपनी कवि-दृष्टि का विषय बनाता है। उषाकाल से पहले तक की घटनाओं पर चार सर्ग तथा प्रभात बेला के घटनाचक्र पर एक सर्ग, इस तरह युद्ध आरम्भ होने के पूर्व तक काव्य के पाँच सर्गों की रचना हुई है। ये सर्ग हैं-मंत्रणा, चिन्ता, सृष्टि-धर्म, विषाद और अर्घ्यदान, फिर आगे युद्ध की कथावस्तु आती है। कवि ने इन सर्गों के कथानक में महाभारत गाथा की सभी प्रमुख घटनाओं को किसी न किसी के मुख से संवादों में अवतरित करा दिया है, जिससे काव्य का आरम्भ और स्वभाव-वृत्त कथानक के आलोक में पूर्णत: प्रकाशित होता चलता है। घटनाओं का यह अवतरण कथा ही पूर्वदीप्ति पद्धति पर और कहीं अग्रदीप्ति पद्धति पर है। कथा के संमंजन में कवि की यह सफलता उसकी नाटकीय प्रतिभा का फल है। उदाहरण के लिए चिन्ता सर्ग की कथा को लीजिए। पाण्डव शिविर में प्रात: काल सेनापति कर्ण से लड़ने कौन जायेगा। इसकी चिन्ता व्याप्त है, इसकी सबसे बड़ा चिन्ता द्रौपदी को हैं। दूसरी ओर यमुना नदी के तट पर हिंडिम्बा अपने पुत्र घटोत्कच के साथ चिन्तामग्न बैठी है यह भीम की राक्षसी पत्नी है। घटोत्कच भीम का पुत्र है। हिडिम्बा को युद्ध का समाचार मालूम है, उसे अपने पति और पाण्डव पक्ष की इस समस्या का भी ज्ञान है कि कर्ण से युद्ध करने के लिए कोई समर्थ नहीं हो रहा है। पर भीम या पाण्डव पक्ष को हिडिम्बा तथा घटोत्कच का ज्ञान नहीं है, इसलिए इसकी प्रस्तुति कथारस में चंचल वेग और अकस्मात् सौन्दर्य की पुष्टि करता है। हिडिम्बा अपने पति के पक्ष की विजय चाहती हुई चिन्ता में डूब जाती है और स्वयं युद्ध करने के लिए जाना चाहती है कि पुत्र घटोत्कच माता को रोककर स्वयं युद्ध के लिए चल देता है। इस सर्ग के पूर्व भाग में कृष्ण, अर्जुन, भीम, युधिष्ठिर तथा द्रौपदी के संवादों में बीती हुई घटनाओं को पूर्वदीप्ति पद्धति पर चित्रित किया जाता है तथा सर्ग के उत्तर भाग में घटोत्कच का युद्ध के लिए प्रस्थान अग्रदीप्ति है। कर्ण का सामना करने के लिए पाण्डव पक्ष को ऐसे वीर की आवश्यकता थी। कवि ने हृदयस्पर्शी वस्तुदर्शन से हिडिम्बा के प्रेम, घटोत्कच के जन्म तथा उसे युद्ध-भूमि में भेजने का जो वर्णन किया है वह सब राक्षस जीवन और संस्कृति का अनोखा पक्ष है जो पहली बार हिन्दी काव्य में आया है। इसी प्रकार सृष्टि-धर्म सर्ग में भीष्म, कुन्ती तथा कर्ण के प्रसंग लेआकर 'महाभारत' की घटनाओं का जो नाटकीय अवतरण काव्य में कवि ने किया है उसके माध्यम से मानव जीवन में काम की प्रबलता की जबर्दस्त किन्तु मौन अभिव्यक्ति हुई है- इतना मौन और इतनी सशक्त अभिव्यक्ति दूसरे काव्य में है, कहा नहीं जा सकता। कवि की वाणी से बिना कहे ही जो मौन व्याख्यान इस सर्ग में मुख्य कथा के अंतराल में फूटता है, वह यह है कि महाभारत का युद्ध काम का लीला-नृत्य है।

जिस महाकाव्य की रचना में अपने राष्ट्र और जाति को समग्र रूप से समाहित कर अभिव्यक्त करने का क्षमता होती है, वे ही महाकाव्य देश और काल को अतीत कर अपनी अमरता प्रतिष्ठित करते हैं। संस्कृत में 'रामायण', 'महाभारत', कालिदास का 'रघुवंश', हिन्दी में 'रामचरित मानस', कालजयी काव्य हैं। ऐसे काव्य रचे जाने की विशेष परिस्थितियाँ होती हैं। प्रत्येक युग में ऐसी रचनाओं का सृजन संभव नहीं होता न इनके रचनाकार कवि भी प्रत्येक युग में होते हैं तो भी इनकी परम्परा पर चलने वाले कवि होते ही हैं। संस्कृत के आचार्यों ने महाकाव्य की परिभाषा में उसके कथा-विन्यास और वर्ण्य विषयों के वैचित्र्य का शास्त्रीय विवेचना किया है। इनमें कुछ

बातें महत्वपूर्ण हैं, पर उनमें दो-तीन बातें निश्चित रूप से हमें महाकाव्य को प्रतिष्ठित करने वाली जीवनी शक्ति प्रतीत होती हैं। कुछ बातें भामह की हैं, कुछ दंडी की हैं। ये दोनों ही आचार्य संस्कृत काव्य विधा के पुराने चिंतकों में हैं। भामह कहते हैं-महाकाव्य में महान् के महान् चरित का निबंधन होता है, वह लोक स्वभाव से युक्त होता है (काव्यालंकर १/२०, २१)। दंडी का लक्ष्य है कि सर्ग रचना महाकाव्य है, इसमें महान् के महान् चरित का गान होता है, रस (कथारस) और भाव की उपस्थिति उसमें कहीं न्यून नहीं होती, निरंतर उसकी अभिव्यक्ति होती चलती है, अपने विषय में वह लोकरंजक होता है तथा अलंकार की उत्कृष्ट योजना से युक्त होकर महाकाव्य युगों के लिए अमर हो जाता है-काव्यं कल्पांतरस्थायि जायते सदलङ्कृति। (काव्यादर्श १५, १८, १९)। महानता के संबंध में कोई व्याख्या आचार्यों ने नहीं दी है, अपनी-अपनी दृष्टि से.उसकी व्याख्या विद्वान कर सकते हैं। प्रसिद्ध महाकाव्यों में ऐसे महान चरित निबद्ध हुए हैं जिन्होंने आपदाओं से जूझकर सत्य की स्थापना की है। लोक स्वभाव से युक्त होने का अर्थ है-जिस धरती की कथा लेकर महाकाव्य की रचना हो रही है वहाँ की जीवन-विधि तथा नदी, पर्वत, दिन, रात, ऋतु और गाँवों का वस्तु-दर्शन काव्य की कथावस्तु में होना चाहिए। अलंकृत उक्तियों से युक्त महाकाव्य ही अपनी रचना में अमरता प्राप्त करता है अर्थात् महाकाव्य को सदलङ्कृति होना चाहिए। सदलङ्कृति कहने का अर्थ क्या है ? इसे स्पष्ट किया जाना चाहिए, क्योंकि कश्मीरी आचार्यों ने काव्य-रचना में अलंकार को तीसरा स्थान दिया है। किन्तु दंडी के सदलङ्कृति कहने का अर्थ कुछ और है। अलंकारों की योजना से ही काव्य की वर्णनीय वस्तु में सौन्दर्य का आलोक प्रकट होता है अर्थात् अलंकृत उक्ति ही कवि के वस्तु-दर्शन को चमत्कृत करती है।

ऊपर कहे गये महाकाव्य के कतिपय लक्षणों के प्रकाश में हमारे कवि के प्रस्तुत महाकाव्य की आधारभूत रचना सामाग्री तथा रचना में प्रकट हुए सौन्दर्य और शक्ति का कुछ अंदाज लेना काव्य-पाठकों के लिए आनन्ददायक होगा। कर्ण इस महाकाव्य का नायक है। 'महाभारत' में भगवान् कृष्ण के बाद यह वह महान्-चरित है जिसने सर्वाधिक अभावों से संघर्ष किया है। कुलाभिमान के उस युग में वह आजीवन कुलहीन बना रहा, पाण्डवों का संघर्ष इसकी अपेक्षा कम है, वे कम से कम राजकुमार तो थे, पर कर्ण की मानता यह है कि भगवान् कृष्ण और पितामह भीष्म भी अकेले कर्ण में समाहित हो सकते हैं। कवि मिश्र जी ने समस्या-प्रधान नाटक की रचना विधि को अपनी इस काव्य-सृष्टि में विपुल विस्तार दिया है, जिज्ञासु या पाठक इसके प्रत्येक कोने में रम सकता है। भावों के वन की छाया में विश्राम कर सकता है, मुख्य कथारस की नदी के साथ लघु निर्झरणियाँ इसमें सर्वत्र प्रवाहित होती दीख पड़ती हैं, जिनमें जातीय जीवन का रस पिया जा सकता है। यद्यपि इस महाकाव्य की घटनाओं का काल डेढ़ दिन का है, कुरुक्षेत्र उसका घटनास्थल है तथापि कवि ने देश के अन्य भूखंडों का वर्णन ललित शैली और अर्थ-सम्पन्न भाषा में किया है। हिडिम्बा के प्रसंग से ब्रह्मपुत्र नदी के जंगल और यमुना तट के वर्णन इस महाकाव्य के वर्णन-सौन्दर्य के उत्कृष्ट नमूने हैं। ऐसे वर्णनों से यह महाकाव्य अपनी रचना में न केवल रस-भाव-निरंतर है, अलंकार निरंतर भी है। सम्पूर्ण महाकाव्य मनहरण के अतुकांत वर्णिक वृत्त में रचा गया है। कथा का आरंभ अत्यंत सजीव स्थान से होता है, यह पहले कहा जा चुका है, पर उसके विस्तार में भी उसका यह जीवन्त पथ कहीं न्यून नहीं होने पाया है। सर्वप्रथम कवि ने महिमामय व्यास देव की वंदना की है, जो इस कथा के मूल गायक हैं और जिनका 'महाभारत' कव्य-सृष्टि का समुद्र है, वंदना की पंक्तियों में प्रस्तुत काव्य की रचना गरिमा का पूर्व आभास मिलता है, कुछ पंक्तियाँ हैं, जिनमें कवि अपनी नम्रता और रचना का संकल्प दोनों प्रकट कर रहा है--

आज महिमा के सिंधु व्यास देव। दास मैं
मन्दगति, हीन नर, कामना में कवि की
आया हूँ तुम्हारे सृष्टि-सिंधु के किनारे, जो
दर्शन, पुराण, काव्य और इतिहास का
उद्‌गम है, जिसकी अनंत रत्नराशि से
उज्ज्वल है सारा विश्व.......
....
.......मायाविनी आशा इस जन को
ऐसे है हिलती कि ज्यों घोर वर्षाकाल में
सरिता हिलाती तृणजाल है सलिल में।
विश्व हँस देगा, देख दास के प्रयास को,
साहस को आज इस क्षुद्र जीवी नर के।
....
क्योंकि वीरपूजा - भाव दास का विभव है,
धर्म और निष्ठा, जो कि वाणी के विलास में
करना निवास चाहता है।

(पहला सर्ग)

कतिपय सर्गों के आरम्भ में कवि ने पुनः मंगलाचरण के रोचक प्रसंग रखे हैं। अन्यत्र सर्ग की कहानी आरम्भ होने के पहले कवि ने, निवेदित के विपरीत, अपना ऊँचा स्वाभिमान भी वर्तमान कवि-संसार के सम्मुख प्रकट किया है। विनम्रता के विशेष रूप से उसने छायावादी कवियों को लक्ष्य किया है-

जीवधर्म धारण करते भी अविवेकी जो
बनते विरत लोक -द्वन्द्व से जगत का
संघर्ष मेटने का ढोंग दिखलाते हैं।
भार वे धरा के, जीव - धर्म से विरत हो
बनते प्रगल्भ शब्द - योजना में भव के
भ्रम वे अभागे, सृष्टि धर्म मेट देते हैं
संस्कृति मिटाते वही, धर्म भी मिटाते हैं।

कथावस्तु के प्रसंग-विन्यास करने में इस महाकाव्य के कवि को अनोखी सफलता मिली है। तीसरे सर्ग का उदाहरण लीजिए। रात्रि का तीसरा पहर चल रहा है, कुरुक्षेत्र की समर-भूमि में पितामह भीष्म शरशय्या पर पड़े हैं, कुन्ती और तदनन्तर कर्ण दोनों अपने भिन्न-भिन्न उद्देश्य से मिलने पहुँच जाते हैं। कुन्ती का उद्देश्य था युद्ध को रोकना और कर्ण पितामह से क्षमा माँगकर युद्ध करने लिए आदेश लेने आया था, क्योंकि पितामह द्वारा अर्धरथी कहे जाने पर उनके सेनापतित्व में उसने युद्ध नहीं किया था। कर्ण जब पहुँचा तब पितामह से कुन्ती की बात हो ही रही थी, कुन्ती ने पहली बार पितामह से इस रहस्य को प्रकट किया कि कर्ण मेरा पुत्र है, और अब मैं चाहती हूँ कि युद्ध रोक दिया जाये, कर्ण या अर्जुन किसी का मारा जाना मेरे लिए मनस्ताप का कारण होगा--

होनी तो रुकेगी नहीं किन्तु, देव चाहें जो
आप यदि, कर्ण और अर्जुन का रण तो

रुक सकता है कल, जन्म एक माता से
दोनों ने लिया है।

(तीसरा सर्ग)

पितामह भीष्म ने कुन्ती को लम्बा उत्तर दिया है। उस उत्तर में भारत-युद्ध के प्रश्नों का उत्तर है, जाति और सृष्टि के धर्मों से वह उत्तर ओतप्रोत है। कुन्ती क्षमा माँगती हुई वापस लौटती है--

जा रही है दासी, हाथ जोड़ क्षमा माँगती
देव से, दिया जो कष्ट आज अविवेक में
सत्य ही है - कृष्ण और कृष्णा इस युद्ध के
कारण बने हैं। पुत्र मेरे पर वश हो
मंत्र में पड़े हैं जब कृष्ण और कृष्णा के
तब तो नियति अवलम्ब अब मेरी है।

(तीसरा सर्ग)

अपने ही सम्बन्ध में अब तक की सारी बातें सुनता हुआ कर्ण कुन्ती के सामने आ गया और कुन्ती को उत्तर देने लगा, यह प्रसंग-विन्यास प्रकरण-वक्रता के सौन्दर्य से चमत्कृत हो उठता है, कर्ण कहता है-

'किन्तु क्या
विभव और सुखभोग लिप्सा से
मुक्त तुम हो सकोगी भाग्यवश जननी'
वीर कुल केशरी अधीर कर्ण बोला यों
उतर पड़ा हो यथा मंगल के लोक से
मंगल शरीरधारी देव - अंश से बना,
फिर क्या नियति का सहारा तुम्हें मोह में
मोह के समुद्र में पड़ा जो विधि वश हो।

कर्ण आगे जो कहता है, उसका कथन हृदय को छू लेता है तथा उस कथन में काव्य-शिल्प की दृष्टि से पद और वाक्य वक्रता का स्वाभाविक सौन्दर्य आविर्भूत होता है-

कहती हो जन्म तुमने था दिया मुझको
पुण्यमयी, पद में तुम्हारे हूँ प्रणत मैं
जननीमय मुझको मिला जो यह लोक है
केवल प्रसाद से तुम्हारे भगवति हे।
किन्तु अब रोको निज वाणी, यह पुत्र जो
सामने खड़ा है एक मात्र सुत राधा का
जानो इसे। राधा - सुत लोक कहता है जो
कुल बल विहीन, पुरुषार्थ का सहारा है
मेरे लिए उसमें भी, किन्तु पुत्र कुन्ती का
बनकर गिरूँगा पुरुषार्थ से भी जननी।
कुल तो मिलेगा नहीं, जानती हो तुम भी।

(तीसरा सर्ग)

इस पूरे सर्ग का अन्त प्रकरण - वक्रता में हुआ है । वह यह है कि जिन पात्रों के वार्तालाप और उत्तर-प्रत्युत्तर यहाँ हुए हैं-वे सभी पितामह भीष्म, कुन्ती तथा कर्ण की काम-समस्या से सम्बद्ध हैं ।अत: कवि के शब्दों तथा अर्थों की अभिव्यक्ति दोनों में विशेष सौन्दर्य उत्पन्न हो जाता है ।

इस काव्य में हिडिम्बा का चित्रण विशिष्ट प्रसंग है । अपने देश की अतीत राक्षसी-संस्कृति तथा जीवन-विधि का जीता जागता चित्रण इस काव्य में प्रस्तुत हो गया है। सम्पूर्ण सर्ग मनोहारी और हृदय के भावों को छूने वाला है। उसके एक प्रसंग को यहाँ उद्धृत कर देना उचित है, जिससे राक्षसी नारी के पतिपरायण हृदय का सही परिचय मिल जाता है । हिडिम्बा को कौरव-पाण्डव युद्ध का समाचार मिल चुका है । वह अपने पति भीमसेन तथा उनके भाइयों की रक्षा के लिए चिंतित है । स्वयं युद्ध में जाना चाहती है । भीम ने जब हिडिम्बा से विवाह किया था तो केवल तीन दिन तीन रात ही उसके साथ रहे, तब से अब तक बीस वर्ष बीत चुके हैं। हिडिम्बा अपने वीर पति के अनुराग में रोती रहती है । उसका पुत्र घटोत्कच बड़ा हो चुका है । वह माता को दु:खी देखकर रोष में पूछता है--

माता! हाथ पीट के कपाल मैं
फोड़ता अभी हूँ और देखो अभी मर के
जाता यमलोक हूँ कि रोको तुम जिसमें।
अन्यथा बताओ नाम धाम उस पापी का।...

पुत्र घटोत्कच की बातें सुनकर हिडिम्बा की क्या प्रतिक्रिया हुई, इसे कवि के शब्दों में सुनिए-

बोली-'अरे नीच! जानती जो निज गर्भ से
जन्म दे रही हूँ पितृ- निंदक अभागे को
तब तो बहाती उस पावस की धार में
रात को ही हाय! नार पुरइन साथ ही।
मेरे लिए किन्तु वह मृत्यु की सी यामिनी
काली भयदायिनी हुई थी स्वर्ग बेला सी
पाया जब तुमको, अँधेरी गुफाज्योति से
जगमग हुई थी, सुना मोद - गान स्वर्ग का
मैंने, रोम रोम मेरे जागे पुत्र प्रेम में।
और वही पुत्र तुम आज पुत्र - धर्म का
करते हो पालन, जो निन्दा से जनक की
जानते नहीं हो जननी की मनोभावना।'

(दूसरा सर्ग)

अर्थात् नारी को पति तथा पुत्र के मोह में जब किसी एक को वरण करना हो वह पति को ही वरण करेगी। 'महाभारत' में भी ऐसा प्रसंग आता है। अश्वमेध यज्ञ में दिग्विजय के लिए निकले अर्जुन अपने पुत्र बभ्रुवाहन से पराजित हो जाते हैं। अर्जुन ने वनवास काल में प्राग्जोतिष में वहाँ की राजकुमारी चित्रांगदा से विवाह किया था, बभ्रुवाहन उसका पुत्र था। युद्ध में पिता-पुत्र दोनों एक दूसरे के अस्त्र से आघात खाकर युद्धभूमि में गतचेत मूर्छित गिर पड़े। चित्रांगदा विलाप करने लगी। समाचार सुनकर नागकन्या उलपी आयी। उलपी ने चित्रांगदा से कहा- मैं एक को अपने

तो जीवनी मंत्र से जीवित कर सकती हूँ, पति और पुत्र में जिस एक को चाहो उसे जीवित कर दूँ। इस पर चित्रांगदा ने उलपी से निवेदन किया-

नाहं शोचामि तनयं हतं पन्नग नन्दिनी।
पति मेव तु शोचामि यस्या तिथ्यमिदं कृतम्।।
कामं स्वपितु बोलोड यं भूमौ मृत्युवशं गतः
लोहिताक्षो गुडाकेशो विजयः साधु जीवति।।
(महा० आश्व० ८०७, १३)

'(नागनन्दिनी) मृत-पुत्र के लिए मैं शोक नहीं करती हूँ, मैं पति की चिन्ता कर रही हूँ। जिसका यह (मृत्युरूप) स्वागत इसने किया। पृथ्वी पर मृत्यु की गोद में पड़ा यह बालक अच्छी तरह सोता रहे, किन्तु रक्त नयन वाले गुडाकेश विजय (अर्जुन) भलीभाँति जीवित हो उठे।'

तब उलूपी ने चित्रांगदा से कहा कि मैं तुम्हारे मन की बात जानना चाहती। थी मेरी यह शक्ति है कि मैं दोनों को जीवित कर सकती हूँ और उसने अर्जुन तथा बभ्रुवाहन दोनों को जीवित कर दिया। इस महाकाव्य में से 'महाभारत' के अनुसार ही नाग और राक्षस नारियों की जीवन-मान्यता चित्रित हुई हैं। कवि ने उनके मनोविज्ञान को समझा है, युग या आधुनिकता के प्रवाह में उसकी कवि-दृष्टि ओझल नहीं हुई है।

महाकाव्य का अनोखा वैशिष्ट्य कथारस का अविच्छिन्न, अनवरत प्रवाह है जो कथांतर तथा नूतन संदर्भों के नये स्वादुनिर्झरों से संगत करता रहता है। प्रत्येक सर्ग में ऐसे दो-तीन संगम तो मुख्य कथारस की धारा में आ ही जाते हैं जिससे पाठक नये स्वाद से हृदय को नया करता आगे बढ़ता है। उदाहरण के लिए विषाद सर्ग का आरम्भ सुशासन की पत्नी वासन्ती के दुःस्वप्न से होता है-

नाथ। आज इस युद्ध में
जाना तुमको है नहीं दासी यही चाहती।
कामना यही है चरणों में इसी हेतु से
आई यह किंकरी है और अश्रुजल से
धोती हुई प्रियतम के अम्बुज - चरण है।

यह प्रसंग दुर्योधन की पत्नी भानुमती की सान्त्वना से जब समाप्त होता है, तब कवि पाण्डव शिविर के विषाद का दृश्य ले आता है-

शीश झुका पांडव अग्रज शिविर में
बैठे हैं विषाद और शंका-मग्न, पास ही
बैठा है किरीटी यथा हर्ष-शोक दोनों से
होकर वियुक्त,
(चौथा सर्ग)

और उनके आगे विषाद में ग्रस्त द्रौपदी स्वयं कर्ण से युद्ध करने के लिए जाने की घोषणा करती है-

बीती यह सारी रात चिन्ता तर्क में
चाहती हूँ उत्तर में बोलें धर्मराज या
भीमसेन बोलें, लगी जिसकी समाधि सी

जिनके बल से मैं सदा गर्वित बनी रही
बोलें वही पार्थ, मुझे जाना है समर में।
(चौथा सर्ग)

जब तक यह प्रसंग चल रहा था कि शिविर का द्वारपाल आर्तनाद कर उठा। सभी की भौहें तन गयीं, विषाद का नया वातावरण खड़ा हो गया। भीमसेन ने गदा उठायी, अर्जुन ने गांडीव सँभाला कि तब तक कथारस में एक नये तेज प्रवाह के निर्झर ने संगम किया-

त्यों ही वीर तनय हिडिम्बा का
मरकत शिखर सा उठा के द्वारपट को
और द्वारपाल को गिरा के भूमितल में
जैसे गिरे शाखा छूट कुंजर के करने से
हाथ जोड़ आगे बढ़ा।
. . . . .बोला मृदुस्वर में
शीश से लगा के कर दोनों हाथ जोड़ के
मेघ से चली हो ध्वनि जैसे वारि - वर्षा में।
'दैत्यबाला जननी हिडिम्बा का तनय मैं
नाम है घटोत्कच, जनक भीमसेन हैं
पांडु - पुत्र मेरे। कभी देखा नहीं जिनको' . . . .

कथारस के विविध स्वादों से पूरा काव्य ओतप्रोत है जिसके ही सामानान्तर वस्तु एवं उक्ति का सौन्दर्य प्रसूत होता चला गया है।

महाकाव्य को अलंकृत उक्तियों से समन्वित होना चाहिए। दंडी ने महाकाव्य को सदलंकृति कहा है। अलंकारों का स्वाभाविक प्रयोग ही काव्य में वस्तु और भाव के सौन्दर्य को जन्म देता है, सौन्दर्य काव्य की जीवन-शक्ति का प्रमाण है। काव्य में अलंकारों के सत्प्रयोग में काव्य की भाषा-शक्ति, कल्पना-विस्तार और अर्थवत्ता की समृद्धि कोंपता चलता है। दंडी ने अलंकृत उक्तियों को ही ध्यान में रखकर प्रवरसेन के प्राकृत महाकाव्य 'सेतुबंध' को सूक्ति रत्नों का सागर कहा है। कालिदास, तुलसीदास जैसे कवियों के काव्य तो सूक्ति रत्नों के सागर है ही। प्रस्तुत महाकाव्य भी सूक्ति रत्नों का समुद्र न हो तो भी वह सूक्ति रत्नों से भरा है, इसमें संदेह नहीं है। यहाँ हम इसकी रचना के इस पक्ष का कुछ परिचय देंगे। उपमा-मूलक अलंकारों का उत्कृष्ट प्रयोग मिश्र जी ने किया है। इस महाकाव्य में स्वभावोक्ति, उपमा, रूपक व्यतिरेक, उत्प्रेक्षा, दीपक, प्रतिवस्तूपमा, निदर्शना, पर्यायोक्ति, विषम आदि अलंकारों के प्रयोग में कवि को जो सहज सफलता मिली है उससे कथारस और संवादों के अर्थ की अभिव्यक्ति द्विगुणित हो गयी है तथा काव्य सौन्दर्य बढ़ गया है। कहीं-कहीं अलंकृत उक्तियों तथा भावों के संगम ने कथा-रस के निर्झर को अत्यन्त मधुर तथा चमत्कृत कर दिया है। यहाँ अलंकृत उक्तियों के ऐसे कुछ उदाहरण दिये जा रहे हैं।

स्वभावोक्ति-

वर्षा की रात्रि का यह वर्णन स्वभावोक्ति की उक्ति में प्रत्यक्ष हो रहा है-

काली रजनी थी, घोर पावस के मेघ थे
दौड़ रहे नभ में, विलुप्त यह सृष्टि थी

काजल का जैसे वितान तना घेर के
विश्व को, न हेरे दृष्टि देखती थी कुछ भी,
बरस रहे थे मेघ धँसती थी धरती
भीषण प्रतिध्वनि से गूँजते थे गिरि के
गह्वर तुमुल ध्वनि होती थी मेघ की।
(दूसरा सर्ग)

उपमा

भारतजयी हो कालपृष्ठ - धारी लोक में,
फैले कीर्ति कर्ण की ज्यों पावस - गगन में
फैलता है मेघ, धरती डोले जय नाद से।
(दूसरा सर्ग)

भीमसेन की इस उक्ति में पावस में आकाश को घेर लेने वाले मेघों को फैलती हुई कीर्ति का उपमान कहा है जो यश के उपमान की नयी कल्पना है। उपमा के अनेक प्रयोग इस काव्य में हैं। कहीं-कहीं लगातार उपमा की कई उक्तियाँ आती हैं। एक उदाहरण देखिए- सुशासन की पत्नी ने रात्रि में दु:स्वप्न देखा है। सोये हुए पति से उस दुंस्वप्न को सुनाने जा रही है। कवि ने इस वस्तु और भाव के चित्रण में संदेह, उत्प्रेक्षा अलंकार समन्वित लगातार १२ से अधिक उपमाओं का प्रयोग किया है-

अंग - अंग जैसे पद्मराग करि - दन्त से
विधि ने बनाये, भाग्य भूरि सुशासन की
आयी यहाँ। शिविर समीप द्वारपट का
मणिमय तोरण हिला जो, यथा कमला
रत्नाकर रत्नकिरणों में लीन मुख की
छवि दिखलाये क्षीरनिधि से निकल के।
किंवा देवसरि में खिला हो देवलोक का
पुंडरीक, लाभ और लोभ नर - योनि क्या
देवयोनि का भी बने, ऊषा देह धारिणी
आयी यथा प्राणाधार रवि के जगाने को। . . . .
(चौथा सर्ग)

रूपक

अश्वत्थमा युद्ध - भूमि से चेतावनी देते हुए कहता है-

रोष का लपट फेंक बोला
दारुण गुफा में कहाँ आता बालमृग है

उत्प्रेक्षा

कहकर झुका जो वीर कुन्ती के चरण में
लगी जननी अधीरा, मर्मभेद के
आँसू चले, फूटी ध्वनि वेदना की जिससे !
रोने लगे देख जिसे तारे व्योमतल के

होकर द्रवित मंद जिससे समीर भी
बहने लगा जो;

(तीसरा सर्ग)

रात्रि में भीष्म की शर-शय्या के पास कुन्ती से अपनी बातें कह कर कर्ण ने प्रणाम किया, उस करुण प्रसंग से मानो तारे रोने लगे और पवन द्रवित होकर मंद गति में हो गया।

निदर्शना

(१) जा रहे हो जाओ गुरुपुत्र! जानता हूँ मैं
संकट में कौन किसका है इस लोक में?
छोड़ते हैं पक्षी वृक्षराज जब वन में
जल उठता घोर ज्वाला में दवाग्नि की।

(पहला सर्ग)

(२) 'स्वप्न देखते हो गुरुपुत्र! हिमकर से
चूती कभी अग्नि या कि दिनमणि से कभी
होता है अँधेरा?' अंगराज कहने लगा।
'प्राणभय होगा कुरुराज को? जलधि क्या
सूखेगा निदाघ में?'

(पहला सर्ग)

प्रकारांतर के कथन को पर्यायोक्त कहते हैं। घटोत्कच अश्वत्थामा से पूछता है कि वसुसेन (कर्ण) कहाँ हैं, अश्वत्थामा सीधा उत्तर न देकर कहता है-

जो तुम्हारे रक्त से धरती की प्यास बुझायेगा वह कर्ण होगा।

घटोत्कच भी इसका उत्तर पर्यायोक्त अलंकार की उक्ति से देता है-

अधर दबा के तले दाँतों से बली ने जो
चरण प्रहार किया भू पर, समर की
डोली भूमि, बोला - 'तब सामने मिलेगा जो
मेरे लिए होगा वसुसेन वही, उसको
मार के धरा को तुष्ट करता रहूँगा मैं।'

अर्थात् जो सामने आयेगा वसुसेन (कर्ण) के नाम पर वही मारा जाएगा।

कर्ण ने सेनापति होने के लिए कुरुराज को स्वीकृति तो दी है, पर वह अभिषेक करने को मना कर रहा है, क्योंकि वह कुल से हीन है। इस पर कृपाचार्य जो निवेदन करते हैं, उसमें अर्थान्तरन्यास अलंकार काव्य के अर्थ को सौन्दर्य से स्पन्दित कर रहा है-

चरणों में शीश हैं देवपति के।
ब्रह्म ऋषि कहकर उठाया था वशिष्ठ ने
कौशिक को आप ही उठो हे! क्षत्रि कुल के
गौरव करीट!

(पाँचवाँ सर्ग)

कृपाचार्य ने देव-ऋषि नारद और कौशिक विश्वामित्र का उदाहरण देकर अपने कथन का समर्थन किया है, इसी उक्ति से आगे कृपाचार्य ने कर्ण के सम्बन्ध में जो परिचयात्मक जिज्ञासा प्रकट की है, उसमें उल्लेख अलंकार प्रस्तुत वर्णनीय अर्थ को अत्यन्त चमत्कृत कर देता है-

उल्लेख

..................क्षत्रि कुल के
गौरव किरीट जानता है देव तुमको
कौन जाने क्षत्रिय हो, किंवा विप्र अंश से
जन्म है तुम्हारा या कि शाप ग्रस्त स्वर्ग से
भूपर पतित वंदनीय तुम देव हो,
वसु हो, प्रजापति हो, किंवा लोकपाल हो,
लोक के रहस्य लोक सत्यधर तुम हो।
(पाँचवाँ सर्ग)

विकल्प

द्रौपदी पुत्र - प्रेम - वश घोटत्कच को युद्ध में जाने से रोकती हुई कहती है-

अर्जुन लड़ेंगे या लड़ेगी फिर द्रौपदी
कुटनीति कृष्ण की न आज चल पावेगी
दायें हो कि बायें दैव एक भाव से ही मैं
ग्रहण करूँगी उसे आज इस जग को
देखना मुझे है हीन पार्थ या कि कर्ण से।

बिना अन्तर के अलंकृत उक्तियों से काव्य-अर्थ किस प्रकार सौन्दर्य मंडित हुआ है इसका एक उदाहरण लीजिए-यह वर्णन युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ का है जिसमें कृष्ण ने चतुराई से शिशुपाल का सिर काट दिया था, सुयोधन कृष्ण की दुर्नीति का वर्णन करते हुए उसका प्रतिवाद करता है-

...........तत्क्षण ही व्योम में
फूटी अग्नि आभा, झँपी पलकें, खुली ज्यों वे
देखा भूमि लुंठित था शीश शिशुपाल का।
काँप उठी सारी सभा विस्मय से भय से
नीचे झुका शीश धर्मधारी धर्मराज का।
बात बिगड़ी थी, जो न होते पितामह तो
निश्चय था होती क्रान्ति और रक्तधारा से
बुझती हविष्य अग्नि।
(पहला सर्ग)

यहाँ पहली तीन पंक्तियों में किया-स्वभावोक्ति, 'नीचे झुका....धर्मराज का' तथा 'रक्ताधारा से बुझती हविष्य अग्नि' में अर्थातर संक्रमित वाच्यध्वनि 'शिष्टाचार वारि' में रूपक तथा 'बचायी....शिखंडी से' में विषम अलंकार प्रस्तुत कथ्य के अर्थ-बोध को तीव्र कर देते हैं।

इस महाकाव्य में ध्वनि-सिद्धांत तथा वक्रोक्ति सिद्धान्त की कसौटी पर भी नूतन काव्य के सौन्दर्य का दर्शन होता है। इस काव्य को कहीं से या किसी दृष्टि से देखा जाये, इसके सौन्दर्य में न्यूतता नहीं आयेगी।

अर्थान्तर संक्रमित वाच्यध्वनि

कैसे मैं कहूँगी किस संकट से तुमको
छाती से लगा से असहाय गिरि वन में
घूमती रही मैं, दिन, मास, वर्ष बीते वे
वत्स! किस भाँति क्या हूँ मैं, जानते हैं वे
जो कि जानते हैं इस विश्व की विडम्बना।
(दूसरा सर्ग)

हिडिम्बा अपने पुत्र घटोत्कच से उसके पालन की कथा का वर्णन कर रही है क्योंकि वह पति से दूर थी। उसे पति का साथ केवल सात दिन का मिला। उक्त कथन में असहाय्य , विडम्बना, पति से दूर होने के कष्टों तथा समाज की कुदृष्टियों की अभिव्यक्ति हो रही है।

अलंकार से वस्तुध्वनि

रणधीर तुम धर्म यज्ञ मुझसे सुने
गुरुमंत्र मानो इसे जब तक रण का
अवसर तुम्हें हो या राज्य मोह में कभी
भूल के न आना रणार्थ में शरीर को

भीमसेन के प्रति कहे गये क्षेमधूति के उक्त कथन में रण-रूपी तीर्थ रूपक से गंगा यमुना-संगम का बोध तथा युद्ध भूमि में वीरगति पाने वाले वीर को बिना तत्वज्ञान के ही जन्म-बंधन से छूटकर मुक्ति पा जाने के प्रयास का ज्ञान हो रहा है। यह अलंकार से वस्तुध्वनि का सौन्दर्य है।

संवृत वक्रता

प्रकरण वक्रता का उदाहरण पहले दिया जा चुका है। वक्रता के अन्तर्गत संवृत वक्रता का उदाहरण देखिए-

हीनजन्मा नारी जहाँ, जीवन का मूल हो
पूत पयोधर से जिलाये पर शिशु को,
स्नेहमयी धरती का भार जिस मन में,
कैसे फिर शंका वहाँ नारी में कुलीन जो।
(तीसरा सर्ग)

कर्ण कुन्ती से कह रहा है कि नारी में मातृभाव होता ही है, आप मेरी माता अवश्य होंगी, जब हीन -जन्मा नारी राधा ने मुझे पवित्र दूध पिलाकर बड़ा किया और मेरे जीवन की भूमि बनी, स्नेह से भरी धरती का भार उसके मन में रहा फिर वहाँ (अर्थात आप में मातृत्व भाव के प्रति) सन्देह कैसे हो सकता है, जो कि (आप) कुलीन हैं। यहाँ पर 'कैसे', 'जो', 'वहाँ' सर्वनाम पदों में संवृत पद वक्रता है। इन पदों से कुन्ती की कुलीनता के प्रति व्यंग्य है।

काव्य में नीति- धर्म और व्यवहार सम्बन्धी अनेक सूक्तियाँ आयी हैं जो प्रसंग तथा वर्णनीय अर्थ को अपने अर्थ से और भी उज्ज्वल बना देती हैं। कुछ सूक्तियों के उदाहरण यहाँ दिये जाते हैं-

मृत्यु, जीवन का मोह

माया माधुरी में या कि ज्ञान के प्रकाश में
किसको हुई है कहाँ कामना मरण की?
(दूसरा सर्ग)

निश्चय है मृत्यु, रण होता रण के लिए
नीति और धर्म जन्म पाते रण - भूमि में।

काव्य की अमरता

होगा भला लाभ ही क्या ऐसे काव्य-बंध से
लोक-चक्षुओं में जो प्रकाश हो फिरा नहीं।
(दूसरा सर्ग)

लोकधर्म

गुण और दोष के समन्वय में नर की
सृष्टि चलती है रही।
(चौथा सर्ग)

वीर

(१)
शास्त्रबल - काम नहीं आता मनोबल से
हीन हो, अकेला मन जीत या कि हार का
कारण हैं होता।
(पाँचवाँ सर्ग)

(२)
गुरुपुत्र। करते नहीं है अवमानना
वीर कभी वीर प्रतिद्वन्द्वी का इसी से मैं
अर्जुन की निंदा सुनता हूँ नहीं, तुम भी
जानते इसे हो फिर कैसी यह बात है।
(पाँचवाँ सर्ग)

(३)
आशा तो सदा ही उसे रहती मनोज्ञ है
होगा शिशु वीर, गुणी और इस लोक की
गुणिजन - गणना में जिसकी सुकीर्ति से
धन्य होगी जननी की यातना प्रसव की,
धन्य होगी कोख वह।
(पहला सर्ग)

(४)
धरती ना दूँगा प्रण दे दूँ भले किन्तु मैं
लूँगा अपवाद नहीं शत्रु-शस्त्र-भीति का।
(पहला सर्ग)

(५)
वीरों की विभूति, रंगशाला वीर जन की
जननी वसुंधरा है, वीरपद भार से
मोदित हुई जो तात! और वीर जन के
रक्त से हुआ है अभिषेक सदा जिसका।
(दूसरा सर्ग)

पुत्र

पुत्र - प्रेम अबला के धर्म का
ध्वंस करता है सदा, निन्दा अपयश की
अग्नि भी तो चन्दन की पंक सी है लगती
पुत्र - प्राण कामना में।

(तीसरा सर्ग)

कीर्ति

मानव मृत्युंजय बना है कीर्ति धन में।

(तीसरा सर्ग)

कुलीनता

किन्तु व्यर्थ सोचना है कुल और जन्म के
वश में रहा है जहाँ पौरुष जगत का।

(पाँचवाँ सर्ग)

किन्तु अभी तुमने
जो कुछ कहा है पूज्यपाद से उसी में है
अग्निलिपि होनी की, सदैव इस जग से
कुल और वंश का विधान जय पावेगा।

(तीसरा सर्ग)

कर्म

सिद्ध तुमने है किया निश्चय ही नर का
पौरुष है पूज्य, जन्म - दोष मिट जाता है
कर्म की विभूति से।

(पाँचवाँ सर्ग)

सम्पूर्ण महाकाव्य ऐसे अनेक मंजुल तथा विभोर कर देने वाले प्रसंगों एवं अंतर्गत सन्दर्भो से भरा है जिसमें कथारस का उज्ज्वल प्रवाह तरंगित है। सहृदय और सुधी पाठक को काव्य के अर्थ, भाव प्रकाश, रस प्रतीति के साथ सहनी है, ऐसा होता है, जैसे फल का स्वाद और उसके रस का आनन्द रूपक एक साथ मिलता है। काव्य का नायक कर्ण है। सम्पूर्ण काव्य में उसके वीर रूप के अनेक मोहक भावचित्र हैं। सामान्यत: धर्मवीर, दानवीर, दयावीर, और युद्धवीर इन चार प्रकारों में वीररस का निरूपण आचार्यों ने किया है। कर्ण के वीर-चरित के भाव-चित्र इस काव्य में इनके अतिरिक्त अभिव्यक्त हुए हैं, जिनको इन चार प्रकारों में नहीं रखा जा सकता है, विशेष रूप से उसकी दृढ़ मैत्री निरभिमानता और त्याग के स्वाभाविक रूप से हृदय को भावविभोर कर देने वाले उच्च कोटि के चित्र इस काव्य में अनेक स्थलों पर हैं पाठक अवश्य ही उसको तन्मय होकर पढ़ेंगे। समूचा काव्य कर्ण की अनेक विदग्ध वीरता के आलोक से उद्भाषित है। वीर रस ही इस काव्य का मुख्य अंगी रस और भाव है। इसके अनंतर हिडिम्बा तथा वासन्ती के प्रसंग के शृंगार के भावचित्र अनोखे हैं। हिडिम्बा की नारी प्रकृति के मनोविज्ञान के जो भव्य चित्र कवि ने खींचे हैं, हिन्दी काव्य में वह अद्वितीय है। रौद्र, भयानक, करुण, वीभत्स, अद्भुत, हास्य तथा शान्त रसों की अभिव्यक्ति में भी इस काव्य की कवि वाणी सिद्ध है। शान्त रस की अभिव्यक्ति कर्ण के चरित्र के साथ अनुस्यूत है। उपर्युक्त स्थानों पर पौराणिक शब्द सांस्कृति भावचित्र, वस्तुचित्र, एवं

भारतीय जीवन विधि का काव्यत्मक बोध इस काव्य की विशिष्ट देन है। 'महाभारत' के अन्त में शान्त रस ही का प्राधान्य मालूम होता है। महर्षि का यह विशाल काव्य वीरों के शौर्य के प्रचंड मध्याह्न में आलोकित होकर अन्त में शम (शांत) भाव के समुद्र में संध्या से अनुरंजित होकर समाधि रूप हो जाता है। वैसे ही लक्ष्मी नारायण मिश्र का यह महाकाव्य उस तुलना में अपने अत्यन्त लघु रूप में वीर रस में देदीप्यमान होकर पाठकों के हृदय को बटोरते हुए शांत रस में ही कर्ण के शील और त्याग से व्यथित हृदय के ताप को शांत करता है। समूचा काव्य, काव्यवस्तु, विषय-वैचित्र्य और जीवन- धर्म की व्याख्या के महर्षि व्यास के विशाल 'महाभारत' का ही लघु सारांश प्रकट होता है।

हिन्दी में इस काव्य की रचना एक अत्यन्त महत्वपूर्ण घटना है। मैं हिन्दी काव्यों की तुलना करने का अधिकारी नहीं हूँ किन्तु मैं इतना तो अधिकार-पूर्वक कह ही सकता हूँ कि खड़ी बोली में ऐसे महान काव्य की रचना कर, जिसे हम हिन्दी के श्रेष्ठ प्रतिनिधि काव्य के रूप में साहित्य-संसार में रख कर हिन्दी के मस्तक को गर्व से उठा सकते हैं, मिश्र जी ने कीर्ति प्राप्त कर ली है।

मैं अपने को इस महान् और ऐतिहासिक महत्व के काव्य की भूमिका लिखने के योग्य नहीं समझता, यह कार्य किसी विद्वान और समर्थ काव्य- समीक्षक को करना चाहिए था किन्तु मिश्र जी मेरे परम प्रिय अनुज हैं। उनका हठ था कि मैं ही उसकी भूमिका लिखूँ और बिना मेरी भूमिका के वे पूरी पुस्तक (जिसके कई अंश स्वतंत्र रूप से प्रकाशित हो चुके हैं) प्रकाशित न करेंगे। मैंने कई वर्ष उनके अनुरोध को टाला, किन्तु जब देखा कि वे अपना हठ नहीं छोड़ेंगे तब विवश होकर मुझे भूमिका लिखना ही पड़ा। मिश्र जी मेरे इतने निकट और इतने आत्मीय हैं कि उनकी प्रशंसा करने में कुछ संकोच होता है, किन्तु यह काव्य जो अमर काव्यों में सम्मानित होगा मेरे ऐसे व्यक्ति की प्रशंसा की अपेक्षा नहीं करता - 'हाथ कंगन को आरसी क्या ?' मुझे विश्वास है कि यह परम श्रेष्ठ और शिव एवं अमर कृति हिन्दी पाठकों को असीम आनन्द और प्रेरणा देती रहेगी।

मिश्र जी का यह महाकाव्य संस्कृत-काव्य परम्परा और सिद्धांतों को उजागर करता है। वे स्वयं भी पाश्चात्य और आधुनिक काव्य मान्यताओं के आलोचक हैं। अतएव ठीक तरह से इसके काव्य कौशल और सौन्दर्य को समझने के लिए संस्कृत के काव्य-सिद्धान्तों का सहारा लेना परम आवश्यक था, किन्तु मैंने संस्कृत का अध्ययन नहीं किया, इसलिए मैं इसकी भूमिका लिखना स्वीकार नहीं कर रहा था। पर मिश्र जी के आग्रह ने सत्याग्रह का रूप ले लिया। अपने संस्कृत काव्य सिद्धांतों के अज्ञान की पूर्ति के लिए मुझे डॉ० जयशंकर त्रिपाठी का बहुत समय और साहाय्य लेना पड़ा। उनकी सहायता के बिना यह भूमिका नहीं लिखी जा सकती थी। उन्होंने उदारता पूर्वक मुझे समय दिया और प्रकारांतर से मुझे संस्कृत के काव्याचार्य के सिद्धान्तों का परिचय ही नहीं कराया, प्रत्युत उन्हें समझा कर मेरा ज्ञानवर्द्धन किया, अतएव मैं मुक्त कंठ से उनका आभार स्वीकार करता हूँ।

मिश्र जी मेरे मित्र हैं। उन्होंने इस काव्य के प्रायः सारे अंश कई बार स्वयं सुनाये हैं। निराला जी मेरे साथ कई वर्ष रहे और मुझे उनकी अनेक रचनायें कुछ तो कई बार उन्हीं के मुख से सुनने का सौभाग्य हुआ। काव्य- पाठ में वे और नवीन और उनके बाद दिनकर जी ने हिन्दी काव्य- पाठ को सर्वाधिक प्रभावित किया। मिश्र जी के काव्य-पाठ ने भी मेरे हृदय पर अमिट छाप छोड़ा और यदि मैंने काव्य को इतनी बार उनके मुख से न सुना होता तो शायद मैं उसकी आत्मा और सौन्दर्य को न समझ सकता। अनेक चोटी के आधुनिक कवि मेरे मित्र थे। प्रसाद जी ने प्रायः पूरी

'कामायनी' अपने श्रीमुख से सुना कर कृतार्थ किया था। निराला जी ने अपना 'तुलसीदास' मुझे समर्पित ही नहीं किया परन्तु कई बार उसे सुनाने की कृपा की थी। दिनकर जी ने 'कुरुक्षेत्र' के अनेक अंश सुना कर मुझे कृतार्थ किया था। हरिऔध जी और मैथिलीशरण जी ने भी अपनी रचनाएँ सुनायी थीं। काव्य - रचना में ही नहीं, काव्यपाठ में भी मिश्र जी हिन्दी-कवियों की प्रथम पंक्ति में रखे जाते हैं।

पूर्व जन्म के किन्हीं पुण्यों के कारण इस जीवन में मुझे अनधिकार और अपात्र होते हुए भी अनेक सुखद संयोग और सम्मान मिले। उन्हीं में एकदम अयोग्य होते हुए भी मिश्र जी का मुझे अपने इस 'कालजयी' काव्य की भूमिका लिखने के लिए इतना आग्रह करना था, मैं इसे अपने अन्य सौभाग्यों और सम्मानों की एक कड़ी समझता हूँ।

मेरा यह विश्वास है कि मिश्र जी के इस काव्य ने हिन्दी की श्रीवृद्धि की है और यह अपने नायक कर्ण की तरह ही भारतीय शौर्य, उदारता, दृढ़निष्ठा, उच्च दानशीलता की अमर कीर्ति दीर्घ काल तक काव्य-जगत् में मिश्र जी की स्मृति सुरक्षित रखेगा।

(पं० श्रीनारायण चतुर्वेदी ने पं० लक्ष्मीनारायण मिश्र के आग्रह से 'कालजयी' की भूमिका के रूप में यह समीक्षा लिखी थी। अभी तक यह लेख अप्रकाशित था)

डॉ. विश्वनाथ प्रसाद

जन्म-तिथि : प्रमाणपत्रों के अनुसार ११ मार्च, १९३९

शिक्षा : काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से एम. ए., पी-एच. डी.।

काव्य : रोशनी ही नदी की धारा है, आवाज, उपरान्त (खण्ड काव्य)।

निबन्ध-संग्रह : आम आदमी की लालटेन, चौरे का दीया।

समीक्षा ग्रन्थ : अष्टछाप के कवियों की सौन्दर्यानुभूति, सौन्दर्य तथा सौन्दर्यानुभूति।
धर्मयुग, साप्ताहिक हिन्दुस्तान, सारिका, अवकाश, उत्तर प्रदेश, आज, दैनिक हिन्दुस्तान आदि पत्र पत्रिकाओं में एक सौ से अधिक स्फुट समीक्षात्मक तथा ललित निबन्ध प्रकाशित।

सम्पादन : पूर्वांचला (पूर्वी जनपदों के साहित्य का सर्वेक्षण), गीतायन (गीत और नवगीत का संग्रह) वृन्दावनलाल वर्मा समग्र (सात खण्ड), लक्ष्मीनारायण मिश्र रचनावली (छः खण्ड)।

सम्प्रति : अध्यक्ष, स्नातकोत्तर हिन्दी विभाग, उदय प्रताप कालेज (स्वायत्तशासी संस्था) वाराणसी।
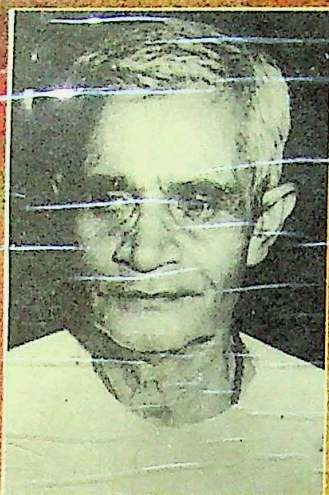
लक्ष्मीनारायण मिश्र रचनावली

भाग १ : अन्तर्जगत् (१९२४), कालजयी (९ सर्ग)।

भाग २ : संन्यासी (१९२९), राक्षस का मन्दिर (१९३२), मुक्ति का रहस्य (१९३२), राजयोग (१९३४), सिन्दूर की होली (१९३४), आधीरात (१९३४)।

भाग ३ : अशोक (१९२६), गरुड़ध्वज (१९४५), वत्सराज (१९४९), दशाश्वमेध (१९५०), वितस्ता की लहरें (१९५३), कवि भारतेन्दु (१९५५), मृत्युंजय (१९५७)।

भाग ४ : वैशाली में वसन्त (१९५३), जगद्गुरु (१९५८), धरती का हृदय (१९६१), वीरशंख (१९६९), गंगाद्वार (१९७३), सरयू की धार (१९७६), कालविजय (१९८०)।

भाग ५ : नारद की वीणा (१९४६), चक्रव्यूह (१९५४), चित्रकूट (१९६१), अपराजित (१९६५), कल्पतरु (१९६७), अश्वमेध (१९६९), प्रतिज्ञा का भोग (१९७५)।

भाग ६ : एकांकी तथा अन्य रचनायें।

संजय बुक सेन्टर, वाराणसी